सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

अयोध्याकाण्ड पूर्वार्द्ध—२

अनुवादक

साहित्य वाचस्पति

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा

डाक्टर आफ ओरियंटल कलचर (काशी)

—:•:—

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

सन् १९४९

द्वितीय संस्करण २० [illegible]

[मूल्य ६)

मुद्रक—बदलराम जायसवाल,
राम प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज,
इलाहाबाद ।

अयोध्याकाण्ड-पूर्वार्द्ध

की

विषय-सूची

प्रथम सर्ग १—१५

ननिहाल से भरत और शत्रुघ्न। श्रीरामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन। श्रीरामचन्द्र जी को युवराजपद पर अभिषिक्त करने की महाराज दशरथ की अभिलाषा। तदनुसार समस्त राजाओं को अयोध्या में बुलाना।

दूसरा सर्ग १५—२६

महाराज दशरथ का दरबार। मन्त्रियों के साथ महाराज दशरथ का परामर्श तथा महाराज के प्रस्ताव का मन्त्रियों द्वारा अनुमोदन एवं श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा।

तीसरा सर्ग २६—४०

कुलगुरु वसिष्ठ जी की अनुमति के अनुसार अभिषेक की तैयारियाँ करने के लिए महाराज दशरथ का अपने मन्त्रियों को आज्ञा। सुमन्त्र का श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ के महल में लिवा लाना और महाराज से मिलकर, श्रीरामचन्द्र जी का अपने भवन को लौट जाना।

चौथा सर्ग ४०—५१

महाराज दशरथ की आज्ञा से सुमन्त्र का जाकर पुनः श्रीरामचन्द्र जी को लिवा लाना। महाराज दशरथ का श्रीरामचन्द्र जी के प्रति दुःस्वप्न का वृत्तान्त कथन। वहाँ

से निवृत्त हो श्रीरामचन्द्र जी का अपनी माता कौसल्या के भवन में गमन। वहाँ सीता, सुमित्रा और लक्ष्मण का समागम और उनसे श्रीरामचन्द्र जी का अपने भावी यौवराज्य पद पर अभिषेक का वृत्तान्त कहना।

पाँचवाँ सर्ग ५१—५७

यौवराज्याभिषेक सम्बन्धी पौर्वाह्निक कर्मानुष्ठान तथा पुरवासियों का आनन्दोल्लास।

छठवाँ सर्ग ५८—६४

अयोध्या में देशदेशान्तरों से लोगों का आगमन।

सातवाँ सर्ग ६५—७३

श्रीरामचन्द्र जी के युवराज-पद पर अभिषिक्त होने का संवाद सुन कर, मन्थरा का दुःखी होना।

आठवाँ सर्ग ७४—८३

घुमाफिरा कर मन्थरा द्वारा कैकेयी का मन क्षुब्ध किया जाना।

नवाँ सर्ग ८४—१०१

मन्थरा द्वारा कैकेयी को महाराज के प्रतिज्ञात दो वरों का स्मरण दिलाया जाना। कैकेयी का दुःस्साहस।

दशवाँ सर्ग १०१—११२

दशरथ का अपने शयनागार में जा कर कैकेयी को न देखना। कोपभवन में कैकेयी को महाराज दशरथ का बहुत तरह समझाना।

ग्यारहवाँ सर्ग ११२—११६

काममोहित दशरथ से कैकेयी का दो वर माँगना।

बारहवाँ सर्ग — ११६—१५१

दशरथ का परिताप और कैकेयी से अनुनय विनय।

तेरहवाँ सर्ग — १५१—१५८

कैकेयी का दशरथ की प्रार्थना को अस्वीकार करना और महाराज दशरथ का दुःखी होना।

चौदहवाँ सर्ग — १५६—१७६

कैकेयी का वरावर दशरथ से अनुरोध करना। महाराज को सोते हुए जान, सुमन्त्र का उनको जगाना। कैकेयी के कहने से श्रीरामचन्द्र जी को बुलाने के लिए सुमन्त्र के प्रस्थान का उपक्रम।

पन्द्रहवाँ सर्ग — १७६—१८६

कैकेयी के आज्ञा देने पर भी सुमंत्र जी का महाराज दशरथ की आज्ञा की प्रतीक्षा करना और महाराज की आज्ञा पाने पर सुमंत्र का श्रीरामचन्द्र जी के भवन मे प्रवेश।

सोलहवाँ सर्ग — १८६—२०१

"पिता जी तुमको देखना चाहते हैं"—सुमन्त्र का श्रीरामचन्द्र जी से कहना और श्रीरामचन्द्र जी का अपने पिता जी के भवन की ओर प्रस्थान।

सत्रहवाँ सर्ग — २०१—२०७

मार्ग में लोगों के द्वारा अपनी प्रशसा सुनते हुए श्रीरामचन्द्र जी का पिता जी के भवन में प्रवेश।

अठारहवाँ सर्ग २०७—२१७

श्रीरामचन्द्र जी के प्रणाम करने पर महाराज दशरथ का शोकान्वित होना। तब महाराज के शोकान्वित होने के विषय में श्रीरामचन्द्र जी का कैकेयी से कारण पूँछना। उत्तर में कैकेयी का श्रीरामचन्द्र जी को अपना अभिप्राय बतलाना।

उन्नीसवाँ सर्ग २१७—२२७

श्रीरामचन्द्र जी का कैकेयी के दोनों वरों का वृत्तान्त सुन, अपनी माता कौसल्या के भवन में गमन।

बीसवाँ सर्ग २२७—२४१

रुदन करती हुई जननी को देख, श्रीराम जी का उनसे अपने वनगमन की बात कहना, जिसे सुन कौसल्या का दुःखी होना।

इक्कीसवाँ सर्ग २४१—२५६

लक्ष्मण द्वारा महाराज दशरथ की निन्दा किया जाना। लक्ष्मण तथा कौसल्या के बहुत रोकने पर भी, पिता के गौरव के अनुरोध से श्रीरामचन्द्र जी का उन दोनों का कहना न मानना।

बाईसवाँ सर्ग २६०—२६७

"भाग्य का लिखा अमिट है" कह कर, श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को धीरज बँधाना।

तेइसवाँ सर्ग २६७—२७८

उत्तर में लक्ष्मण जी का कहना कि, पुरुषार्थ के सामने भाग्य कोई वस्तु नहीं है और पुरुषार्थ द्वारा श्रीरामचन्द्र जी को वन जाने से रोकने का प्रयत्न करना।

चौबीसवाँ सर्ग २७८–२८७

'हे पुत्र! तू जहाँ जायगा वहाँ मै भी तेरे पीछे चलूँगी" यह कहती हुई माता कौसल्या का श्रीरामचन्द्र जी का पातिव्रत धर्म की उत्कृष्टता समझा कर कहना कि, स्त्रियो के लिए पतिपरित्याग से बढ़कर और कोई निष्ठुर कर्म नही है।

पच्चीसवाँ सर्ग २८७–२९९

कौसल्या द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का स्वस्तिवाचन किया जाना।

छब्बीसवाँ सर्ग २९९–३०८

श्रीरामचन्द्र और जानकी जी का परस्पर कथोपकथन और सीता जी को श्रीरामचन्द्र जी का हितोपदेश और वन मे रहने के समय जानकी जी का अयोध्या मे कर्त्तव्यानुष्ठान पालन करने का उपदेश।

सत्ताइसवाँ सर्ग ३०९–३१५

पति के साथ वन जाने के लिए सीता जी का श्रीरामचन्द्र जी से याचना।

अट्ठाइसवाँ सर्ग ३१५–३२१

वन के कष्टों का विशद रूप से वर्णन कर, श्रीरामचन्द्र जी का सीता को वन चलने से रोकना।

उनतीसवाँ सर्ग ३२२–३२७

श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन मे चलने के लिए चिन्तित एव उत्सुक सीता को श्रीरामचन्द्र जी का समझाना।

तीसवाँ सर्ग ३२८—३४०

सीता का श्रीरामचन्द्र जी की बातों का उत्तर देते हुए कहीं कहीं उन पर आक्षेप करना। सीता की शोच्य दशा देख, श्रीरामचन्द्र जी का अपने साथ चलने की सीता को अनुमति प्रदान करना, तब सीता का वनगमन की तैयारी करना और दानादि देना।

इकतीसवाँ सर्ग ३४०—३४८

भाई के साथ जाने के लिए लक्ष्मण की श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना, प्रथम श्रीरामचन्द्र जी का उस प्रार्थना को अस्वीकृत करना; किन्तु पीछे से लक्ष्मण की अपने में पूर्ण भक्ति देख उनको अनुमति देना। तब लक्ष्मण का आयुधादिको को साथ में लेना। श्रीरामचन्द्र जी का अपनी समस्त वस्तुओ को, लोगो को दे डालना।

बत्तीसवाँ सर्ग ३४९—३६०

दान देने के लिए श्रीरामचन्द्र जी के आज्ञानुसार लक्ष्मण का सुयज्ञ को जाकर लाना। दान पाकर सुयज्ञ का श्रीरामचन्द्र जी को आशीर्वाद देना। तदनन्तर किसी एक अति दरिद्र ब्राह्मण का दान माँगने के लिए श्रीरामचन्द्र जी के समीप आना और इच्छित दान पाना।

तेतीसवाँ सर्ग ३६०—३६९

दानादि कर्मो से निश्चित हो, सीता लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का प्रस्थान करने के पूर्व पिता जी के दर्शन करने को उनके भवन में गमन। श्रीरामादि को, छत्रचँवर रहित और पैदल गमन करते देख, पुरवासियो का हाहाकार करना।

चौंतीसवाँ सर्ग ३६९–३८५

सुमन्त्र का दशरथ जी को श्रीरामचन्द्र जी के आगमन की सूचना देना। श्रीरामचन्द्रजी को देखने के पूर्व दशरथ जी का अपनी सब रानियों को अपने पास बुलवा लेने की सुमन्त्र को आज्ञा देना, तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी को अपने पास बुलवाना। फिर श्रीरामचन्द्र जी को वनगमन के लिए उद्यत देख, रानियों सहित महाराज दशरथ का रुदन करना।

पैंतीसवाँ सर्ग ३८५–३९३

उस समय सुमन्त्र का कैकेयी से कटु वचन कहा।

छत्तीसवाँ सर्ग ३९३–४०२

श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन जाने के लिए चतुरङ्गिणी सेना तैयार करवाने की महाराज सुमन्त्र को आज्ञा। तब एक अङ्ग से हीन राज्य के लेने के लिए अनिच्छा प्रकट कर, कैकेयी का दशरथ को असमजोपाख्यान सुनाना।

सैंतीसवाँ सर्ग ४०२–४१२

श्रीरामचन्द्र जी का अपने साथ सेना ले जाना अस्वीकार करते हुए वनवासोपयोगी वल्कल, खन्ता आदि वस्तुओं के लिए प्रार्थना करना और कैकेयी का उन वस्तुओं को ला कर उनको देना। चीर वल्कल पहनने में अपटु जानकी को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उनका पहनाया जाना देख, अन्तःपुरवासिनी स्त्रियों का विलाप करना। तब कुलगुरु वसिष्ठ का कैकेयी को फटकारना और धिक्कारना।

अड़तीसवाँ सर्ग ४१२—४१७

अन्तःपुर-निवासिनी स्त्रियों के विलाप को सुन अत्यन्त दुःखी महाराज दशरथ का कैकेयी से प्रार्थना कर, स्वयं विलाप करना। तदनन्तर पुत्रशोक से कातर माता कौसल्या की रक्षा करने के लिए श्रीरामचन्द्र जी की महाराज दशरथ से प्रार्थना।

उनतालीसवाँ सर्ग ४१७—४२८

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, महाराज दशरथ का विलाप करना। महाराज की आज्ञा पाकर श्रीरामचन्द्र जी को ले जाने के लिए सुमन्त्र का रथ लाना। महाराज की आज्ञा से कोठारी का सीता जी को वस्त्र भूषण दे देना। कौसल्यादि सासों का उस समय, सीता जी को समयोचित धर्मोपदेश। सीता जी का, सासों के कथन का अनुमोदन करना। श्रीरामचन्द्र जी का माताओं से वनगमन की आज्ञा लेना।

चालीसवाँ सर्ग ४२८—४४१

सुमित्रा का लक्ष्मण जी को उपदेश विशेष। सुमन्त्र के लाए हुए रथ पर श्रीरामलक्ष्मण सीता का सवार हो कर वनगमन। रथ के पीछे पुरवासियों का दौड़ना। श्रीरामचन्द्र जी का रथ के पीछे आते हुए पिता तथा मन्त्रियों से लौट जाने की प्रार्थना।

इकतालीसवाँ सर्ग ४४२—४४७

श्रीरामचन्द्रादि के वनगमनानन्तर अयोध्या के मनुष्यों तथापशुपक्षियों की शोकावस्था का वर्णन।

बयालीसवाँ सर्ग ४४७—४५६

श्रीरामचन्द्र के पीछे जाते हुए शोकान्वित जमीन पर गिरते पड़ते हुए महाराज दशरथ का कैकेयी के प्रति तिरस्कारपूर्ण वचन कहना। वन में होने वाले कष्टों को स्मरण कर, कौसल्या का कैकेयी के साथ कथोपकथन। दुःखी महाराज दशरथ का कौसल्या के भवन में जाकर रहना।

तेतालीसवाँ सर्ग ४५६—४६२

पलंग पर लेटे हुए एवं शोकाकुल महाराज से कौसल्या जी का पूँछना कि, मैं अपने पुत्र को अब फिर कब देखूँगी और कौसल्या विलाप।

चौवालीसवाँ सर्ग ४६२—४७०

पुत्रशोक से विकल कौसल्या जी को सुमित्रा जी का धीरज बँधाना।

पैंतालीसवाँ सर्ग ४७१—४८०

श्रीरामचन्द्र जी का प्रजावर्ग को लौटाने के लिए प्रयत्न करना। पुरवासियों सहित श्रीरामचन्द्र जी का तमसा नदी के तट पर पहुँचना।

छियालीसवाँ सर्ग ४८०—४८८

तमसातटवर्ती वन में पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण जी के साथ वार्तालाप। सन्ध्योपासन करने के बाद सुमंत्र और लक्ष्मण जी का श्रीरामचन्द्र जी के लेटने के लिए पत्तों का बिछौना तैयार करना। अयोध्या को लौटाने के लिए, सोते हुए पुरवासियों को तमसातट पर छोड़कर, श्रीरामचन्द्र जी का आगे बढ़ना।

सैंतालीसवाँ सर्ग ४८९—४९३

श्रीरामचन्द्र जी को न देख, तमसा तीर पर पड़े हुए पुरवासियो का निद्रा की निन्दा करते हुए विविध प्रलाप। श्रीरामचन्द्र जी का पता न लगने पर पुरवासियों का अयोध्या को लौट जाना।

अड़तालीसवाँ सर्ग ४९४—५०२

अयोध्या पहुँचने पर पुरवासियो द्वारा कैकेयी की निन्दा किया जाना और श्रीरामचन्द्र जी के गुणों की प्रशसा में परस्पर सवाद।

उन्चासवाँ सर्ग ५०३—५०७

अपने राज्य की सीमा को पार कर, रास्ते में जनपद-वासियों के मुख से दशरथ और कैकेयी की निन्दा सुनते हुए श्रीरामचन्द्र जी का सरयूतट पर पहुँचना।

पचासवाँ सर्ग ५०८—५२१

दक्षिण की ओर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी का अयोध्या से विदा माँगना। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी का गङ्गातट-वर्ती शृङ्गवेरपुर में पहुँचना और वहाँ गुह से भेट होना और गुह द्वारा उनका सत्कार किया जाना।

इक्यावनवाँ सर्ग ५२२—५२८

सीता जी और श्रीरामचन्द्र जी के सोते समय, "मैं पहरा दूँगा"—यह कहते हुए गुह से लक्ष्मण जी का वार्तालाप।

बावनवाँ सर्ग ५२९—५५३

नाव में सवार होने के पूर्व अपने विरह में विकल, सुमन्त्र को विविध वाक्यों से धीरज बँधा, श्रीरामचन्द्र जी

का उनको अयोध्या को लौटाना। वनवासोचित जटा बाँधना। गुह की लाई हुई नाव पर बैठ, श्रीरामचन्द्रादि का गङ्गा के उस पार जाना।

त्रेपनवाँ सर्ग ५५४—५६२

वटवृत्त के नीचे बैठे हुए श्रीरामलक्ष्मण का संवाद। लक्ष्मण को वहाँ से लौटाने का प्रयत्न करते हुए श्रीरामचन्द्र जी के प्रति लक्ष्मण जी की उक्ति।

अयोध्याकाण्ड के पूर्वार्द्ध की विषय-सूची
समाप्त हुई।

———

॥ श्री ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों मे श्रीमद्रामायण का पारायण करने का नियम है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त मे क्रमशः दे दिए गए हैं ।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—❀—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥१॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥२॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥३॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥४॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥५॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥६॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥७॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥८॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥९॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१०॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थं वाक्य बद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥११॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥१२॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—.०—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥२॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥३॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥४॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥५॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥६॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥७॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥८॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥९॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥१०॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥११॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥१२॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥१३॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥१४॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥१५॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥१६॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१७॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥१८॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१९॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥२०॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥२१॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रै-
र्व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूपारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्दैवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥२४॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥२५॥

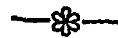
मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायित बभौ ॥२६॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥२७॥

वाल्मीकेर्गोः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥२८॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥२९॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥३०॥



स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥२॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भामा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना ।
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३।

कूजन्त राम रामेति मधुर मधुराक्षरम ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥४॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानाद को न याति परा गतिम् ॥५॥

य पिबन्सतत रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनि वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥६॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्न वन्देऽनिलात्मजम् ॥७॥

अञ्जनानन्दन वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयंकरम् ॥८॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलील
यः शोकवह्निं जनकात्मजाया. ।
आदाय तेनैव ददाह लंका
नमामि तं प्राञ्जलिरञ्जनेयाम् ॥९॥

आञ्जनेयमतिपाटलानन
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१०॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥११॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥१२॥

य. कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥१४॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥१५॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसंकुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥१६॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१७॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१६॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥२०॥

—※—



आसाद्य नगरी दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

अयोध्याकाण्डः

— o:—

गच्छता मातुलकुलं भरतेन महात्मना* ।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो[1] नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥१॥

महात्मा भरत जी ननिहाल जाते समय जितेन्द्रिय शत्रुघ्न जी को बड़े प्रेम से अपने साथ ले गए ॥१॥

स तत्र न्यवसद्भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः ।
मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः ॥२॥

भरत जी अपनी ननिहाल में शत्रुघ्न सहित बड़ी खातिरदारी के साथ रहते थे। उनके मामा अश्वपति, दोनों भाइयों पर पुत्र के समान स्नेह रखते और सब प्रकार से उनका मन रखते थे ॥२॥

तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः ।
भ्रातरौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम् ॥३॥

---

* पाठान्तरे—"तदाऽनघः" ।

१ नित्यशत्रुघ्न—नित्यशत्रवो ज्ञानेन्द्रियाणि, तान् हन्तीति शत्रुघ्नः । इन्द्रियनिग्रहवान् । (गो०)

सब प्रकार से सन्तुष्ट रखे जाने पर भी दोनो वीर भाइयो को (प्रायः) अपने वृद्ध पिता महाराज दशरथ की याद आया ही करती थी ॥३॥

राजाऽपि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ[१] सुतौ ।
उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ ॥४॥

महातेजस्वी महाराज दशरथ भी महेन्द्र और वरुण के समान, परदेशगत राजकुमारों को (अकसर) स्मरण किआ करते थे ॥४॥

सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभाः ।
स्वशरीराद्विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः ॥५॥

यद्यपि अपने शरीर से निकली हुई चार बॉहो की तरह चारो श्रेष्ठ राजकुमार महाराज दशरथ को प्यारे थे ॥५॥

तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः ।
स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ॥६॥

तथापि उन चारों में महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी पर महाराज दशरथ का अत्यन्त अनुराग था, क्योंकि वे ब्रह्मा के समान, सब प्राणियो से बढ़ कर अतिशय गुणवान् थे ॥६॥

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः ।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः ॥७॥

---

१ प्रोषितौ—देशान्तरगतौ । (गो०)

(श्रीरामचन्द्र जी के अतिशय गुणवान् होने का कारण यह था कि,) श्रीरामचन्द्र जी स्वयं सनातनपुरुष विष्णु भगवान् थे जो देवताओं के अनुरोध से, नैसर्गिक गर्व से सारे जगत् का विनाश करने वाले रावण का नाश करने को अवतीर्ण हुए थे ॥७॥

कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥८॥

ऐसे अपार तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी को प्राप्त कर कौसल्या जी वैसे ही सुशोभित हुई थीं, जैसे अदिति इन्द्र को पा कर ॥८॥

स हि *वीर्योपपन्नश्च रूपवाननसूयकः ।
भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः ॥९॥

श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त रूपवान् महावीर्यवान्, दुर्गुणों से रहित इस पृथिवीतल पर एक अद्वितीय राजपुत्र थे। अर्थात् उनकी जोड़ का दूसरा कोई न था। वे पिता के समान गुणशाली थे ॥९॥

स तु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं प्रभाषते ।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥१०॥

वे सदा प्रशान्त चित्त रहते, सदा सब से मधुर वचन बोलते थे, यदि उनसे कोई कठोर वचन बोलता तो भी वे उत्तर में कोई कड़वी बात नहीं कहते थे ॥१०॥

कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया[1] ॥११॥

---

१ आत्मवत्तया—वशीकृतमनस्कतयेत्यर्थः । (गो०)

* पाठान्तरे—"रूपोपपन्नश्च" ।

थोड़े भी उपकार को वे बहुत मानते थे, वे अपकार करने वाले के सैकड़ों अपकारो को भी मन में नहीं रखते थे अर्थात् भूल जाते थे। अर्थात् वे अपने मन पर इतना अधिकार रखते थे ॥११॥

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥१२॥

जब उनको अस्त्र शस्त्र के अभ्यास से अवकाश मिलता, तब वे उस अवकाश काल में सदाचारी, ज्ञानी और वयोवृद्ध सज्जन जनो के पास बैठ कर बातचीत करते थे। (अर्थात् उनको अच्छे लोगों का सग ही अच्छा लगता था; उन्हें कुसंग पसन्द न था) ॥१२॥

बुद्धिमान्मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन *गर्वितः ॥१३॥

वे स्वयं बड़े बुद्धिमान्, कोमल वचन बोलने वाले, पहिले बोलने वाले और प्रिय बोलने वाले थे। वे स्वयं वीर हो कर भी वीरता के गर्व में मत्त न थे ॥१३॥

न चानृतकथो विद्वान्वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्ञते ॥१४॥

वे कभी मिथ्या भाषण नहीं करते थे और विद्वानो एवं वृद्ध-जनों का सम्मान करने वाले थे। अपनी प्रजा के लोगो को जैसा वे चाहते थे, प्रजा भी उनको वैसा ही चाहती थी। अर्थात् श्रीराम-जी का अपनी प्रजा मे जैसा अनुराग था, वैसा ही प्रजा का भी उनमें अनुराग था ॥१४॥

---

* पाठान्तरे "विस्मितः"।

सानुक्रोशो[1] जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं[2] प्रग्रहवाञ्शुचिः ॥१५॥

वे दयालु, क्रोध को जीतने वाले और ब्राह्मणों का सम्मान करने वाले थे। वे दीनों पर विशेष कृपा किआ करते थे। वे सामान्य और विशेष धर्म को जानने वाले थे, वे सदा नियमानुसार चलने वाले और सदा पवित्र रहने वाले थे ॥१५॥

कुलोचितमतिः क्षात्रं धर्मं स्वं बहु मन्यते।
मन्यते परया कीर्त्या महत्स्वर्गफलं ततः ॥१६॥

वे अपने इक्ष्वाकुकुलानुरूप दया, दाक्षिण्य तथा शरणागतवत्सलता आदि कर्त्तव्यकर्मों के पालन में निपुण थे, दुष्टों का निग्रह कर और प्रजापालन कर, अपने क्षात्रधर्म को बहुत मानते थे। अपने वर्ण और अपने आश्रम के धर्म के पालन को कीर्तिप्राप्ति ही का साधन नहीं, प्रत्युत स्वर्गप्राप्ति का भी साधन मानते थे ॥१६॥

नाश्रेयसि रतो विद्वान्न विरुद्धकथारुचिः।
उत्तरोत्तर*युक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥१७॥

न तो थोथे कामों के करने में उनकी रुचि थी और न उनको फूहर बातें तथा धर्मविरुद्ध बातें कहना सुनना ही पसंद था। वादविवाद करते समय, अपने पक्ष के समर्थन में, उनको बृहस्पति की तरह युक्तियाँ सूझा करती थी। अर्थात् वे अपने पक्ष को भली भाँति युक्तियों से पुष्ट कर सकते थे ॥१७॥

---

१ सानुक्रोशः—सदयः। (गो०) २ प्रग्रहवान्—नियमवान्। (गो०)
३ आश्रेयसि—निष्फलेकर्मणि। (गो०)

* पाठान्तरे—"युक्तौ च"।

अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान्देशकालवित् ।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः[१] ॥१८॥

निरोग, तरुण, सुवक्ता, रूपवान, देशकाल के जानने वाले और आदमी को एक बार देखते ही उसके मन का भाव ताड़ जाने वाले, वे निःसन्देह एक महापुरुष थे ॥१८॥

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥१९॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी श्रेष्ठ गुणों से युक्त थे और उनके इन गुणो के लिए ही उनको प्रजा के लोग बाहिर रहने वाले अपने प्राण के समान, प्यार करते थे ॥१९॥

सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।
इष्वस्त्रे[२] च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥२०॥

वे साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ और यथाविधि व्रत कर के स्नातक हुए थे (अर्थात् गुरुगृह से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ और व्रताचरण कर उन्होंने समावर्तन किया था अर्थात् लौटे थे) इसीलिए वे तत्वतः अर्थात् ठीक ठीक साङ्गवेद के ज्ञाता थे। बाणविद्या में वे अपने पिता से भी चढ़ बढ़ कर थे ॥२०॥

कल्याणाभिजनः[३] साधुरदीनः सत्यवागृजुः ।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥२१॥

---

१ विनिर्मितः—निश्चितः । (गो०) २ इष्वः—अमन्त्रकाः शराः । (गो०) ३ कल्याणाभिजनः—कल्याणः शोभनः अभिजनो येन स तथा । तत्रहेतुः—साधुरिति । निर्दोष इत्यर्थः । (गो०)

वे सब का कल्याण करने वाले, सज्जन, अदीन, सत्यवादी और सीधे थे। वे धर्म नीति और अर्थ नीति के जानने वाले एव वृद्ध द्विजो द्वारा सुशिक्षित हुए थे ॥२१॥

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान् ।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥२२॥

वे धर्म, अर्थ, और काम के तत्व को जानने वाले, विलक्षण मृति और प्रतिभा वाले, लोकाचार और सामयिक धर्म में निपुण । अर्थात् लौकिक आचार विचार का विधान करने में, वे बड़े चतुर थे ॥२२॥

निभृतः[१] संवृताकारो[२] गुप्तमन्त्रः सहायवान् ।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥२३॥

उनका स्वभाव अति नम्र था। वे अपने मन की बात और गूढ़ विचारो को अपने मन में छिपा कर रखने की सामर्थ्य रखते थे। वे सहायवान् थे अर्थात् गूढ विचारो में उन्हें जासूसों से पूर्ण सहायता मिलती थी, अथवा उनके सहायक भी अनेक थे। उनका क्रोध और हर्ष निष्फल नहीं जाता था। वे त्याग और संग्रह के समय को जानने वाले थे। (अर्थात् वे जान लेते थे कि, कब हमे कोई चीज देनी चाहिए और कब लेनी चाहिए ॥२३॥

दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो[३] नासद्ग्राही न दुर्वचाः ।
निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥२४॥

---

१ निभृतः—विनीतः। (गो०) २ संवृताकार—हृदिस्थितकर्तव्यार्थ व्यञ्जकेङ्गिताकारगोपनचतुरः। (गो०) ३ स्थिरप्रज्ञो—विस्मृतिहीनः। (रा०)

देवता और गुरु में निश्चल भक्ति रखने वाले बात को कभी न भूलने वाले, बुरी वस्तु को न लेने वाले और दूसरे को उत्तेजित या उद्विग्न करने वाले वचन न बोलने वाले, निरालस्य, अप्रमादी, और अपने तथा दूसरों के दोषों के जानने वाले थे ॥२४॥

शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः ।
यः [1]प्रग्रहानुग्रह[2]योर्यथान्यायं विचक्षणः ॥२५॥

वे शास्त्रों के जानने वाले, उपकार के मानने वाले और पुरुषों के तारतम्य को समझने वाले थे अर्थात् भले बुरे लोगों को पहिचान लिआ करते थे। वे मित्र का निर्वाह करने एवं स्वीकार की हुई बात का पालन करने में समर्थ थे अर्थात् जो कह देते उसको करते भी थे ॥२५॥

सत्संग्रहग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च ।
आयकर्मण्युपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित् ॥२६॥

वे शिष्टों अथवा परिवार वर्ग के पालन में और दुष्टों के शासन में निपुण थे। वे यह भी जानते थे कि, कहाँ पर दुष्टों का शासन करना चाहिए। वे न्यायपूर्वक धनोपार्जन के उपायों को और धन का (सद्) व्यय करना जानते थे ॥२६॥

श्रैष्ठ्यं शास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च ।
अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः ॥२७॥

वे वेद वेदाङ्ग तथा संस्कृत एवं भाषा के काव्य, नाटक, अलङ्कार के मर्मज्ञ थे। वे अर्थ तथा धर्म का संग्रह कर सुखी होते

१ प्रग्रह—मित्रादिस्वीकारः। (गो०) २ अनुग्रहः—स्वीकृतपरिपालनं। (गो०)

। अर्थात् उनका सुखी होना अर्थ एवं धर्म के संग्रह के अधीन था। और अर्थ धर्म के संग्रह में वे कभी अलसाते न थे ॥२७॥

वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित्।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम् ॥२८॥

वे खेलों की सामग्री और बाजे तथा चित्रकारी आदि शिल्प कलाओं की सामग्री के विशेषज्ञ थे और (सञ्चित) धन का विभाग* करना जानते थे। वे हाथी घोड़ों पर चढ़ने में स्वयं निपुण थे और उन पर चढ़ने की क्रिया सिखाने में भी वे दक्ष थे ॥२८॥

धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्मतः।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः ॥२९॥

वे बड़े बड़े धनुर्विद्याविशारदों में श्रेष्ठ थे। लोग उनको महारथी समझ (उनकी धनुर्विद्या की जानकारी के कारण) सम्मान करते थे। वे अपने ऊपर शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा नहीं करते थे, किन्तु स्वयं जा कर शत्रु पर आक्रमण करते थे और आक्रमण के समय केवल सैनिकों से ही युद्ध नहीं कराते थे, प्रत्युत शत्रु पर पहला वार स्वयं ही करते थे। वे शत्रु के सैन्यव्यूहो

---

* "धर्माय यशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च शोभते ॥"

अर्थात् सञ्चित द्रव्य का व्यय करते समय उसे पाँच मदों मे बाँटे—(१) धर्म के कामों मे (२) नामवरी के कामों मे (३) धन बढाने के काम मे (४) अपनी शारीरिक आवश्यकताओं मे और अपने परिवार के पालन पोषण के काम ५। जो इस प्रकार सञ्चित अथवा उपार्जित द्रव्य को खर्च करता है, वह इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

को छिन्न भिन्न करने और सैन्यव्यूह की रचना में भी निपुण थे ॥२६॥

अप्रधृष्यश्च संग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः ।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी ॥३०॥

जब क्रुद्ध हो वे रणभूमि में खड़े होते, तब सुर असुर कोई भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता था। वे असूया रहित, क्रोध को जीतने वाले, गर्वशून्य और दूसरो की सम्पत्ति से द्वेष न करने वाले थे ॥३०॥

न चावमन्ता भूतानां न च कालवशानुगः ।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ॥३१॥

न तो वे कभी किसी की अवज्ञा के पात्र बनते थे और न उनके ऊपर समय विशेष का प्रभाव ही पड़ सकता था। राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी प्रजाजनो के बीच लोकोत्तर गुणों से युक्त थे ॥३१॥

सम्मतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्येणापि शचीपतेः ॥३२॥

उनको तीनों लोक मानते थे। उनमें, पृथिवी जैसी क्षमा, बृहस्पति जैसी बुद्धि और इन्द्र जैसा पराक्रम था ॥३२॥

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसञ्जननैः पितुः ।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तैः सूर्य इवांशुभिः ॥३३॥

जिस प्रकार प्रदीप्त सूर्य अपनी किरणमाला से प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार प्रजा की प्रीति और पिता के दुलारे श्रीरामचन्द्र अपने गुणो से मण्डित हो, शोभा को प्राप्त होते थे ॥३३॥

तमेवं व्रतसम्पन्नमप्रधृष्यपराक्रमम् ।
लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र जी मे ऐसे दिव्यगुण, व्रतपालन एवं अकुण्ठित पराक्रम देख और उनको लोकपालो के समान समझ, पृथिवी ने उनको अपना स्वामी पनाने की मनोकामना की ॥३४॥

एतैस्तु वहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम् ।
दृष्ट्वा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परन्तपः ॥३५॥

अपने पुत्र में ऐसे वहुत से अनुपम गुणों को देख, महाराज दशरथ ने अपने मन में विचारा ॥३५॥

अथ राज्ञो वभूवैवं वृद्धस्य चिरजीविनः ।
प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति ॥३६॥

कि राज्य करते करते मै तो बूढ़ा हो गया, अव मैं अपने जीते जी क्यो कर श्रीरामचन्द्र जी को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर स्वयं प्रसन्न होऊँ ॥३६॥

एषा ह्यस्य परा प्रीतिर्हृदि सम्परिवर्तते ।
कदा नाम सुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम् ॥३७॥

महाराज दशरथ के मन मे यह कामना सदा धनी रहने लगी कि, मै अपने प्यारे पुत्र श्रीराम जी को राजगद्दी पर बैठा हुआ कब देख सकूँगा ॥३७॥

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पनः ।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥३८॥

श्रीरामचन्द्र जी जल वर्षाने वाले मेघ की तरह सब प्राणियों पर दया करने वाले हैं और प्रजा के लोगों को वे मुझसे भी अधिक प्यारे हैं ॥३८॥

यमशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ ।
महीधरसमो धृत्यां मत्तश्च गुणवत्तरः ॥३९॥

वे बल एवं पराक्रम में यम और इन्द्र के समान, बुद्धिमानी में बृहस्पति के समान, धैर्यधारण में अचल पर्वत के समान और गुणों में मुझसे भी चढ़ बढ़ कर हैं ॥३९॥

महीमहमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम् ।
अनेन वयसा दृष्ट्वा* कथं स्वर्गमवाप्नुयाम् ॥४०॥

ऐसे अपने पुत्र को इस सम्पूर्ण पृथिवी के राज्यासन पर बैठा देख, मैं इस उम्र में स्वर्ग कैसे सिधारूँ ॥४०॥

इत्येतैर्विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः ।
शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तरैर्गुणैः ॥४१॥
तं समीक्ष्य महाराजो युक्तं समुदितैर्गुणैः† ।
निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत ॥४२॥

अन्य राजाओ के लिए दुर्लब्ध, असंख्य श्रेष्ठ एवं इस लोक के लिए लोकोत्तर गुणो से मण्डित, श्रीरामचन्द्र जी को देख, महाराज दशरथ ने मन्त्रियों से परामर्श कर, उनको युवराज पद पर अभिषिक्त करना निश्चित किया ॥४१॥४२॥

दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम् ।
सञ्चचक्षे च मेधावी शरीरे चात्मनो जराम् ॥४३॥

---

* पाठान्तरे—"यथा" ।

† पाठान्तरे—"शुभैः" ।

किन्तु इसी समय उन्होने देखा कि, स्वर्ग, आकाश और पृथिवी पर घोर उत्पातो का भय उपस्थित है। साथ ही सूक्ष्मदर्शी राजा ने अपने शरीर के बुढ़ापे को भी देखा ॥४३॥

पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः ।
लोके रामस्य बुबुधे संप्रियत्वं महात्मनः ॥४४॥

उन्होने इस कार्य से पूर्णचन्द्रमुख श्रीरामचन्द्र का आनुकूल्य और अपनी चिन्ता या शोक की निवृत्ति तथा प्रजा का कल्याण समझा ॥४४॥

आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च ।
प्राप्तकालेन धर्मात्मा भक्त्या त्वरितवान्नृपः ॥४५॥

अपनी और प्रजा की भलाई तथा प्रसन्नता के लिए धर्मात्मा महाराज दशरथ ने बड़ी प्रीति के साथ, उपयुक्त समय देख, श्रीराम जी को युवराज पद पर अभिषिक्त करने के लिए त्वरा की ॥४५॥

नानानगरवास्तव्यान्पृथग्जानपदानपि ।
समानिनाय मेदिन्याः प्रधानान्पृथिवीपतीन्* ॥४६॥

उन्होने अनेक नगरो और राष्ट्रो के रहने वाले प्रधान राजाओ को बुलवाया ॥४६॥

तान्वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान् ।
ददर्शालङ्कृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः ॥४७॥

महाराज दशरथ ने उन सब को आदरपूर्वक भवनो में ठहराया और नाना प्रकार के अलङ्कार प्रदान कर, उनका सत्कार

* इसके आगे किसी किसी पोथी में यह और है—न तु केकय राजानां जनकं वा नराधिपः ।

किआ। तदनन्तर स्वयं अलंकृत हो, उनसे भेंट की। उन सबके बीच में बैठे हुए महाराज उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार प्रजापति, प्रजा के बीच मे बैठे हुए शोभा को प्राप्त होते हैं ॥४७॥

*न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः ।
त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम् ॥४८॥

शीघ्रता में केकयराज और मिथिलाधिपति को यह समाचार नही दिआ गया, इस कारण कि उनको यह शुभ संवाद पीछे से मिल ही जायगा ॥४८॥

[टिप्पणी—शीघ्रता तो महाराज दशरथ को थी ही, किन्तु युवराज-पद पर आगे ज्येष्ठ राजकुमार को अभिषिक्त करने का मामला उनका खास था। नाते रिश्तेदारों से ऐसे घरू मामलों मे पूछने की या सलाह मशवरा करने की आवश्यकता भी नही हुआ करती। अतः इस अवसर पर केवल वे ही बुलाए गए थे, जिनसे राजसम्बन्धी मामलों से सम्बन्ध था।]

अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन्परबलार्दने ।
ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसम्मताः ॥४९॥

जब शत्रुदर्पदलनकर्त्ता महाराज दशरथ (राजसभा में आकर) राजसिंहासन पर बैठ गए, तब अन्य राजागण तथा प्रजापतिनिधिगण दरबार में आ आकर उपस्थित होने लगे ॥४९॥

अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च ।
राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः ॥५०॥

वे राजा लोग महाराज के दिए हुए भिन्न भिन्न प्रकार के आसनो पर (अर्थात् जो जिस आसन के योग्य था वह उसी प्रकार

---

* यह पद श्लोक संख्या ४७ के बाद किसी किसी पोथी में मिलता है।

के आसन पर) बिठाया गया। वे सब महाराज के सिंहासन की ओर मुख कर के बड़ी नम्रता से अथवा 'राजदरबार में बैठने की पद्धति अनुसार बैठे ॥५०॥

स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्नृपैः
पुरालयैर्जानपदैश्च मानवैः ।
उपोपविष्टैर्नृपतिर्वृतो बभौ
सहस्रचक्षुर्भगवानिवामरैः ॥५१॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

विनयी नृपतियों तथा जनपदवासी प्रधान प्रधान लोगो से सम्मानित हो, सभा में बैठने पर, महाराज दशरथ वैसे ही सुशोभित मालूम पड़ते थे, जैसे इन्द्र, देवताओं के बीच शोभा को प्राप्त होते हैं ॥५१॥

अयोध्याकाण्ड का पहिला सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

द्वितीयः सर्गः

—:०:—

[नोट—इस दूसरे सर्ग मे रामराज्याभिषेक का सर्वसम्मतत्व प्रदर्शित किया गया है।]

ततः परिषदं[1] सर्वामामन्त्र्य[2] वसुधाधिपः ।
हितमुद्धर्षणं[3] चैवमुवाच प्रथितं[4] वचः ॥१॥

१ परिषद—पौरजानपदसमूह। (गो०), २ आमन्त्र्य—अभिमुखी कृत्य। (गो०) ३ उद्धर्षण—उत्कृष्टहर्षजनक। (रा०) ४ प्रथितं—सर्वजनश्राव्य यथाभवति तथोवाच। (रा०)

तदनन्तर भूपति महाराज दशरथ ने सब पुरवासियों को अपने सामने बिठा, ऐसे उच्च स्वर से, जिससे सब को सुनाई पड़े, अत्यन्त हर्षोत्पादक वचन कहे ॥१॥

दुन्दुभिस्वनकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना ।
स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥२॥

बोलने के समय महाराज का बोल परम उच्च स्वर के साथ ऐसा जान पड़ता था, मानो नगाड़ा बज रहा हो अथवा मेघ गरज रहा हो ॥२॥

राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च ।
उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥३॥

राजाओं से बोलने योग्य अति सुन्दर एवं उपमारहित रस से भरी वाणी से महाराज दशरथ, राजाओं से बोले ॥६॥

विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम् ।
पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत्परिपालितम् ॥४॥*

जिस प्रकार हमारे पूर्वज नरेन्द्रों ने पुत्रवत् इस विशाल राज्य का पालन किया है, यह तो आप लोगों को विदित है ही ॥४॥

श्रेयसा योक्तुकामोऽस्मि सुखार्हमखिलं जगत् ।
मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता ॥५॥
प्रजा नित्यमतन्द्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः ।
इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम् ॥६॥

सो मैं इस समय भी इक्ष्वाकु प्रभृति नरनाथों द्वारा पालित इस राज्य में समस्त जगत की सुख सम्पत्ति बढ़ाने के लिए, एक

---

* इस श्लोक के आगे किसी किसी पुस्तक में निम्न पद भी मिलता है सोऽहमिक्ष्वाकुभिः सर्वैं नरेन्द्रैः परिपालितम् ।

योजना करना चाहता हूँ। मैंने भी अपने पूर्वजों के पथ का अनुसरण कर और सदा सावधान रह कर, यथाशक्ति प्रजा की रक्षा की है। सब प्रजाजनो के हित की कामना से यह मेरा शरीर ॥५॥६॥

पाण्डुरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया।
प्राप्य वर्षसहस्राणि[१] बहून्यायूंषि जीवतः ॥७॥

इस श्वेत राजछत्र के नीचे रह कर, जराजीर्ण हो गया है। इस समय मेरी अवस्था साठ हजार वर्ष की हो चुकी है, अतः मैं बहुत आयु भोग चुका हूँ ॥७॥

जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये।
राजप्रभावजुष्टां हि दुर्वहामजितेन्द्रियैः ॥८॥
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन्।
सोऽहं विश्राममिच्छामि* रामं कृत्वा प्रजाहिते ॥९॥
सन्निकृष्टानिमान्सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान्।
अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैर्ज्येष्ठो ममात्मजः ॥१०॥

मै अब चाहता हूँ कि, इस वृद्ध शरीर को विश्राम दूँ। जिस भार को अजितेन्द्रिय पुरुष नहीं उठा सकते, उस लोक के भारी धर्मभार को ढोते ढोते मै थक गया हूँ। इस लिए अब मै प्रजा के हित के अर्थ उपस्थित ब्राह्मणो की सम्मति से अपने जैसे सब गुणों से युक्त ज्येष्ठ पुत्र को प्रजापालन का भार सौंपना चाहता हूँ ॥८॥९॥१०॥

---

१ बहूनि वर्षसहस्राणि षष्टि वर्षसहस्राणि (गो०)

* पाठान्तर—'पुत्र'।

पुरन्दरसमो वीर्ये रामः परपुरञ्जयः ।
तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतां वरम् ॥११॥

मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र पराक्रम में इन्द्र के समान शत्रुओं का नाश करने वाले हैं। पुष्य नक्षत्र युक्त चन्द्रमा की तरह धर्मात्मा ॥११॥

यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रीतः पुरुषपुङ्गवम् ।
अनुरूपः स वै नाथो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र को मैं युवराजपद पर कल प्रातःकाल ही स्थापित करना चाहता हूँ। क्योंकि वे पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। लक्ष्मण के बड़े भाई और कान्तिमान् श्रीरामचन्द्र तुम्हारे योग्य रक्षक हैं ॥१२॥

त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ।
अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्ये तामिमां महीम् ॥१३॥

मेरा तो विश्वास है कि, यह देश ही क्या, त्रैलोक्य मण्डल भी इनको पा कर सनाथ होगा, अतः इनको शीघ्र राज्यभार सौंप कर मै भूमण्डल का कल्याण करना चाहता हूँ और ॥१३॥

गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन्निवेश्य वै ।
यदीदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम् ॥१४॥

इस प्रकार रामचन्द्र को राज्यशासन के कार्य मे नियुक्त कर, मै स्वयं चिन्ता रूपी क्लेश से निवृत्त होना चाहता हूँ। यदि मैंने यह विचार अच्छा और योग्य किआ हो ॥१४॥

भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ।
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम् ॥१५॥

यदि मेरा कहना ठीक हो तो आप लोग इसमें सम्मति दें। अथवा जो करना उचित हो वह बतलाइए। यद्यपि मुझे श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना अति प्रिय है, तथापि यदि इससे बढ़ कर और कोई हित की बात हो तो उसे सोच विचार कर आप लोग बतलावें ॥१५॥

अन्या मध्यस्थचिन्ता हि [1]विमर्दाभ्यधिकोदया।
इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपा नृपम् ॥१६॥

क्योंकि मध्यस्थों द्वारा पूर्वापर का विवेचन होने के पश्चात् जो बात स्थिर होती है—वही उत्तम होती है। महाराज दशरथ के ये वचन सुन, सब राजा लोगों ने वैसे ही प्रसन्नता प्रकट की ॥१६॥

वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः।
स्निग्धोऽनुनादी संजज्ञे तत्र हर्षसमीरितः ॥१७॥

जनौघोद्घुष्टसन्नादो विमानं कम्पयन्निव।
तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः ॥१८॥

जैसे बरसते हुए बादल को देख, मोर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। उस समय सामन्त राजाओं ने तथा अन्य उपस्थित जनों ने प्रसन्न हो, "वाह वाह", "ठीक, बहुत ठीक" कह कर, इतनी जोर से आनन्द प्रकट किया कि, जान पड़ा मानो राज-सभा-भवन काँप रहा हो। धर्मात्मा महाराज दशरथ का आशय सब लोग समझ गए ॥१७॥१८॥

---

१ विमर्देन—पूर्वापरपक्षसंघर्षणेनहेतुना। (गो०)

ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ।
समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतागतबुद्धयः ॥१९॥

तदनन्तर वसिष्ठादि ब्राह्मण, सामन्त राजा लोग और नगर के प्रधान प्रधान लोगो ने बाहिर से आए हुए विशिष्ट जनो से मिल कर, आपस मे परामर्श किया और जब सब एकमत हो गए तब १९॥

ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ।
अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव ॥२०॥

विचार कर वृद्ध महाराज दशरथ से बोले—हे राजन् ! आप हजारो वर्षो राज्य करते करते बहुत बूढ़े हो गए ॥२०॥

स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ।
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ॥२१॥

अतएव हे राजन् ! अब आप श्रीरामचन्द्र जी को युवराजपद पर अभिषिक्त कर दीजिए । क्योकि हम लोगो की इच्छा है कि, महाबाहु एव महाबली श्रीरामचन्द्र जी ॥२१॥

गजेन महताऽऽयान्तं रामं छत्रावृताननम् ।
इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम् ॥२२॥

एक बड़े हाथी पर बैठ कर और सिर के ऊपर राजछत्र लगाए हुए चले और हम यह (शुभ दृश्य) देखे । महाराज दशरथ उन सब के ये वचन सुन किन्तु उनके मन का अभीष्ट जानने के लिए ॥२२॥

अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत् ।
श्रुत्वैवं वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ ॥२३॥

अजान मनुष्य की तरह उनसे पूँछने लगे। आप लोग जो मुझे कहते ही श्रीराम जी को अपना रक्षक बनाने को तैयार हो गए ॥२३॥

राजानः संशयोऽयं मे किमिदं ब्रूत तत्त्वतः ।
कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति ॥२४॥

सो इससे मेरे मन मे एक संशय उत्पन्न हो गया है। अतः आप अपने अभिप्राय को स्पष्ट कहिए। जब मैं धर्म से पृथिवी का पालन कर ही रहा हूँ, तब फिर क्यों ॥२४॥

भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं ममात्मजम् ।
ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदैः सह ॥२५॥

आप लोग मेरे पुत्र को युवराज बनाना चाहते हैं ? (क्या मैं राज्यशासन ठीक ठीक नहीं कर रहा था मुझसे कोई भूल हुई है ?) अयोध्यावासी तथा अन्य बाहिर के सामन्त, बुद्धिमान् महाराज दशरथ से बोले ॥२५॥

बहवो नृप कल्याणा गुणाः पुत्रस्य सन्ति ते ।
गुणान्गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः ॥२६॥
प्रियानानन्दनान्कृत्स्नान्प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्शृणु ।
दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः ॥२७॥

हे राजन्! (यह बात नहीं है, अर्थात् आप शासन भी ठीक ही ठीक कर रहे हैं और आपसे कोई भूल भी नहीं हुई ; किन्तु हमारे

इस प्रकार के निश्चय पर पहुँचने का कारण यह है कि,) आपके राजकुमार मे बहुत से बड़े अच्छे अच्छे गुण है (अर्थात् आपमें राज्य का शासन भलीभाँति करने ही का एक गुण है) बुद्धिमान् और देवरूप श्रीरामचन्द्र के प्रिय और आनन्ददायक गुणों को हम कहते हैं, सुनिये। दिव्य गुणो से सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी इन्द्र के समान हो रहे हैं ॥ २६ ॥२७॥

इक्ष्वाकुभ्योपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशांपते ।
रामः सत्पुरुषो लोके सत्यधर्मपरायणः ॥२८॥

हे राजन्! अतएव वे सब इक्ष्वाकुवंशी राजाओ से अधिक हैं (अर्थात् आप ही नहीं किन्तु आपके पूर्ववर्ती समस्त राजाओ से भी अधिक बढ़ चढ़ कर हैं)। वे इस लोक मे एक ही सत्पुरुष और सत्यधर्म-परायण है ॥२८॥

साक्षाद्रामाद्विनिर्वृत्तो[1] धर्मश्चापि श्रिया सह ।
प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः ॥२९॥
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः ।
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च शीलवाननसूयकः ॥३०॥

इन्हीं श्रीरामचन्द्र जी से शोभायमान धन और धर्म प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है। प्रजाओं को सुख देने मे या सुखी करने में श्रीरामचन्द्र जी चन्द्रमा के समान हैं (अर्थात् जैसे चन्द्रमा, अपनी अमृतस्रावी किरणों से सब अन्न फल फूलादि परिपक्व कर प्रजा को पुष्ट करता है, वैसे ही यह रामचन्द्र प्रजा को आनन्दित और पुष्ट करते हैं)। श्रीराम जी क्षमा करने मे पृथिवी के समान, बुद्धि मे बृहस्पति के तुल्य और पराक्रम में साक्षात् इन्द्र के

१ विनिर्वृत्त.—प्रतिष्ठापिता। (रा०)

समान हैं। श्रीराम जो धर्मज्ञ हैं, सत्यवादी हैं, शीलवान हैं ईर्ष्या-रहित हैं ॥२६॥३०॥

क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः ।
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः ॥३१॥

श्रीरामचन्द्र जी क्षमावान् हैं, कुपित और दुःखियों को सान्त्वना प्रदान करने वाले हैं, प्रिय बोलने वाले हैं, कोई थोड़ा भी उपकार करे तो उसे बहुत बड़ा कर के मानने वाले हैं, जितेन्द्रिय हैं. कोमल स्वभाव वाले हैं, जो बात एक बार कह देते हैं, उसे महान् सङ्कट पड़ने पर भी नहीं बदलते, सदा कल्याण रूप हैं और किसी की भी निन्दा नहीं करते ॥३१॥

प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ।
बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता ॥३२॥

श्रीरामचन्द्र जी प्राणिमात्र से प्रिय और सत्य बोलने वाले हैं, तथा बहुदर्शी और वृद्ध ब्राह्मणों के उपासक हैं ॥३२॥

तेनास्येहातुला कीर्त्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते ।
देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः ॥३३॥

इसीसे श्रीरामचन्द्र जी की अतुलकीर्ति, यश और तेज बढता जाता है। क्या देवता, क्या असुर और क्या मनुष्य सब से वे सब शस्त्रों के चलाने, रोकने और चलाए हुए अस्त्रों को लौटा लेने से बढ़बढ़ कर निपुण हैं ॥३३॥

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।
गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥३४॥

श्रीराम जी जितनी विद्याएँ हैं, उन सब के नियमो मे पारङ्गत हैं, (अर्थात् सब विद्याओं का नियमपूर्वक भली भाँति अध्ययन किए हुए हैं) सांगोपांग सम्पूर्ण वेद के जानने वाले हैं, गानविद्या में वे अद्वितीय है ॥३४॥

कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ।
द्विजैरभिविनीतश्च[1] श्रेष्ठैर्धर्मार्थदर्शिभिः[*] ॥३५॥

सकल कल्याणों के आश्रयस्थल हैं, अथवा उत्तमकुलोत्पन्न हैं, साधु प्रकृति के है, सदा प्रसन्न चित्त रहने वाले हैं, बड़े बुद्धिमान् हैं, ब्राह्मणो द्वारा सुशिक्षित हैं, श्रेष्ठ हैं और धर्मार्थ के प्रतिपादन मे कुशल हैं ॥३५॥

यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ।
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते ॥३६॥

फिर वे जब कभी श्रीलक्ष्मण जी के साथ किसी ग्राम या नगर को जीतने के लिये रण में जाते हैं, तब वे शत्रु को जीते बिना नहीं लौटते ॥३६॥

संग्रामात्पुनरागम्य कुञ्जरेण रथेन वा ।
पौरान्स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ॥३७॥
पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ।
निखिलेनानुपूर्व्याच्च पिता पुत्रानिवौरसान् ॥३८॥

और सग्राम से रथ या हाथी पर बैठ कर, जब वे लौटते है, तब पुरवासियो से स्वजनोकी भाँति उनके पुत्रो का, अग्नि (अग्नि

---

१ अभिविनीतः—सर्वतः सुशिक्षितः । (गो०)

* पाठान्तरे—धर्मार्थनिपुणैः ।

होत्रादि) का स्त्रियों का तथा दासों और शिष्यों का क्रम से उसी प्रकार कुशल पूँछते हैं। जैसे पिता अपने औरस पुत्रों से कुशल पूँछता हो ॥३७॥३८॥

शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चित्कर्मसु दंशिताः[1] ।
इति नः पुरुषव्याघ्रो सदा रामोऽभिभाषते ॥३९॥

हे महाराज ! हम लोगों से श्रीरामचन्द्र जी सदा पूँछा करते हैं कि, तुम्हारे शिष्य यथाविधि तुम्हारी सेवा शुश्रूषा करते हैं कि, नहीं ? अपने काम में सदा तत्पर रहते हैं कि, नहीं ? ॥३९॥

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ॥४०॥

जब कभी कोई मनुष्य दुखी होता है, तब उसके दुख से आप दुखी होते हैं और जब किसी के कोई उत्सव होता है, तब वे आप पिता की तरह सन्तुष्ट होते हैं ॥४०॥

सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मना श्रितः ॥४१॥

श्रीरामचन्द्र जी बड़े सत्यवादी, महाधनुर्द्धर, वृद्धसेवी, जितेन्द्रिय, (मिलते ही) स्वयं प्रथम हँस कर बोलने वाले और सब प्रकार से धर्मसेवी हैं ॥४१॥

सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विग्रहकथारुचिः ।
उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥४२॥

---

१ दंशिताः—सन्नद्धा. । (गो०)

वे अच्छे कामो को सदा करने वाले हैं, लड़ाई झगड़े की बाते कहने सुनने में उनकी रुचि ही नही है। वे वार्तालाप करते समय उत्तरोत्तर युक्तियो से काम लेने में बृहस्पति के समान हैं ॥४२॥

सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद्विष्णुरिव स्वयम् ।
रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः ॥४३॥

सुन्दर भौंह वडे बड़े लालिमा लिए नेत्रो वाले श्रीरामजी साक्षात् विष्णु के तुल्य हैं। श्रीरामचन्द्र जी शौर्य व पराक्रम मे लोगो को अत्यन्त प्रिय हैं ॥४३॥

प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ।
शक्तस्त्रैलोक्यमप्येको भोक्तुं किन्नु महीमिमाम् ॥४४॥

वे प्रजा के पालन करने मे सदा तत्पर रहते है और राजसी-भोगो मे डूबने वाले नही हैं अथवा उनकी इन्द्रियाँ चञ्चल नहीं है। श्रीरामचन्द्र जी तीनो लोको का राज्य करने की सामर्थ्य रखते है, उनके लिए इस पृथिवी का राज्य क्या चीज है ? ॥४४॥

नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन ।
हन्त्येव नियमाद्वध्यानवध्ये न च कुप्यति ॥४५॥

उनका क्रोध और इनकी प्रसन्नता कभी निरर्थक नही होती। ये मारने योग्य को मारे विना नही रहते और न मारने योग्य पर कभी क्रुद्ध भी नही होते ॥४५॥

युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ।
दान्तैः *सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसञ्जननैर्नृणाम् ॥४६॥

---

* पाठान्तरे—शान्तै ।

जिस पर ये प्रसन्न होते हैं, उसको सब ही कुछ देते हैं। ये यम नियमादि के पालन में कष्टसहिष्णु हैं। सब प्रजाजनों के प्रीतिपात्र हैं। और स्वजनों में प्रीति उत्पन्न कराने वाले हैं ॥४६॥

गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ।
तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥४७॥

इन गुणों से श्रीरामचन्द्र जी किरणों-द्वारा-सूर्य की तरह शोभा देने वाले हैं। इन सब गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी को, ॥४७॥

लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ।
वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघव ॥४८॥

लोकपालों की तरह पृथिवी अपना रक्षक बनाना चाहती है। हे महाराज! आप बड़े भाग्यवान् हैं, क्योंकि ऐसे कल्याणमूर्ति श्रीराम जी आपके पुत्र हैं ॥४८॥

दिष्ट्या पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव काश्यपः ।
बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः[1] ॥४९॥

बड़े सौभाग्य ही से मरीचि के पुत्र कश्यप की तरह गुणवान् ये आपके पुत्र हैं। (सो वे राज्यारूढ़ हों, यह तो बड़े सौभाग्य की बात है।) जगप्रसिद्ध श्रीरामजी के बल, आरोग्य और दीर्घ जीवन के लिए ॥ ४९ ॥

देवासुरमनुष्येषु गन्धर्वोरगेषु च ।
आशंसन्ते[2] जनाः सर्वे राष्ट्रे पुरवरे तथा ॥५०॥

---

१ विदितात्मन.—प्रसिद्धशीलस्य । (गो०) २ आशसन्ते—प्रार्थयते । (गो०)

देवता, असुर, ऋषि, गन्धर्व, नाग, तथा अयोध्या नगरी के निवासी तथा कोशलराज्य भर के समस्त लोग प्रार्थना करते हैं ॥५०॥

आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ।
स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः ॥५१॥

सर्वान्देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे यशस्विनः ।
तेषामायाचितं देव त्वत्प्रसादात्समृध्यताम् ॥५२॥

बाहिरी और राजधानी के रहने वाले स्त्री पुरुष, बूढ़े जवान सब लोग सुबह शाम एकाग्र मन से सब देवताओं से यशस्वी श्रीरामचन्द्र जी की मङ्गलकामना के लिए प्रार्थना किआ करते हैं। उन सब की याचना को आप पूरी करें ॥५१॥५२॥

राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥५३॥

हम लोग, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को, जो नील कमल के सदृश श्याम हैं और शत्रुनाशक हैं, युवराज के आसन पर बैठा देखना चाहते हैं ॥५३॥

तं देवदेवोपममात्मजं ते
सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं
मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥५४॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

हे वरद ! अब हम लोगों की यह प्रार्थना है कि, आप विष्णु के समान, सब लोकों के हितकारी, उदार अपने पुत्र श्रीराम जी को प्रसन्न मन से, यौवराज्य पद पर शीघ्र अभिषिक्त कर दीजिये ॥५४॥

अयोध्याकाण्ड का दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

तृतीय सर्ग

—:o:—

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः ।
प्रतिगृह्याब्रवीद्राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥१॥

इस प्रकार हाथ जोड कर वे लोग जो प्रार्थना कर रहे थे, उसको आदर पूर्वक सुन कर, महाराज दशरथ उनसे प्रिय व हित-कर वचन बोले ॥१॥

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम ।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥२॥

आहा ! मैं बहुत प्रसन्न हूँ, मेरे बड़े भाग्य हैं, जो आप लोग मेरे प्यारे ज्येष्ठपुत्र को युवराज बनाना चाहते हैं ॥२॥

इति प्रत्यर्च्य तान्राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत् ।
वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम् ॥३॥

इस प्रकार उन लोगो का मधुर वचनो से सम्मान कर, महाराज दशरथ उनके ही सामने वसिष्ठ, वामदेवादि ब्राह्मणों से बोले ॥३॥

चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः ।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥४॥

इस श्रेष्ठ और पवित्र चैत्रमास में, जिसमें चारों ओर वन पुष्पों से सुशोभित हो रहे हैं, श्रीरामचन्द्र जी के, यौवराज्य पद पर अभिषेक करने की आप लोग सब तैयारियाँ कीजिए ॥४॥

राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत् ।
शनैस्तस्मिन्प्रशान्ते च जनघोषो नराधिपः ॥५॥

जब यह कह कर महाराज चुप हो गए, तब लोगो ने बड़ा आनन्दघोष किया। महाराज दशरथ, धीरे धीरे उस जनघोष के शान्त हो जाने पर ॥५॥

वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत् ।
अभिषेकाय रामस्य यत्कर्म सपरिच्छदम् ॥६॥
तदद्य भगवान् सर्वमाज्ञापयितुमर्हति ।
तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो द्विजसत्तमः ॥७॥

मुनिप्रवर वसिष्ठ जी से बोले, हे भगवान ! श्रीराम जी के अभिषेक के लिए जो जो कृत्य करने हों और जो सामान चाहिए, उसके लिए आज्ञा कीजिए। विप्रवर वसिष्ठ जी ने यह सुन कर ॥६॥७॥

आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान् युक्तान् कृताञ्जलीन् ।
सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन् सर्वौषधीरपि ॥८॥

उन मन्त्रियों को जो महाराज के सामने हाथ जोड़े हुए थे, आज्ञा दी कि, तुम लोग सुवर्णादि रत्नावलि (देवोपहार की वस्तुएँ और सब औषधियाँ ॥८॥

शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक् च मधुसर्पिषी ।
अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥९॥

चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम् ।
चामरव्यजने श्वेते ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम् ॥१०॥

शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम् ।
हिरण्यशृङ्गमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च ॥११॥

उपस्थापयत प्रातरग्न्यगारं महीपतेः ।
यच्चान्यत्किञ्चिदेष्टव्यं तत्सर्वमुपकल्प्यताम् ॥१२॥

सफेद पुष्प की मालाएँ, लाजा (धान की खीलें), अलग अलग पात्रों में शहद व घी, कोरे वस्त्र, रथ, सब आयुध, चतुरङ्गिणी सेना, शुभ लक्षण वाले हाथी, दो चँवर, सफेद ध्वजा और सफेद छत्र, सुवर्ण के सौ कलश, जो अग्नि के समान चमकदार हों, सुवर्ण के मढ़े हुए सींग वाले बैल, अखण्डित व्याघ्र चर्म, तथा अन्य जो कुछ चाहिए सो सब एकत्र कर, कल सवेरे महाराज की अग्निशाला में ला कर रखो ॥९॥१०॥११॥१२॥

अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च ।
चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राणहारिभिः ॥१३॥

रनिवास के और नगर के सब द्वारों का चन्दन, माला और अच्छी सुगन्धित धूप से पूजन किया जाय ॥१३॥

प्रशस्तमन्नं गुणवद्दधिक्षीरोपसेचनम् ।
द्विजानां शतसाहस्रे यत्प्रकाममलं भवेत् ॥१४॥

सब प्रकार के सुन्दर, मीठे और आरोग्यकारी अन्न, दही, दूध के बने हुए पदार्थ तैयार किए जायँ, जिससे एक लक्ष ब्राह्मण भोजन कर तृप्त हो सकें ॥१४॥

सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम् ।
घृतं दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः ॥१५॥

यह भोजन कल सबेरे ही ब्राह्मणों को सत्कार पूर्वक दिया जाय। उनको घी, दही तथा लावा (खीलें) और दक्षिणा भी इतनी दी जाय कि, उन्हें फिर अन्यत्र कहीं माँगने की आवश्यकता न रहे ॥१५॥

सूर्येऽभ्युदितमात्रे श्वो भविता स्वस्तिवाचनम् ।
ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्तां कल्प्यन्तामासनानि च ॥१६॥

सूर्य के उदय होते ही कल स्वस्तिवाचन होगा। अतएव ब्राह्मणों के पास (आज ही) निमन्त्रण भेज दिया जाय और उनके बैठने के लिए आसनों का प्रबन्ध कर दिया जाय ॥१६॥

आबध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम् ।
सर्वे च तालावचरा[1] गणिकाश्च स्वलंकृताः ॥१७॥
कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनि ।
देवायतनचैत्येषु सान्नभक्षाः सदक्षिणाः ॥१८॥

---

१ तालावचरा—नर्तकादयः । (गो०)

उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्ययोग्याः पृथक्पृथक् ।
दीर्घासिवद्धा योधाश्च सन्नद्धा मृष्टवाससः ॥१६॥

जगह जगह बदनवारे बाँध दी जायँ और सड़कों पर छिड़काव करवा दिया जाय। सफरदाइयो सहित नाचने वाली वेश्याएँ सजधज कर राजभवन की दूसरी ड्योढ़ी पर उपस्थित रहें। राजधानी मे जितने देवमन्दिर तथा चौराहे हैं, उन सब मे, खाने पीने योग्य पदार्थ, दक्षिणा और अन्य पूजन की सामग्री यथा फूल आदि, अलग अलग भेज दी जायँ। विशाल खड्गधारी शूर योद्धा, सुन्दर पोशाकें पहिन कर, ॥१७॥१८॥१९॥

महाराजाङ्गणं सर्वे प्रविशन्तु महोदयम्[१] ।
एवं व्यादिश्य विप्रौ तौ क्रियास्तत्र सुनिष्ठितौ ॥२०॥

महाराज के आँगन मे जहाँ कि महोत्सव होगा, उपस्थित हो। इस प्रकार वसिष्ठ और वामदेव ने मंत्रियो को आज्ञा दी तथा सब कामो का ठीकठाक कर, ॥२०॥

चक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय निवेद्य च ।
कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम् ॥२१॥

और जो वस्तुएँ और अपेक्षित थीं उनको मँगवाने की आज्ञा दे और जो काम करवाना था उसको आरम्भ करवा, महाराज के पास जाकर इन सब बातों की सूचना दी ॥२१॥

यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विजर्षभौ ।
ततः सुमन्त्रं द्युतिमान् राजा वचनमब्रवीत् ॥२२॥

---

१ महोदयम्—महोत्सवविशिष्टमङ्गलम्। (रा०)

जब उन दोनों द्विजश्रेष्ठों ने महाराज से हर्षित हो कहा कि, "ठीक है," तब महातेजस्वी महाराज ने सुमन्त्र से कहा ॥२२॥

राम: कृतात्मा[१] भवता शीघ्रमानीयतामिति ।
स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात् ॥२३॥
रामं तत्रानयाञ्चक्रे रथेन रथिनां वरम् ।
अथ तत्र समासीनास्तदा दशरथं नृपम् ॥२४॥

कि तुम जाकर सुशिक्षित श्रीरामचन्द्र को शीघ्र यहाँ ले आओ। महाराज की आज्ञा पा और "जो आज्ञा" कह, सुमंत्र तुरन्त रथ में सवार करा योद्धाओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी को महाराज के पास ले आए ॥२३॥२४॥

प्राच्योदीच्या: प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपा: ।
म्लेच्छाचार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिन: ॥२५॥

स समय महाराज के पास पूर्व, उत्तर पश्चिम, और दक्षिण के राजा लोग, म्लेच्छ, आर्य और वन तथा पर्वतों के रहने वाले राजागण ॥२५॥

[टिप्पणी—इस श्लोक में म्लेच्छ शब्द देख कहना पड़ेगा कि उस काल में भी म्लेच्छ थे और राज्य भी करते थे। किन्तु ये करद राजा थे।]

उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा इव वासवम् ।
तेषां मध्ये स राजर्षिर्मरुतामिव वासव: ॥२६॥

राजसभा में इस प्रकार बैठे थे कि, जिस प्रकार देवतागण इन्द्र की सभा में बैठते हैं। उस समय राजर्षि दशरथ उन राजाओं

१ कृतात्मा—सुशिक्षितबुद्धि: । (गो०)

के बीच वैसी ही शोभा को प्राप्त हो रहे थे, जैसी शोभा देवताओं के बीच इन्द्र की होती है ॥२६॥

प्रासादस्थो रथगतं ददर्शायान्तमात्मजम् ।
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥२७॥
दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम् ।
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ॥२८॥
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् ।
घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥२९॥

इतने में कोठे पर बैठे हुए महाराज ने गन्धर्वराज के समान सुन्दर, प्रसिद्ध पराक्रमी आजानुबाहु, महाबल, मत्त गजराज के समान चालवाले, चन्द्रमुख, अतीव प्रियदर्शन, रूप और उदारता गुण से देखने वाले के मन को हरण करने वाले तथा जिस प्रकार घाम से तप्त प्राणी मेघ के दर्शन कर प्रसन्न होते हैं; उसी प्रकार अपने दर्शन से प्रजा को प्रसन्न करने वाले, अपने पुत्र श्रीराम जी को देखा ॥२७॥२८॥२९॥

न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः ।
अवतार्य सुमन्त्रस्तं राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥३०॥
पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं नरपुङ्गवः ॥३१॥
आरुरोह नृपं द्रष्टुं सह सूतेन राघवः ।
स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥३२॥

महाराज दशरथ आए हुए श्रीरामचन्द्र जी को देखते देखते नहीं अघाते थे। श्रीरामचन्द्र जी को उस उत्तम रथ से उतार

कर महाराज दशरथ के पास जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी के पीछे सुमन्त्र हाथ जोड़ कर चले। पितृभक्त श्रीरामचन्द्र जी कैलास पर्वत जैसे ऊँचे राजभवन पर सुमन्त्र सहित महाराज से मिलने के लिए चढ़े और उन्होंने महाराज के समीप जा, हाथ जोड़, ॥३०॥ ३१॥३२॥

नाम स्वं श्रावयन् रामो ववन्दे चरणौ पितुः।
तं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वे कृताञ्जलिपुटं नृपः ॥३३॥

और अपना नाम लेकर पिता के चरणों को प्रणाम किया। महाराज दशरथ ने जब देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े बग़ल में खड़े हुए हैं ॥३३॥

[टिप्पणी—अभिवादन कर्त्ता को अपना नाम लेकर बड़ों को अभिवादन करना चाहिए और दहिने हाथ से दहिना पैर और बाम हस्त से बाम पाद को स्पर्श करना चाहिए।]

गृह्याञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम्।
तस्मै चाभ्युदितं सम्यङ्मणिकाञ्चनभूषितम् ॥३४॥

तब महाराज ने उनका हाथ पकड़ और गले से लगा अपने सामने ऊँचे, सुवर्णमय और रत्नजटित ॥३४॥

दिदेश राजा रुचिरं रामाय परमासनम्।
तदासनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः ॥३५॥
स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः।
तेन विभ्राजता तत्र सा सभाऽभिव्यरोचत ॥३६॥

एक उत्तम आसन पर बैठने की आज्ञा दी। उस आसन पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्रभा से वैसे ही सुशोभित हुए जैसे सुमेरु पर्वत पर उदयकाल में उज्ज्वल श्रीसूर्य भगवान् सुशोभित

होते हैं। वहाँ बैठे हुए श्रीरामचन्द्र से उस सभा की वैसी ही शोभा हुई ॥३५॥३६॥

विमलग्रहनक्षत्रा शारदी द्यौरिवेन्दुना ।
तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम् ॥३७॥

जैसी चन्द्रमा के उदय होने पर ग्रह नक्षत्र से पूर्ण शारदीय आकाश की होती है। महाराज दशरथ अपने प्यारे पुत्र की ऐसी शोभा देख, वैसे ही परम सन्तुष्ट हुए ॥३७॥

अलङ्कृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम् ।
स तं सस्मितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतांवरः ॥३८॥

जैसे कोई अच्छे वसन भूषण पहन कर अपना रूप दर्पण में देख कर प्रसन्न होता है। सब पुत्रवानों में श्रेष्ठ महाराज दशरथ मुसक्या कर वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥३८॥

उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव कश्यपः ।
ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः ॥३९॥

जैसे कश्यप, इन्द्र से प्रसन्न हो कर बोलते हैं। हे वत्स! तुम, मेरी बड़ी रानी के अनुरूप ही पुत्र हुए हो ॥३९॥

उत्पन्नस्त्वं गुणश्रेष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ।
त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ॥४०॥

तुममे सब उत्तम गुण विद्यमान हैं और तुम मुझे अत्यन्त प्यारे हो। तुमने अपने गुणों से सब प्रजाजनो को प्रसन्न कर रखा है ॥४०॥

तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ।
कामतस्त्वं प्रकृत्यैव विनीतो गुणवानसि ॥४१॥

इस लिए तुम पुष्य नक्षत्र मे यौवराज्य पद पर विराजमान हो। यद्यपि तुम स्वभाव ही से सर्वगुणसम्पन्न और विनम्र हो ; ॥४१॥

गुणवत्यपि तु स्नेहात्पुत्र वक्ष्यामि ते हितम् ।
भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः ॥४२॥

तथापि स्नेह से प्रेरित हो, मै तुम्हारे हित की बात कहता हूँ। तुमको उचित है कि, विनय को धारण कर सदा जितेन्द्रिय बने रहो ॥४२॥

कामक्रोधसमुत्थानि त्यजेथा व्यसनानि च ।
परोक्षया[१] वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा ॥४३॥

काम क्रोध से, उत्पन्न हुए जो दुर्व्यसन लोगो मे उत्पन्न हो जाया करते हैं, उनसे सदा बचो। अपने राज्य की तथा दूसरे राजाओ के राज्य की घटनाओ को अपने जासूसो द्वारा रत्ती रत्ती ऐसे जानते रहो मानो वे घटनाएँ तुम्हारी आँखो के सामने हुई हों ॥४३॥

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रकृतीश्चानुरञ्जय ।
कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा सन्निचयान् बहून् ॥४४॥

ऐसा वर्ताव करो जिससे सब मन्त्रिवर्ग और प्रजाजन प्रसन्न रहैं। अन्न के भण्डार को तथा अस्त्र शस्त्रो के भण्डार को, अन्न तथा अस्त्रो शस्त्रो के सग्रह से सदा बढाते रहो ॥४४॥

---

१ परोक्षया—चारमुखत परोक्षानुभवसिद्धयावृत्त्यास्वपराष्ट्रवृत्तान्त विचारेण। (रा०)

*इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम् ।
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः ॥४५॥

देखो, जो राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न रख कर राज्य करता है, उससे उसके मित्र वैसे ही प्रसन्न रहते हैं, जैसे अमृतपान से देवता प्रसन्न होते हैं ॥४५॥

तस्मात्पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैवं समाचर ।
तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥४६॥

अतएव हे वत्स! तुम सावधान हो कर, मैंने जैसा कहा है, तदनुसार आचरण करो। महाराज दशरथ के यह वचन सुन, श्रीराम जी के हितैषी मित्रों ने ॥४६॥

त्वरिताः शीघ्रमभ्येत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् ।
सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च ।
व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा ॥४७॥

तुरन्त जा कर यह शुभ संवाद महारानी कौसल्या जी को सुनाया। सुनते ही प्रसन्न हो कर प्रमदाओं में श्रेष्ठा कौसल्या जी ने उन सुखद संवाद सुनाने वालों को अशरफियाँ, तरह तरह के रत्न (जटित आभूषण) और गौएँ देने को आज्ञा दी ॥४७॥

अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघवः ।
ययौ स्वं द्युतिमद्वेश्म जनौघैः† परिपूजितः ॥४८॥

इतने में श्रीरामचन्द्र जी, महाराज दशरथ को प्रणाम कर और रथ पर सवार हो अपने भड़कीले से घर की ओर गए। रास्ते में लोगों की भीड़ ने उनका अभिनन्दन किया ॥४८॥

* पाठान्तरे—तुष्ट ।

† पाठान्तरे—'प्रति' ।

ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्त-
च्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा
देवान् समानर्चुरतिप्रहृष्टाः ॥४६॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

पुरवासी भी महाराज की आज्ञा सुन और इसे अपनी इष्ट प्राप्ति समझ (मनचीता पाया) और महाराज को प्रणाम कर, अपने अपने घरों को गए और परम प्रसन्न हो देवताओं का पूजन इसलिए किआ कि, रामाभिषेक में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े ॥४६॥

अयोध्याकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

चतुर्थः सर्गः

—.o:—

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः ।
मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम्[1] ॥१॥

पुरवासियों के चले जाने पर, महाराज दशरथ ने फिर मंत्रियों के साथ परामर्श कर रामाभिषेक के काल के विषय में इस प्रकार निश्चय कर (मन्त्रियो से कहा) ॥१॥

श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः ।
रामो राजीवताम्राक्षो यौवराज्य इति प्रभुः ॥२॥

---

१ निश्चयम्—रामाभिषेककालविषयम् । (रा०)

(अगले दिन) कल ही पुष्य नक्षत्र है, अतः कमललोचन हमारे पुत्र श्रीरामचन्द्र का युवराजपद पर अभिषेक कल अवश्य हो जाना चाहिए ॥२॥

अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा ।
*सूतमाज्ञापयामास रामं पुनरिहानय ॥३॥

(यह कह मन्त्रियों को बिदा किआ। केवल सुमंत्र के साथ) महाराज दशरथ अन्त.पुर में गए और सुमंत्र को आज्ञा दी कि, श्रीराम को फिर हमारे पास ले आओ ॥३॥

प्रतिगृह्य स तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ ।
रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः ॥४॥

सुमन्त्र महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य कर, श्रीराम जी को पुन बुला लाने के लिए शीघ्र श्रीराम जी के भवन को गए ॥४॥

द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः ।
श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत् ॥५॥

जब द्वारपालों ने, श्रीरामचन्द्र जी से उनके बुलाने के लिए सुमन्त्र के पुनः आने का संवाद कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी सुमन्त्र के पुनः बुलाने के लिए आने का संवाद सुन, मन में शङ्कित हुए ॥५॥

प्रवेश्य चैनं त्वरितं रामो वचनमब्रवीत् ।
यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्‌ब्रूह्यशेषतः ॥६॥

किन्तु तुरन्त ही सुमन्त्र को सामने लाने की द्वारपालों को आज्ञा दी और सुमंत्र के सामने आने पर उनसे पूँछा कि आपका आगमन जिस कारण हुआ है सो सब कहिए ॥६॥

* सूतमामन्त्रयामास ।

तमुवाच ततः सूतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
श्रुत्वा प्रमाणमत्र त्वं गमनायेतराय वा ॥७॥

सुमंत्र ने उत्तर दिया—महाराज आपको देखना चाहते हैं। आगे आप जैसा उचित समझें करें ॥७॥

इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽथ त्वरयान्वितः ।
प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम् ॥८॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी शीघ्रतापूर्वक महाराज दशरथ के महल में उनसे फिर मिलने को गए ॥८॥

तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः ।
प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम् ॥९॥

श्रीरामचन्द्र जी का आगमन सुन, महाराज दशरथ, उनसे कुछ (गुप्त रूप मे) बातचीत करने के लिए, उन्हें अपने निजगृह (खास कमरे) मे ले गए ॥९॥

प्रविशन्नेव च श्रीमान् राघवो भवनं पितुः ।
ददर्श पितरं दूरात्प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥१०॥

श्रीरामचन्द्र जी ने पिता के भवन मे प्रवेश करते समय दूर ही से महाराज को देख हाथ जोड़ प्रणाम किया ॥१०॥

प्रणमन्तं समुत्थाप्य तं परिष्वज्य भूमिपः ।
प्रदिश्य चास्मै रुचिरमासनं पुनरब्रवीत् ॥११॥

(फिर जब वे पिता के समीप पहुँचे, तब उन्होंने पृथिवी पर गिर कर, प्रणाम किया) प्रणाम करते हुए, श्रीरामचन्द्र जी

को उठा अपने हृदय से लगा और बैठने को आसन दे, महाराज उनसे बोले ॥११॥

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा मयेप्सिताः ।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैस्तथेष्टं भूरिदक्षिणैः ॥१२॥

हे राम! हम अब बूढ़े हो गए हैं। हमने बहुत दिनो राज्य कर के मनमाने सुख भोगे तथा अन्न दान पूर्वक विपुल दक्षिणा दे कर, सैकड़ो यज्ञ भी किए ॥१२॥

जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि ।
दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम ॥१३॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! पृथिवी तल पर उपमारहित तुम जैसे सुपुत्र को पाकर मेरा दान देना और वेदाध्ययन करना सार्थक हुआ। अथवा मेरे तुम जैसे अनुपम पुत्र उत्पन्न हुए। हे नरश्रेष्ठ! मैंने मनमाने दान दिए, यज्ञ किए और वेदाध्ययन भी किआ ॥१३॥

अनुभूतानि चेष्टानि मया वीरसुखान्यपि ।
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः ॥१४॥

हे वीर! जहाँ तक सुखभोग हो सकता है मैंने भोगा अथवा अब भोगने के लिए कोई सुख शेष नहीं रहा। मै देव, ऋषि, पितृ, ब्राह्मण तथा आत्म-ऋणो से मुक्त हो चुका हूँ। (यज्ञ, अध्ययन, पुत्रोत्पादन, दान तथा उत्तम पदार्थो का भोग, उक्त ऋणो से छूटने के क्रमागत उपाय हैं।) ॥१४॥

न किञ्चिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात् ।
अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥१५॥

अब केवल तुम्हारे अभिषेक को छोड मुझे अन्य कोई भी काम करना शेष नही रहा। अतएव अब मैं जो तुमसे कहता हूँ, उसे तुम करो ॥१५॥

अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम्।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ १६ ॥

अब प्रजा जनो की यह इच्छा है कि, तुम उनके राजा बनो। हे वत्स! इसी लिए मैं तुम्हारा युवराज पद पर अभिषेक करता हूँ ॥१६॥

अपि चाद्याशुभान् राम स्वप्ने पश्यामि दारुणान्।
सनिर्घाता महोल्काश्च पतिता हि महास्वनाः ॥१७॥

(किन्तु इस मेरी चाहना के पूरे होने में मुझे विघ्न पड़ता हुआ देख पड़ता है, क्योंकि) कुछ दिनो से रात में मुझे बड़े भयङ्कर और अशुभ स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं। आकाश से बड़े भीषण शब्द के साथ वज्रपात के साथ उल्कापात होते हैं ॥१७॥

अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणैर्ग्रहैः।
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥ १८ ॥

हे राम! मेरे जन्म नक्षत्र को बुरे ग्रहो ने घेर रखा है। ज्योतिषियो का कहना है कि, सूर्य, मङ्गल, राहु का जन्म नक्षत्र को घेरना अच्छा नहीं ॥१८॥

[टिप्पणी—आधुनिक कतिपय आलोचकों का मत है कि, भारतवर्ष में प्राचीनकाल मे फलित ज्योतिष का प्रचार नही था। फलितज्योतिष भारतवासियों ने मुसलमानों से सीखा। किन्तु इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि, रामायणकाल में भारतवर्ष में फलितज्योतिष माना जाता था और तत्कालीन

राजागण ज्योतिषियों के बतलाए फलों पर आस्थावान् थे और ज्योतिषियों के बतलाए फल भी मिला करते हैं ।]

प्रायेण हि निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे ।
राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां वाऽऽपदमृच्छति ॥१९॥

प्रायः ऐसा बुरा योग होने पर या तो राजा की मृत्यु होती है, अथवा उस पर कोई भारी विपत्ति पड़ती है ॥१९॥

तद्यावदेव मे चेतो न विमुञ्चति राघव ।
तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः ॥२०॥

सो हे राघव ! मैं चेत में रहते हुए ही (अर्थात् जब तक मेरे होश हवाश दुरुस्त हैं) तुम्हारा अभिषेक कर देना चाहता हूँ । क्योंकि मनुष्य की मति का कुछ भरोसा नहीं ॥२०॥

अद्य चन्द्रोऽभ्युपगतः पुष्यात्पूर्वं पुनर्वसू ।
श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः ॥२१॥
तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम् ।
श्वस्त्वाऽहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परन्तप ॥२२॥

ज्योतिषियों ने बतलाया है कि, आज पुनर्वसु नक्षत्र है, कल पुष्य नक्षत्र आवेगा और पुष्य नक्षत्र अभिषेक के लिए अच्छा है। मैं तुम्हारे अभिषेक के लिए व्यग्र हो रहा हूँ । अतः मेरी इच्छा है कि, कल ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय ॥२१॥२२॥

तस्मात्त्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना ।
सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥२३॥

अतः आज ही से तुम सस्त्रीक नियमानुसार व्रत उपवास करके पत्थर की चौकी पर कुश बिछा कर शयन करना ॥२३॥

सुहृदश्चाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः ।
भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥२४॥

आज सावधानता पूर्वक चारों ओर से तुम्हारी रक्षा करना, तुम्हारे मित्रों का कर्त्तव्य है। क्योंकि ऐसे कार्यों में अनेक प्रकार के विघ्न होने की सम्भावना बनी रहती है ॥२४॥

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥२५॥

भरत इस समय अपने मामा के घर हैं, सुतरां उसके लौटने के पूर्व ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय, मेरी यही इच्छा है ॥२५॥

[टिप्पणी—भरत के ननिहाल से लौटने के पूर्व ही राम का अभिषेक हो जाय—यह कथन रहस्यमय है। स्थानान्तर में कहा गया है कि वृद्धावस्था में युवती कैकेयी के साथ विवाह करने के बाद महाराजा दशरथ ने प्रणय में कहा था कि कैकेयी का पुत्र अयोध्या की राजगद्दी का अधीश्वर होगा। क्योंकि उस समय किसी अन्य रानी के कोई सन्तान नहीं हुई थी। अब ज्येष्ठ राजकुमार कौसल्या के गर्भ से है। अतः कैकेयी कहीं उस बात का स्मरण कर भरत को भड़का न दे—यह उसी का सक्षेप है।

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः ।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥२६॥

क्योंकि यद्यपि तुम्हारे भाई भरत सज्जन हैं, बड़े भाई के कथनानुसार चलने वाले हैं, धर्मात्मा, दयालु और जितेन्द्रिय हैं ॥२६॥

किन्तु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतिः ।
सतां तु धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघव ॥२७॥

तथापि मेरी समझ में मनुष्यों का मन चञ्चल हुआ करता है और धार्मिक एवं साधु पुरुषों का मन भी (सदा तो नहीं; किन्तु कभी कभी कारण विशेष उपस्थित होने पर) चलायमान हो जाता है ॥२७॥

इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
व्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद्गृहम् ॥२८॥

महाराज दशरथ ने कहा—अतएव कल तुम्हारा अभिषेक होगा। अब अपने भवन को जाओ। पिता की ऐसी आज्ञा पा और पिता को प्रणाम कर श्रीरामचन्द्र जी अपने भवन को गए ॥२८॥

[टिप्पणी—ये बातें सब के सामने कहने की न थीं—अतः महाराज ने राम को दुबारा बुलाया था। और उन्हें अपने खास कमरे में ले गए थे]

प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञोद्दिष्टेऽभिषेचने ।
तत्क्षणेन च निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥२९॥

अपने घर पर पहुँच कर श्रीरामचन्द्र जी ने चाहा कि, जानकी जी से वे सब नियम जो महाराज ने बतलाए हैं और कर्त्तव्य हैं, बतला दें, किन्तु वहाँ सीता जी को न पा कर वे तुरन्त वहाँ से अपनी माता के भवन में चले गए ॥२९॥

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम् ।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥३०॥

वहाँ जा कर देखा कि, माता कौसल्या जी रेशमी साड़ी पहने हुए, देवमन्दिर में बैठी हुई और मौनव्रत धारण किए हुए श्रीराम जी के अभ्युदय के लिए (अथवा राजलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए) प्रार्थना कर रही हैं ॥३०॥

प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा ।
सीता च नायिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥३१॥

श्रीराम जी के अभिषेक का वृत्तान्त सुन सुमित्रा जी व लक्ष्मण जी पहले ही से वहाँ पहुँच चुके थे। कौसल्या जी ने यह संवाद सुन सीता जी को भी बुलवा लिआ था और वे भी उस समय उनके पास बैठी थी ॥३१॥

तस्मिन् काले हि कौसल्या तस्थावामीलितेक्षणा ।
सुमित्रयाऽन्वास्यमाना सीतया लक्ष्मणेन च ॥३२॥
श्रुत्वा पुष्येण पुत्रस्य यौवराज्याभिषेचनम् ।
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥३३॥

जिस समय श्रीराम जी वहाँ पहुँचे, उस समय कौसल्या जी, पुत्र का पुष्य नक्षत्र मे अभिषेक किए जाने का सवाद सुन, आँख मूँद कर पुराणपुरुष नारायण का ध्यान कर रही थीं और सुमित्रा जी, लक्ष्मण जी और जानकी जी उनके पास बैठी हुई थी ॥३२॥३३॥

तथा सन्नियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च ।
उवाच वचनं रामो हर्षयस्तामिदं तदा ॥३४॥

उसी समय श्रीरामचन्द्र जी वहाँ पहुँचे और माता को प्रणाम कर और हर्षित हो कर कहने लगे ॥३४॥

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि ।
भविता श्वोऽभिषेकोऽयं यथा मे शासनं पितुः ॥३५॥

हे मा ! पिता जी ने मुझे प्रजापालन का कार्य करने की आज्ञा दी है। सो मुझे कल ही पिता की आज्ञा से राज्यभार ग्रहण करना होगा ॥३५॥

सीतयाऽप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह ।
एवमृत्विगुपाध्यायैः सह मामुक्तवान् पिता ॥३६॥

आप की बहू सीता को भी चाहिए कि आज रात मे मेरे साथ उपवास करे, क्योंकि वसिष्ठादि ऋपियो की सम्मति से पिता जी ने यही कहा है ॥३६॥

यानि यान्यत्र योग्यानि श्वोभाविन्यभिषेचने ।
तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय ॥३७॥

सो प्रातःकाल के अभिषेक सम्वन्धी मङ्गल स्नानादि जो कर्म करने हो, जनकनन्दिनी के साथ वे सव मुझसे करवाइए ॥३७॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभिकाङ्क्षितम् ।
हर्षबाष्पकलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥३८॥

यह सुन कर, चिरकाल से रामराज्याभिषेक की प्रतीक्षा करने वाली कौसल्या, नेत्र में आनन्द के आँसुओं को भर, श्रीरामचन्द्र जी से यह बोलीं ॥३८॥

वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः ।
ज्ञातीन्मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ॥३९॥

हे वत्स राम ! तुम चिरञ्जीवी हो । तुम्हारे वैरी नष्ट हो और तुम राजलक्ष्मी पा कर, मेरे और सुमित्रा के इष्ट वन्धुओं को हर्षित करो ॥३९॥

कल्याणे बत नक्षत्रे मयि जातोसि पुत्रक ।
येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥४०॥

हे वत्स ! तुम अच्छे नक्षत्र में उत्पन्न हुए हो जो तुमने अपने गुणो से अपने पिता महाराज दशरथ को प्रसन्न कर लिआ ॥४०॥

अमोघं[1] बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे ।
येयमिक्ष्वाकुराज्यश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥४१॥

मैंने इतने दिनों तक पुराणपुरुष कमलनयन नारायण के प्रीत्यर्थ जो व्रतोपवास किए, वे सब आज सफल हुए, जो यह इक्ष्वाकुवंश की राज्यश्री तुमको अब प्राप्त होने वाली है ॥४१॥

इत्येवमुक्तो मात्रेदं रामो भ्रातरमब्रवीत् ।
प्राञ्जलिं प्रह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥४२॥

माता की ये बातें सुन, श्रीरामचन्द्र जी अपने भाई लक्ष्मण जी से, जो हाथ जोड़े विनीत भाव से खड़े थे, मुसक्या कर बोले ॥४२॥

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुन्धराम् ।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता ॥४३॥

हे लक्ष्मण ! तुम मेरे साथ इस पृथिवी का पालन करो, क्योंकि तुम मेरे एक दूसरे आत्मा हो । इसीसे यह राज्यलक्ष्मी तुम्हारे पास आई है ॥४३॥

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च ।
जीवितं च हि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥४४॥

हे सौमित्रे । तुम यथेष्ट रूप से राज्य फल भोगो । मैं तुम्हारे ही लिए अपना जीवन और राज्य चाहता हूँ ॥४४॥

---

१ अमोघ—सफल । (गो०)

,,इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च ।
अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च जगाम स्वं निवेशनम् ॥४५॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण जी से यह कह और दोनों माताओं (अर्थात् कौसल्या और सुमित्रा) को प्रणाम कर और उनसे विदा हो, जानकी सहित अपने गृह में आए ॥४५॥

अयोध्याकाण्ड का चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

पञ्चमः सर्गः

—:०:—

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥१॥

उधर महाराज दशरथ राम से यह कह कि, कल तुम युवराज पद पर अभिषिक्त किए जाओगे, पुरोहित वसिष्ठ जी को बुला, उनसे बोले ॥१॥

गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन ।
श्रीयशोराज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रतम् ॥२॥

हे तपोधन ! आप श्रीरामचन्द्र के पास जाकर, उनके मङ्गल, यश और राज्य की प्राप्ति के लिए, उनसे पत्नी सहित उपवास करने को कहिए ॥२॥

तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदांवरः ।
स्वयं वसिष्ठो भगवान्ययौ रामनिवेशनम् ॥३॥

वैदिक कर्मकाण्ड वालों में श्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठ जी "बहुत, अच्छा" कह कर, स्वयं ही रामचन्द्र जी के घर गए ॥३॥

उपवासयितुं रामं मन्त्रवन्मन्त्रकोविदः ।
ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुदृढव्रतः ॥४॥

वसिष्ठ जी महाराज, ब्राह्मणों के चढ़ने योग्य (दो घोड़ो के रथ में बैठ व्रतधारी एवं मन्त्र के जानने वालो में प्रवीण श्रीरामचन्द्र को व्रत कराने के लिए गए ॥४॥

[टिप्पणी—उस काल मे ब्राह्मण दो घोड़ों के रथ पर ही बैठ कर निकला करते थे ।]

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम् ।
तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥५॥

श्वेत बादल के समान सफेद रङ्ग के, श्रीरामचन्द्रजी के भवन में वसिष्ठ जी पहुँचे और तीन ड्योढ़ियों तक रथ ही में बैठे हुए चले गए ॥५॥

तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससम्भ्रमः ।
मानयिष्यन्स मानार्हं निश्चक्राम निवेशनात् ॥६॥

वसिष्ठ जी का आगमन सुन, श्रीरामचन्द्र जी, बड़े हर्ष के साथ अति शीघ्रता से स्वागत करने योग्य मुनिराज का स्वागत एवं अभ्यर्थना करने को, अपने घर से निकले ॥६॥

अभ्येत्य त्वरमाणश्च रथाभ्याशं मनीषिणः ।
ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात्स्वयम् ॥७॥

और उचित रीति से उनका आदर करने के लिए, शीघ्रता पूर्वक वसिष्ठ जी के पास पहुँच और उनका हाथ पकड़, उनको रथ से स्वयं नीचे उतारा ॥७॥

[टिप्पणी—हाथ पकड़ कर बड़े को सवारी से उतारना यह प्रतिष्ठा सूचक प्राचीन पद्धति है ।]

स चैनं प्रश्रितं[1] दृष्ट्वा [2]संभाष्याभिप्रसाद्य च ।
प्रियार्हं हर्षयन् राममित्युवाच पुरोहितः ॥८॥

तब महर्षि वसिष्ठ जी श्रीरामचन्द्र जी का अपने प्रति आदर भाव देख और उनसे कुशल प्रश्न पूँछ तथा प्रसन्न हो, उनको आनन्दित कर कहने लगे ॥८॥

प्रसन्नस्ते पिता राम यौवराज्यमवाप्स्यसि ।
उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया ॥९॥

हे राम ! तुम्हारे पिता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं, कल तुम युवराज पद पाओगे । आज सीता सहित उपवास करो ॥९॥

प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः ।
पिता दशरथः प्रीत्या ययातिं नहुषो यथा ॥१०॥

जिस प्रकार प्रसन्न हो कर, राजा नहुष ने राजा ययाति को राज्य दिया था, उसी प्रकार महाराज दशरथ कल सवेरे युवराज पद पर तुमको अभिषिक्त करेंगे ॥१०॥

इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतम् ।
मन्त्रवित्कारयामास वैदेह्या सहितं मुनिः ॥११॥

यह कह कर वेदमन्त्रवित् मुनिराज ने नियतव्रत श्रीरामचन्द्र और सीता जी से उस रात्रि को उपवास करवाया ॥११॥

---

१ प्रश्रित—विनीत । (गो०) २ सम्भाष्य—कुशलप्रश्नकृत्वा । (गो०)

ततो यथावद्रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः ।
अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥१२॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने राजगुरु वसिष्ठ जी का भली भाँति आदर सत्कार किया। राजगुरु उसे ग्रहण कर और विदा हो, श्रीरामचन्द्र के घर से चले गए ॥१२॥

सुहृद्भिस्तत्र रामोऽपि सुखासीनः* प्रियंवदैः ।
सभाजितो[1] विवेशाथताननुज्ञाप्य सर्वशः ॥१३॥

इधर श्रीरामचन्द्र जी भी अपने सच्चे इष्टमित्रों के साथ आनन्द से बैठे हुए बातचीत करते रहे और फिर उनसे सम्मानित हो, तथा उन्हीं सब लोगो के कहने से घर के भीतर गए ॥१३॥

प्रहृष्टनरनारीकं रामवेश्म तदा बभौ ।
यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः ॥१४॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के घर मे प्रसन्नचित्त नरनारियों की भीड़ लग गई थी और उनके वहाँ एकत्रित होने से राजभवन की वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसी शोभा विकसित कमलो से भरे हुए सरोवर की मतवाले पक्षियो से होती है ॥१४॥

स राजभवनप्रख्या[2]त्तस्माद्रामनिवेशनात् ।
निःसृत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम् ॥१५॥

वसिष्ठ जी ने राजभवन सदृश श्रीरामभवन से निकल कर देखा कि, सब सड़के मनुष्यो से ठसाठस भरी हुई है ॥१५॥

---

१ सभाजितः—पूजित. । (रा०) २ प्रख्यं—सदृश ।(रा०)
* पाठान्तरे—सहासीनः ।

बृन्दवृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः ।
बभूवुरभिसंबाधाः कुतूहलजनैर्वृताः ॥१६॥

अयोध्या की चारो ओर की सडके श्रीरामचन्द्र के अभिषेकोत्सव को देखने के लिए उत्कण्ठित लोगो की भीड़ से भरी हुई थीं। आने जाने का रास्ता तक नहीं रह गया था ॥१६॥

जनवृन्दोर्मिसङ्घर्षहर्षस्वनवतस्तदा ।
बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निस्वनः ॥१७॥

मनुष्यो के दल के दल मारे हर्ष के कोलाहल करते हुए सड़कों पर चले जाते थे, उस समय उनका वह आनन्दपरिपूर्ण कोलाहल ऐसा जान पड़ता था मानो समुद्र गरज रहा हो ॥१७॥

सिक्तसंमृष्ट[1] रथ्या च तदहर्वनमालिनी ।
आसीदयोध्या नगरी समुच्छ्रितगृहध्वजा ॥१८॥

उस दिन अयोध्यापुरी की सब सड़के स्वच्छ और छिड़की हुई थी। उनकी दोनों ओर बडी लंबी लंबी पुष्पमालाएं बन्दनवार की तरह लटक रही थीं और प्रत्येक घर ध्वजापताकाओ से सुशोभित था ॥१८॥

तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाबलो जनः ।
रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः ॥१९॥

नगरी के स्त्री पुरुष, आबालवृद्ध श्रीराम जी का अभिषेक देखने की आकाङ्क्षा से यही चाह रहे थे कि, सूर्य कब उदय हो अर्थात् सवेरा जल्द हो ॥१९॥

---

१ समृष्टा—शोधिता। (रा०)

प्रजालङ्कारभूतं च जनस्यानन्दवर्धनम् ।
उत्सुकोऽभूज्जनो द्रष्टुं तमयोध्यामहोत्सवम् ।

प्रजा जनो के अलङ्कार रूप और आनन्द को बढ़ाने वाले उस महोत्सव को देखने के लिए सब लोग उत्सुक हो रहे थे ।।२०।।

एवं तं जनसंबाधं राजमार्गं पुरोहितः ।
व्यूहन्निव जनौघं तं शनै राजकुलं ययौ ।।२१।।

सड़को पर लोगो की भीड़ को बचाते हुए धीरे धीरे, राजपुरोहित वसिष्ठ जी राजमहल मे पहुँचे ।।२१।।

*सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरुह्य सः ।
समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव बृहस्पतिः ।।२२।।

वसिष्ठ जी श्वेत मेघ के शिखर के समान महल की अटारी पर चढ़ कर, महाराज दशरथ से वैसे ही मिले, जैसे बृहस्पति जी इन्द्र से मिलते हैं ।।२२।।

तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं नृपः ।
पप्रच्छ स च तस्मै तत्कृतमित्यभ्यवेदयत् ।।२३।।

वसिष्ठ जी को आते देख महाराज अपना आसन छोड़ खड़े हो गए और जिस लिए उनको रामचन्द्र जी के पास भेजा था सो पूँछा । उत्तर मे मुनि ने जो वहाँ हुआ था सो सब कह सुनाया ।।२३।।

तेन चैव तदा तुल्यं[१] सहासीनाः सभासदः ।
आसनेभ्यः समुत्तस्थुः पूजयन्तः पुरोहितम् ।।२४।।

---

१ तुल्य—तुल्यकालम् । (रा०)

* 'शुभाभ्रम्' पाठान्तरे ।

महाराज के सिंहासन से उठते ही, वहाँ पर जो दरबारी थे; वे भी उसी समय अपने अपने आसनो को छोड़ उठ खड़े हुए और वसिष्ठ जी का सम्मान किया ॥२४॥

गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातो मनुजौघं विसृज्य तम्।
विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव ॥२५॥

गुरु से पूँछ और दरबारियों को विदा कर, महाराज दशरथ अन्त.पुर को उसी प्रकार चले गए जिस प्रकार सिंह अपनी गुफा में चला जाता है ॥२५॥

तदग्र्यरूपं प्रमदाजनाकुलं
महेन्द्रवेश्मप्रतिमं निवेशनम्।
विदीपयंश्चारु विवेश पार्थिवः
शशीव तारागणसङ्कुलं नभः ॥२६॥

इति पञ्चमः सर्ग. ॥

इन्द्रभवन सदृश गृह में, जो भूषणों से अलङ्कृत युवतियों से भरा हुआ था, महाराज दशरथ ने प्रवेश किया और वे वहाँ ऐसे शोभित हुए जैसे तारानाथ (चन्द्रमा) तारों सहित आकाश मण्डल में सुशोभित होता है ॥२६॥

अयोध्याकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—.०.—

षष्ठः सर्गः

—.०.—

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः[1] ।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या *नारायणमुपागमत् ॥१॥

उधर वसिष्ठ जी के चले जाने बाद, श्रीरामचन्द्र जी और विशालाक्षी सीता दोनों स्नान कर (अर्थात् शरीर की शुद्धि कर) शुद्ध मन से श्रीरङ्गनाथ की उपासना मे लग गए ॥१॥

प्रगृह्य शिरसा पात्रीं हविषो विधिवत्तदा ।
महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितेऽनले ॥२॥

हविषमात्र को नमस्कार कर विधिपूर्वक, श्रीरामचन्द्र जी ने श्रीरङ्गनाथ के प्रीत्यर्थ, (अथवा नारायण मंत्र से) जलते हुए अग्नि में घी की आहुतियाँ दीं ॥२॥

शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्या[2]त्मनः प्रियम्[3] ।
ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशसंस्तरे ॥३॥

तदनन्तर हवन करने से बचे हुए हविष्यान्न को भक्षण कर, और अपने मङ्गल के लिए प्रार्थना कर और श्रीरङ्गनाथ भगवान का ध्यान करते हुए, कुशासन पर, ॥३॥

वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः ।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ॥४॥

---

१ नियतमानसः—मनःशुद्धि । (गो०) २ आशस्य प्रार्थ्य । (रा०)
३ आत्मनःप्रिय—राज्याभिषेकाविघ्नरूप । (रा०)

* नारायणइति श्रीरङ्गनायकउच्यते । (गो०

मौन धारण कर, शुद्ध मन से, जानकी जी सहित, राजकुमार श्रीरङ्गनाथ जी के मन्दिर में (जो उनके भवन में बना हुआ था) सो गए ॥४॥

एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः ।
अलङ्कारविधिं कृत्स्नं कारयामास वेश्मनः ॥५॥

फिर जब एक पहर रात शेष रही, तब वे उठे और नौकर चाकरों को, सारे भवन को साफ़ कर, सजाने की आज्ञा दी ॥५॥

तत्र शृण्वन् सुखा वाचः सूत[1]मागध[2]बन्दिनाम्[3] ।
पूर्वां सन्ध्या[4]मुपासीनो जजाप यतमानसः ॥६॥

सूतों, मागधों और बंदीजनों की सुखदायक वाणियों को सुनते हुए प्रात.सन्ध्योपासन कर, एकाग्रचित्त से गायत्री का जप करने लगे ॥६॥

तुष्टाव प्रणतश्चैव शिरसा मधुसूदनम् ।
विमलक्षौमसंवीतो वाचयामास च द्विजान् ॥७॥

सन्ध्योपासन और जप करके उन्होने सूर्यान्तर्वर्ती नारायण की स्तुति कर उनको प्रणाम किया। तदनन्तर नया रेशमी वस्त्र पहन और ब्राह्मणों को बुलवा कर, उनसे स्वस्तिवाचन और पुण्याहवाचन करवाया ॥७॥

तेषां पुण्याहघोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तदा ।
अयोध्यां पूरयामास तूर्यघोषानुनादितः ॥८॥

---

१ सूता.—पौराणिका. । (रा०) २ मागध—वंशावलीकीर्तका: । (रा०)
३ बन्दिन.—स्तुतिपाठका' । (रा०) ४ सन्ध्या—सन्ध्याधिदेवता सूर्य । (गो०)

ब्राह्मणों के पुण्याहवाचन का गम्भीर एवं मधुर शब्द, नगाड़ों के शब्द से मिल अयोध्या में प्रतिध्वनित होने लगा ॥८॥

कृतोपवासं तु तदा वैदेह्या सह राघवम् ।
अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः ॥९॥

अयोध्यावासी जन, सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी को (अभिषेकार्थ) उपवासादि नियमों का पालन करते हुए सुन, परमानन्दित हुए ॥९॥

ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ।
प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम् ॥१०॥

जब प्रातःकाल हो गया, तब सब पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक सुन, नगर सजाने के लिए कदली स्तम्भादि गाड़ने लगे ॥१०॥

सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च ।
चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च ॥११॥

अयोध्या मे जितने बड़े हिमालय के शिखरों के समान ऊँचे ऊँचे देवमन्दिर थे वे जितने चौराहों पर, चौक (हाट बाट) में सड़कों पर और गलियो मे ऊँचे ऊँचे मकान थे ॥११॥

नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च ।
कुटुम्बिनां समृद्धेषु श्रीमत्सु भवनेषु च ॥१२॥

तथा अनेक प्रकार की सौदागरी की वस्तुओ से भरी व्यवसाइयो की जितनी दूकानें थीं, जितने कुटुम्बीजनो के समृद्ध और भरे पूरे घर थे ॥१२॥

सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च ।
ध्वजाः समुच्छ्रिताश्चित्राः पताकाश्चाभवंस्तदा ॥१३॥

तथा जितने सभाभवन थे, तथा जितने ऊँचे ऊँचे वृक्ष थे, उन सब पर रग बिरंगी ध्वजपताकाएँ फहराई गई ॥१३॥

नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम् ।
मनःकर्णसुखा वाचः शुश्रुवुश्च ततस्ततः ॥१४॥

अयोध्या मे जगह जगह नटों नर्तको के मन को प्रसन्न करने वाला और कर्ण-मधुर गाना बजाना होने लगा और लोग सुनने लगे ॥१४॥

रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः ।
रामाभिषेके संप्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥१५॥

उस दिन हाट बाट, घर द्वार, भीतर बाहर, जहाँ सुनो वहीं लोग श्रीरामाभिषेक ही की आपस मे चर्चा करते सुन पड़ते थे ॥१५॥

बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः ।
रामाभिषेकसंयुक्ताश्चक्रुरेव मिथः कथाः ॥१६॥

घरो के द्वारो पर खेलती हुई बालको की टोलियो में भी आपस मे श्रीरामाभिषेक ही की चर्चा हो रही थी ॥१६॥

कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः ।
राजमार्गः कृतः श्रीमान् पौरै रामाभिषेचने ॥१७॥

उस दिन रामाभिषेक के उपलक्ष में (राज्य की ओर ही से नहीं, बल्कि प्रजा की ओर से भी) लोगो ने पुष्प, धूप और तरह

तरह की सुगन्ध से वासित कर राजमार्ग को अच्छी तरह सजाया था ॥१७॥

प्रकाशीकरणार्थं च निशागमनशङ्कया ।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः ॥१८॥

यह विचार कर कि, कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी के जलूस के उधर से निकलते समय कहीं रात न हो जाय—लोगों ने रोशनी करने के लिए सड़को पर अलग अलग सर्वत्र दीपवृक्ष अर्थात् पनशाखाएँ गाड़ रखी थीं या झाड़ फानूस टाँग रखे थे ॥१८॥

अलङ्कारं पुरस्यैवं कृत्वा तत्पुरवासिनः ।
आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् ॥१९॥

इस प्रकार नगर को सजाकर नगरवासी श्रीरामचन्द्र जी के युवराजपद पर अभिषिक्त किए जाने की प्रतीक्षा करने लगे ॥१९॥

समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च ।
कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम् ॥२०॥

झुंड के झुंड लोग एकत्र हो चबूतरो पर और बैठको में बैठ, आपस मे महाराज दशरथ की चर्चा चला, उनकी प्रशसा कर रहे थे ॥२०॥

अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
ज्ञात्वा यो वृद्धमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥२१॥

वे कहते थे कि, अहो ! देखो, इक्ष्वाकु कुलनन्दन महाराज दशरथ बड़े महात्मा हैं, जो अपने को वृद्ध हुआ जान, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक (स्वयं) कर रहे है ॥२१॥

सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः ।
चिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः ॥२२॥

हम सब लोगों पर (महाराज ने) यह बड़ा आग्रह किआ जो श्रीरामचन्द्र हम लोगों के राजा हो रहे हैं। भगवान् बहुत दिनों तक अपनी प्रजा का सब हाल जानने वाले और प्रजारक्षक श्रीरामचन्द्र को, हम लोगों का राजा बनाए रखे ॥२२॥

अनुद्धतमना विद्वान्धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः ।
यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः ॥२३॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी सरल स्वभाव, परमविज्ञ, धर्मात्मा और भाइयो पर कृपा रखने वाले हैं। वे अपने भाइयों पर सरल स्वभाव से जैसा स्नेह रखते हैं, वैसा ही स्नेह उनका हम लोगों के ऊपर भी है ॥२३॥

चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः ।
यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥२४॥

पापरहित और धर्मात्मा महाराज दशरथ की बड़ी उम्र हो। उन्हीं के अनुग्रह से आज हम श्रीरामचन्द्र को राज्याभिषिक्त देख सकेंगे ॥२४॥

एवंविधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुस्तदा ।
दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः ॥२५॥

रामराज्याभिषेक का सवाद सुन जो लोग बाहिर से आकर अयोध्या में एकत्र हुए थे, उन लोगों ने पुरवासियो की कही हुई ये बातें सुनीं ॥२५॥

ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम् ।
रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥२६॥

वे लोग चारो ओर के देशों से श्रीरामजी की अयोध्यापुरी में श्रीरामाभिषेकोत्सव देखने को आए थे। उन बाहिरी लोगो के आगमन से अयोध्यापुरी में लोगो की बड़ी भारी भीड़ हो गई थी ॥२६॥

जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निस्वनः ।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निस्वनः ॥२७॥

पूर्णमासी के दिन जिस प्रकार समुद्र गरजता है, उसी प्रकार का कोलाहल, आज अयोध्यापुरी में, बाहिर से आए हुए और चलते फिरते हुए लोग सुन रहे थे ॥२७॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं
दिदृक्षुभिर्जानपदैरुपागतैः ।
समन्ततः सस्वनमाकुलं बभौ
समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम् ॥२८॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

उस दिन अमरावती के समान अयोध्यापुरी को देखने के लिए जो लोग बाहिर से आए हुए थे, उन लोगो से उस पुरी की शोभा वैसी ही हो गई जैसी शोभा समुद्र की जलजन्तु (मत्स्य, कच्छ, नक्र) से होती है ॥२८॥

अयोध्याकाण्ड का छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

सप्तमः सर्गः

—:०:—

ज्ञातिदासी[1] यतोजाता[2] कैकेय्यास्तु सहोषिता ।
प्रासादं चन्द्रसङ्काशमारुरोह यदृच्छया ॥१॥

रानी कैकेयी की जाति की एक दासी थी जो उसके साथ उसके मायके से आई थी और सदा उसके साथ रहती थी। उसका नाम मन्थरा था, उस रात को, जिस दिन दरबार में श्रीराम-चन्द्र जी के युवराजपद पर प्रतिष्ठित करने की घोषणा महाराज दशरथ ने की थी वह अकस्मात् चन्द्रमा के समान सफेद अटारी की छत पर चढ़ी ॥१॥

सिक्तराजपथां रम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।
अयोध्यां मन्थरा तस्मात्प्रासादादन्ववैक्षत ॥२॥

उस अटारी पर चढ़ मन्थरा ने देखा कि, अयोध्या की सड़कों पर छिड़काव किया गया है और जगह जगह कमलपुष्पों की मालाएँ लटक रही हैं ॥२॥

पताकाभिर्वराहाभिर्ध्वजैश्च समलंकृताम् ।
वृतां छन्नपथैश्चापि शिरःस्नातजनैर्वृताम् ॥३॥

---

१ ज्ञातिदासी—कैकेय्याः ज्ञातीना बन्धूना दासी ॥ (वि०) २ यतो-जाता—यत्रकुत्रचित् जाता । (वि०)

ऊँचे मकानों पर बहुमूल्य ध्वजा पताकाएँ फहरा रही हैं। सडकों के गड्ढे आदि पाट कर वे चौरस कर दी गई हैं, लोगों के आने जाने में भीड़भाड़ न हो, अतः बड़े चौड़े चौड़े रास्ते बनाए गए हैं, जो सिर से स्नान किए हुए (अर्थात् तेल उपटन लगा कर स्नान किए हुए) दर्शकों से भरे हुए हैं ॥३॥

माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम् ।
शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनिस्वनाम् ॥४॥

श्रीरामचन्द्र जी को भेट मे देने के लिए माला लड्डू (आदि शुभ वस्तुएँ) लिए श्रेष्ठ ब्राह्मण घूम रहे हैं। देवमन्दिरो के द्वार (कलई आदि से) सफेद पोते गए हैं, जहाँ देखो वहाँ बाजे बज रहे है ॥४॥

संप्रहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषाभिनादिताम् ।
[1]प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां संप्रणर्दितगोवृषाम् ॥५॥

सब लोग उत्सव में मत्त हैं, चारो ओर वेदध्वनि हो रही है। मनुष्यो का तो कहना ही क्या, हाथी, घोड़े गौ, बैल तक आनन्द में भर हर्षध्वनि कर रहे हैं ॥५॥

प्रहृष्टमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम् ।
अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता ॥६॥

अयोध्यावासी आनन्दमग्न हो घूम रहे हैं। बड़ी बड़ी लबी पताकाएँ फहरा रही हैं और मालाएँ बँधी हुई हैं। इस प्रकार

---

१ प्रहर्षोत्फुल्लनं न्तमित्यादिविशेषणादिचरामोपमाता । (भू०)

की सजी हुई अयोध्यापुरी को देख मन्थरा को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥६॥

प्रहर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम् ।
अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा ॥७॥

अति हर्षित और सफेद रेशमी साड़ी पहिने हुए श्रीरामचन्द्र की धात्री (उपमाता) से, जो पास ही खड़ी थी, मन्थरा पूँछने लगी ॥७॥

उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती ।
राममाता धनं किं नु जनेभ्यः सम्प्रयच्छति ॥८॥

आज हर्ष में भरी मालदार सती राममाता कौसल्या लोगों को धन क्यों बाँट रही है ? ॥८॥

अतिमात्रप्रहर्षोऽयं किं जनस्य च शंस मे ।
कारयिष्यति किं वापि संप्रहृष्टो महीपतिः ॥९॥

अयोध्यावासियों के अत्यानन्दित होने का कारण क्या है ? महाराज भी अत्यन्त प्रसन्न हैं—सो वे क्या काम करवाने वाले हैं ? ॥९॥

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परया मुदा ।
आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवश्रियम् ॥१०॥

मन्थरा के इस प्रकार पूँछने पर वह धात्री जो मारे आनन्द के फूल कर कुप्पा हो रही थी, श्रीरामचन्द्र की महती राज्यश्री लाभ का समाचार कुबड़ी मन्थरा से कहने लगी ॥१०॥

श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन राघवम् ।
राजा दशरथो राज्यमभिषेचयितानघम् ॥११॥

उसने कहा कल प्रातःकाल होते ही पुष्य नक्षत्र में जितक्रोध एवं पुण्यात्मा श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ युवराजपद पर स्थापित करेंगे ॥११॥

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्पिता ।
कैलासशिखराकारात्प्रासादादवरोहत ॥१२॥

धात्री के ये वचन सुन कुबड़ी दाह में भर कैलास पर्वत के शिखर के समान ऊँचे महल से उतरी ॥१२॥

सा दह्यमाना कोपेन मन्थरा पापदर्शिनी ।
शयानामेत्य कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥१३॥

वह पापिन क्रोध में जली भुनी (शयनागार में जा कर) सोती हुइ कैकेयी (को जगा कर उस) से बोली ॥१३॥

उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते ।
उपप्लुतं[1]मघौघेन[2] किमात्मानं न बुध्यसे ॥१४॥

हे मूढ़े! उठ, पड़ी पड़ी क्या सोती है? तेरे लिये तो बड़ा भारी भय आ उपस्थित हुआ है। क्या तू अपने दुःख को भी नहीं समझती ॥१४॥

अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे ।
चलं[3] हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे ॥१५॥

---

१ उपप्लुतं—उपहत । (गो०) २ अघौघेन—अघ दुःखं । (गो०)
३ चल—क्षीणमित्यर्थः । (गो०)

हे सुन्दरी! तू अपने जिस सौभाग्य के बल पर भूली हुई है, वह तेरा भाग्य ग्रीष्म ऋतु में नदी के सोते की तरह अब क्षीण हो चला है ॥१५॥

एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः ।
कुब्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत्परम् ॥१६॥

पापिन कुब्जा के क्रोध से भरे ऐसे रूखे वचन सुन कैकेयी को बड़ा दुःख हुआ ॥१६॥

कैकेयी त्वब्रवीत्कुब्जां कच्चित्क्षेमं न मन्थरे ।
विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ॥१७॥

कैकेयी ने उससे कहा—हे मन्थरे! बतला कुशल तो है? तूने क्यों अपना चेहरा इतना उदास कर रखा है और तू क्यों इतनी दुखी हो रही है? ॥१७॥

मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम् ।
उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ॥१८॥

कैकेयी के ऐसे सहानुभूतिपूर्ण वचन सुन, बात बनाने में निपुण मन्थरा ने बिगड़ कर कहा ॥१८॥

सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्या हितैषिणी ।
विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ॥१९॥

उसने अपना चेहरा बड़ा ही उदास बना कर और अपने को कैकेयी की परमहितैषिणी जनाते हुए तथा श्रीरामचन्द्र जी के विषय में भेदबुद्धि उत्पन्न कर, झगड़ा कराने को कहा ॥१९॥

अक्षय्यं सुमहद्देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम् ।
रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥२०॥

हे देवी! अब तेरे सत्यानाश का समय आ पहुँचा है। महाराज दशरथ रामचन्द्र को युवराज बनाना चाहते हैं ॥२०॥

साऽस्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता ।
दह्यमानाऽनलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता ॥२१॥

सो मैं अथाह भय में डूबी और दुःख एवं शोक से पूर्ण मानों आग से जलाई हुई, तेरे हित के लिए यहाँ आई हूँ ॥२१॥

तव दुःखेन कैकेयि मम दुखं महद्भवेत् ।
त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदत्र न संशयः ॥२२॥

हे कैकेयी तेरे दुःख से तो मै दुःखी होती हूँ और तेरे सुख से मैं सुखी होती हूँ। इसमें कुछ भी सन्देह नही है ॥२०॥

नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः ।
उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुध्यसे ॥२३॥

देख, तू बड़े राजकुल की बेटी है और महाराज दशरथ की पटरानी हो कर भी राजनीति की कुटिल चाले क्यो नही समझती ॥२३।

धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः ।
शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसन्धिता ॥२४॥

तेरा पति दिखाने को तो बड़ा सत्यवादी बना हुआ है, किन्तु भीतर से महा धूर्त है। वह बोलता मधुर है, किन्तु मन उसका



रानी कैकेयी और मथरा

बड़ा कठोर है। तू मन की साफ है—इसीसे तेरे ऊपर यह विपत्ति आई है ॥२४॥

उपस्थितं प्रयुञ्जानस्त्वयि सान्त्वमनर्थकम् ।
अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति ॥२५॥

महाराज जब तेरे पास आते हैं, तब झूठी बातें बना और समझा बुझा कर तुझे अपने वश में कर लेते हैं। परन्तु देख महाराज, कौसल्या ही के पुत्र को सर्वस्व दे कर, उसे ही सब की स्वामिनी बनाना चाहते हैं ॥२५॥

अपवाह्य स दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु ।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥२६॥

उस दुष्टात्मा ने भरत को तो तेरे माता पिता के घर भेज दिया और वह (अब) निष्कण्टक राजसिंहासन पर कल प्रातःकाल श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना चाहता है ॥२६॥

शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया ।
आशीविष इवाङ्केन बाले परिहृतस्त्वया ॥२७॥

तूने पति के धोखे से अपने शत्रु को वैसे ही अपनी गोद में बिठा रखा है, जैसे कोई स्त्री (पुत्र के धोखे में) सर्प को गोद में रख ले ॥२७॥

यथा हि कुर्यात्सर्पो वा शत्रुर्वा प्रत्युपेक्षितः ।
राज्ञा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥२८॥

जिस प्रकार सर्प या शत्रु की उपेक्षा करने वाले पालन कर्ता के साथ सर्प शत्रूचितव्यवहार करता है, उसी प्रकार का व्यवहार आज दशरथ ने तेरे और तेरे पुत्र के साथ किया है ॥२८॥

पापेनानृतसान्त्वेन बाले नित्यसुखोचिते ।
रामं स्थापयता राज्ये सानुबन्धा हता ह्यसि ॥२९॥

इस पापी झूठमूठ समझाने बुझाने वाले राजा ने, रामचन्द्र को राजसिंहासन पर बिठा कर, पुत्रबान्धवादि सहित तुझे, जो नित्य सुख भोगने योग्य है, मानो मार डाला है ॥२९॥

सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव ।
त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मय[1]दर्शने ॥३०॥

हे अजीब बुद्धि वाली! ऐसी विपत्ति पूर्ण घटना को सुन कर भी उपेक्षा सी करने वाली ऐ कैकेयी! देख अब भी समय है। अतएव जो कुछ तुझे अपनी भलाई के लिए करना हो सो तुरन्त कर डाल और अपने पुत्र को, अपने को और मुझे बचा ॥३०॥

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात्सा शुभानना ।
उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥३१॥

मन्थरा के वचन सुन, सुन्दर कैकेयी शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह हर्ष में भर, शय्या से उठ बैठी ॥३१॥

अतीव सा तु संहृष्टा कैकेयी विस्मयान्विता ।
एकमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥३२॥

और अत्यन्त हर्षित और आश्चर्ययुक्त हो, कैकेयी ने अपना एक बहुमूल्य उत्तम गहना, कुब्जा को दिया ॥३२॥

दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा ।
कैकेयी मन्थरां दृष्ट्वा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥३३॥

---

१ विस्मयदर्शने—आश्चर्यविहज्ञानयुक्ते । (गो०)

युवतियो में श्रेष्ठ कैकेयी, अपना आभूषण मन्थरा को दे कर और उसकी ओर देख कर उससे बोली ॥३३॥

इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यासि परमं प्रियम् ।
एतन्मे प्रियमाख्यातं भूयः किं वा करोमि ते ॥३४॥

हे मन्थरे! यह तो तूने बडे ही हर्ष का समाचार सुनाया। इस सुखसवाद को सुनाने के बदले, वतला और मै तेरा क्या उपकार करूँ? अर्थात् और क्या दूँ ॥३४॥

रामे वा भरते वाऽहं विशेषं नोपलक्षये ।
तस्मात्तुष्टाऽस्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥३५॥

मै राम और भरत मे कोई विशेष भेद नहीं देखती—अतः महाराज यदि श्रीरामचन्द्र को राज्य देते है, तो मुझे उनके इस कार्य से सन्तोष है ॥३५॥

न मे परं किञ्चिदितस्त्वया पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचो वरम् ।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं ।
परं वरं ते प्रददामि तं वृणु ॥३६॥

इति सप्तम सर्गः ॥

हे प्रिये! इस (रामराज्याभिषेक सूचक) वचन-रूपी अमृत से बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु मुझे प्रिय नही है। अतएव (इस पारितोपिक के अतिरिक्त) और जो कुछ तू माँगे सो कह अभी तुझे मैं देती हूँ ॥३६॥

अयोध्याकाण्ड का सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

अष्टमः सर्गः

—:※:—

मन्थरा त्वभ्यसूयैनामुत्सृज्याभरणं च तत् ।
उवाचेदं ततो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता ॥१॥

कैकेयी का यह वचन सुन और अनादर के साथ उस आभूषण को फेंक कर मन्थरा बड़े क्रोध और दुःख के साथ कहने लगी ॥१॥

हर्षं किमिदमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे ।
शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवबुध्यसे ॥२॥

हे मूर्खे! तू शोक की जगह हर्षित क्यों होती है ? क्या तुझे यह नहीं सूझ पड़ता कि, तू शोकसागर में डूबी जा रही है ॥२॥

मनसा प्रहसामि त्वां देवि दुःखार्दिता सती
यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्येदं व्यसनं महत् ॥३॥

मुझे तो मन ही मन तेरी बुद्धि पर हँसी आती है कि, अत्यन्त दुःखी होने का कारण उपस्थित होने पर भी तू शोक न कर, प्रसन्न हो रही है ॥३॥

शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत् ।
अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् ॥४॥

मुझे तेरी दुर्बुद्धि पर तरस आता है, क्या कोई भी समझदार स्त्री अपनी सौत के पुत्र की, अपने लिए मृत्यु के समान उन्नति देख, प्रसन्न हो सकती है ? ॥४॥

भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद्भयम् ।
तद्विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते ॥५॥

जिस प्रकार राज्य पर रामचन्द्र का स्वत्व है, इसी प्रकार भरत का भी है। इसीलिए राम को भरत का डर है और यह ठीक भी है, क्योंकि जो जिससे डरता है, उसको उसका डर रहता ही है। मुझे यही सोच कर बड़ा खेद है। (क्योंकि जब राम राजा होंगे, तब वे अपने भय के कारण भरत को अवश्य ही दूर कर देंगे अर्थात् मरवा डालेंगे) ॥५॥

लक्ष्मणो हि महेष्वासो रामं सर्वात्मना गतः ।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥६॥

(राम को भरत ही का इतना भारी खटका क्यों है? लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी तो राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं? इसके समाधान में मन्थरा कहती है) लक्ष्मण जी सब प्रकार से श्रीरामचन्द्र के अनुवर्ती अर्थात् आज्ञाकारी हैं (अर्थात् लक्ष्मण चूँ नहीं कर सकते)। शत्रुघ्न जी उसी प्रकार भरत के सर्वथा अनुवर्ती हैं, जिस प्रकार लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के। (अत. जब भरत जी को श्रीराम मारेंगे तब शत्रुघ्न भी उनका साथ देने पर अवश्य मारे जायँगे। अत श्रीरामचन्द्र जी के प्रतिस्पर्धी केवल भरत हैं) ॥६॥

त्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि ।
राज्यक्रमो विप्र कृष्टस्तयोस्तावद्यवीयसोः ॥७॥

फिर उत्पत्ति के क्रमानुसार भरत ही को राज्य मिलना च॥६९। यदि राज्यक्रम का त्याग किया जाय तो, इस क्रम से भी राज्य भरत ही को मिलना उचित है ॥७॥

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः[१] ।
भयात्प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥८॥

श्रीरामचन्द्र जी राजनीति-विशारद हैं। परम चतुर तथा समयानुसार तुरन्त कार्य करने वाले हैं। अतः भरत को रामचन्द्र जी से भय समझ—मैं भयभीत हो काँप रही हूँ। (अर्थात् राम चतुर हैं और भरत वृद्ध हैं, अत. भरत को राम सहज मे पराजित कर सकते हैं।) ॥८॥

सुभगा खलु कौसला यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते।
यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥९॥

इस समय तो कौसल्या का भाग्य जागा है, जिसके पुत्र रामचन्द्र का युवराजपद पर प्रातःकाल पुष्य नक्षत्र मे ब्राह्मण लोग अभिषेक करवावेंगे ॥९॥

प्राप्तां सुमहतीं प्रीतिं प्रतीतां तां हतद्विषम् ।
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीव त्वं कृताञ्जलिः ॥१०॥

तुझे उस कौसल्या के सामने, जो सब पृथिवी की स्वामिनी होगी और जिसके सब शत्रु मारे जायेंगे, हाथ जोड़ कर दासी की तरह खड़ा रहना पड़ेगा ॥१०॥

एवं चेत्त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि ।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यभावं गमिष्यति ॥११॥

---

१ प्राप्तिकारिणः—अविलम्बेनकालोचितकर्तव्यार्थकारिणः। (गो०)

इस तरह केवल तू ही नहीं प्रत्युत तेरी अधीन रहने वाली मुझे भी कौसल्या की दासी और भरत को राम का टहलुआ बन जाना पड़ेगा ॥११॥

हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः ।
अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये[1] ॥१२॥

इससे राम जी की स्त्री तथा उसकी सखियाँ परमानन्दित होंगी और भरत को राज्य न मिलने से अथवा उनका प्रभाव नष्ट होने पर तेरी पुत्रवधू को भी बड़ा दुःख होगा ॥१२॥

तां दृष्ट्वा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः ।
रामस्यैव गुणान्देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥१३॥

मन्थरा को इस प्रकार बड़ी प्रसन्नता के साथ ऐसे वचन कहते (अर्थात् राम की निन्दा करते) हुए देख, देवी कैकेयी श्रीरामचन्द्र के गुणों का बखान कर कहने लगी ॥१३॥

धर्मज्ञो गुरुभिर्दान्तः कृतज्ञः सत्यवाक्शुचिः ।
रामो राज्ञः सुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥१४॥

श्रीरामचन्द्र अत्यन्त धर्मज्ञ, गुरुओं से सुन्दर शिक्षा पाए हुए, बड़े कृतज्ञ, सत्यवादी, परम पवित्रता से रहने वाले और महाराज के ज्येष्ठ पुत्र हैं। अतएव सब प्रकार से वे ही यौवराज्य पाने के योग्य हैं ॥१४॥

भ्रातॄन्भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत्पालयिष्यति ।
सन्तप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥१५॥

१ भरतक्षये—भरतप्रभावनाशे। (रा०)

रामचन्द्र दीर्घायु हो वे अपने भाइयों और नौकर चाकरों * वैसे ही पालन करेंगे जैसे पिता अपने पुत्रों का पालन करता है अतएव हे मन्थरे! तू रामचन्द्र के अभिषेक का समाचार सुन, क्यो जली भुनी जा रही है? ॥१५॥

भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात्परम्।
पितृपैतामहं राज्यं प्राप्नुयात्पुरुषर्षभः ॥१६॥

भरत भी श्रीरामचन्द्र जी के राजसिंहासन पर बैठने के सौ वर्षो बाद अवश्य अपने पितृपितामहादिको का राज्य पावेंगे ॥१६॥

सा त्वमभ्युदये प्राप्ते वर्तमाने च मन्थरे।
भविष्यति च कल्याणे किमर्थं परितप्यसे ॥१७॥

हे मन्थरे! तू इस उत्सव के समय जिससे सब का कल्याण होगा, क्यों जली जाती है? ॥१७॥

यथा मे भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च सोऽनुशुश्रूषते हि माम् ॥१८॥

मुझको जैसे भरत प्यारे हैं, वैसे ही राम भी हैं। वे तो कौसल्या से बढ़ कर मेरी ही सेवा शुश्रूषा करते हैं ॥१८॥

*राज्यं च यदि रामस्य भरतस्यापि तत्तथा।
मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातॄंस्तु राघवः ॥१९॥

यदि राम ही राज्य पावेंगे तो भी वह राज्य भरत ही का है, क्योंकि रामचन्द्र अपने समान ही अपने भाइयों को भी मानते हैं ॥१९॥

---

* पाठान्तरे—राज्ययदि हि।

कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता ।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥२०॥

कैकेयी की बातें सुन मन्थरा बहुत दुःखी हुई और लंबी साँस ले कैकेयी से यह बोली ॥२०॥

अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुध्यसे ।
शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥२१॥

अनर्थ को अर्थ समझने वाली अरी मूर्खा! शोक के महासागर मे बूड़ती हुई भी तू अपने को नहीं समझती ॥२१॥

भविता राघवो राजा राघवस्यानु यः सुतः ।
राजवंशात्तु कैकेयी भरतः परिहास्यते ॥२२॥

जब रामचन्द्र राजा होंगे तब उनके पीछे उनका पुत्र राजा होगा (या भरत?) भरत तो राज्य से वञ्चित ही रहेंगे। अथवा भरत राजवंश से भ्रष्ट हो जायँगे ॥२२॥

न हि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि ।
स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥२३॥

राजा के सब पुत्र कहीं राजसिंहासन पर नहीं बैठते और यदि कहीं बैठाए जाते होते तो बड़ा अनर्थ होता ॥२३॥

तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः ।
स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि ॥२४॥

हे कैकेयी! इसी लिए राजा लोग बड़े पुत्र को राज्यशासन का भार सौंपते हैं। (हाँ, उस दशा में जब बड़ा बेटा गुणवान

नहीं होता और) छोटा बेटा गुणवान् होता है तब वह भी रा होता है। किन्तु राज्य दिया एक ही को जाता है।।२४।।

असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति ।
अनाथवत्सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ।।२५।।

(सो राम के राजा होने पर) तेरा पुत्र भरत सब प्रकार से सब सुखों से वञ्चित हो, अनाथ दुःखियों की तरह राजवंश अलग कर दिया जायगा ।।२५।।

साऽहं त्वदर्थे संप्राप्ता त्वं तु मां नावबुध्यसे ।
सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमिच्छसि ।।२६।।

अतः मैं तुझे तेरी भलाई बतलाने के लिए आई हूँ, कि तू कुछ समझती बूझती ही नहीं। यदि तू समझती बूझती होती तो क्या सौत की बढ़ती सुन, मुझे गहना पुरस्कार में देती ? ।।२६।।

ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्त राज्यमकण्टकम् ।
देशान्तरं वा नयिता लोकान्तरमथापि वा ।।२७।।

मैं यह निश्चय पूर्वक कहती हूँ कि, राम अकण्टक राज्य पा कर, भरत को या तो देश निकाला देंगे अथवा उनको जान ही से मार डालेंगे ।।२७।।

बाल एव हि मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया ।
सन्निकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्वपि ।।२८।।

पास रहने से पेड़ादि स्थावर पदार्थों पर भी लोगों को ममता हो जाती है—सो तूने तो भरत को लड़कपन ही से ननिहाल भेज

दिआ है (अर्थात् स्नेह पास रहने से होता सो भरत तेरे पास रहे नहीं—अत. तुझे भरत की ममता है ही नहीं) ॥२८॥

भरतस्याप्यनुवशः शत्रुघ्नोऽपि समागतः ।
लक्ष्मणश्च यथा रामं तथासौ भरतं गतः ॥२९॥

साथ साथ रहने के कारण ही शत्रुघ्न भी भरत के साथ चले गए। क्योंकि जैसे लक्ष्मण राम के अनुयायी हैं वैसे ही शत्रुघ्न भरत के अनुयायी हैं ॥२९॥

श्रूयते हि द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीविभिः ।
सन्निकर्षादिषीकाभिर्मोचितः परमाद्भयात् ॥३०॥

सुना है कि, एक वृक्ष था जिसे बनजारे काटना चाहते थे। समीपवर्ती होने के कारण उसे इषीका नाम के काँटेदार पेड़ों ने बचाया था (किन्तु तूने अपना पुत्र भी न बचाया) ॥३०॥

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः ।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥३१॥

लक्ष्मण. राम की रक्षा करेंगे और रामचन्द्र लक्ष्मण की। इन दोनो का भ्रातृत्व अर्थात् प्रीति अश्विनीकुमारों की तरह प्रसिद्ध है ॥३१॥

तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किञ्चित्करिष्यति ।
रामस्तु भरते पापं कुर्यादिति न संशयः ॥३२॥

अतएव रामचन्द्र लक्ष्मण का कभी कुछ भी अनिष्ट न करेंगे। किन्तु भरत का अनिष्ट करने मे वे कभी न चूकेंगे—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। (अर्थात् रामचन्द्र भरत को मारे विना न रहेंगे।) ॥३२॥

तस्माद्राजगृहादेवि वनं गच्छतु ते सुतः ।

एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव ॥३३॥

इसलिए मेरी समझ में तो इसीमें तुम्हारी भलाई है कि, भरत जी ननिहाल से भाग कर, वन में चले जाँय। (क्योंकि मारे जाने की अपेक्षा तो वन में रहना ही अच्छा है। यदि जीते रहे तो कभी दिन बहुरेंगे ही। मन्थरा का यह व्यङ्ग्य वचन है) ॥३३॥

एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति ।

यदि चेद्भरतो धर्मात्पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥३४॥

और यदि कहीं भरत धर्म से अपने पिता का राज्य पावें, तो इससे तेरे भाईबंदी का भी कल्याण होगा ॥३४॥

स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः

समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥३५॥

भरत केवल तेरे सुख के लिए ही बालक हैं, किन्तु राम के वे स्वाभाविक शत्रु हैं। अतः जब राम की बढ़ती होगी, तब भरत उनके वश में पड़ कैसे जीवेंगे ॥३५॥

अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम् ।

प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि ॥३६॥

हे कैकेयी! इसलिए तू सिंह से झपटे हुए हाथियों के यूथपति (मुखिया) की तरह रामचन्द्र से भयभीत भरत की रक्षा कर ॥३६॥

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया ।

राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यातयेत् ॥३७॥

तू अपने सौभाग्य के अभिमान में भर पहले जो दुर्व्यवहार कौसल्या के साथ कर चुकी है, उन सब का बदला राममाता कौसल्या (राम के राजा होने पर) क्या तुझसे न लेगी ? ॥३७॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यति
प्रभूतरत्नाकरशैलपत्तनाम् ।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं
सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥३८॥

हे भामिनी ! समुद्र, पर्वत और नगरों सहित पृथिवी का राज्य जब श्रीरामचन्द्र जी पावेंगे, तब (याद रख) तू अपने पुत्र भरत के सहित अनादर की यातना पावेगी अर्थात् तुझे, और तेरे पुत्र भरत को पद पद पर अनादर की यातना भुगतनी पड़ेगी ॥३८॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यति
ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति ।
अतो हि सञ्चिन्तय राज्यमात्मजे
परस्य चैवाद्य विवासकारणम् ॥३९॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

यह भी याद रख कि, राम के राज्य पाने पर भरत निश्चय ही मारे जायँगे । इसलिये जैसे बने वैसे ऐसा कोई उपाय कर, जिससे राम वन में निकाले जायँ और भरत राज्य पावें ॥३९॥

अयोध्याकाण्ड का आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

नवमः सर्गः

—:०:—

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना ।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत् ॥१॥

जब मन्थरा ने कैकेयी को इस प्रकार पट्टी पढ़ाई, तब मारे कोध के कैकेयी का मुख लाल हो गया । वह दीर्घ स्वाँस ले मन्थरा से बोली ॥१॥

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम् ।
यौवराज्ये च भरतं क्षिप्रमेवाभिषेचये ॥२॥

मैं आज ही राम को तुरन्त वन में भेजती हूँ और झटपट भरत का युवराजपद पर अभिषेक करवाती हूँ ॥२॥

इदं त्विदानीं सम्पश्य केनोपायेन मन्थरे ।
भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥३॥

हे मन्थरे ! अब इस समय कोई ऐसा उपाय सोच जिससे भरत को ही राज्य मिले और राम को किसी प्रकार न मिले ॥३॥

एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥४॥

जब कैकेयी ने यह कहा, तब पापिन मन्थरा, रामचन्द्र जी का सर्वनाश करने को कैकेयी से बोली ॥४॥

हन्तेदानीं प्रवक्ष्यामि कैकेयि श्रूयतां च मे ।
यथा ते भरतो राज्यं पुत्रः प्राप्स्यति केवलम् ॥५॥

हे कैकेयी! सुन, मैं तुझे अभी वह उपाय बतलाए देती हूँ जिससे केवल तेरे पुत्र भरत ही को राज्य मिले ॥५॥

किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे ।
यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥६॥

हे कैकेयी! तूने जो बात मुझसे कई बार कही है, उसे क्या तू भूल गई या मुझसे कहलाने के लिए ही तू उसे छिपा रही है ॥६॥

मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि ।
श्रूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चापि विमृश्यताम् ॥७॥

ऐ यथेच्छ विलासिनि! यदि यह बात मेरे मुँह से सुनने की तेरी इच्छा है, तो सुन, मैं कहती हूँ और सुन कर वही तू कर ॥७॥

श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकयी ।
किञ्चिदुत्थाय शयनात्स्वास्तीर्णादिदमब्रवीत् ॥८॥

मन्थरा के ये वचन सुन, कैकेयी अपनी सेज से कुछ उठ कर बोली ॥८॥

कथय त्वं ममोपायं केनोपायेन मन्थरे ।
भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथञ्चन ॥९॥

हे मन्थरे! जिस उपाय से भरत तो राज्य पावें और राम को किसी प्रकार प्राप्त न हो—वह उपाय मुझे बतला ॥९॥

एवमुक्ता तया देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।
रामार्थमुपहिंसन्ती कुब्जा वचनमब्रवीत् ॥१०॥

जब कैकेयी ने यह कहा, तब पापिनी मन्थरा, राम का सर्वनाश करती हुई कहने लगी ॥१०॥

पुरा दैवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः ।
अगच्छत्त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत् ॥११॥

एक समय जब तुम्हारे पति देवासुर संग्राम में सब राजर्षियों सहित इन्द्र की सहायता करने गए थे, तब तुम्हे भी अपने साथ ले गए थे ॥११॥

दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान् प्रति ।
वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥१२॥

हे कैकेयी! दक्षिण मे दण्डक वन के पास वैजयन्त नामक एक पुर था, वहाँ के राजा तिमिध्वज थे ॥१२॥

स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः ।
ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्घैरनिर्जितः ॥१३॥

वे सैकड़ों माया जानते थे और शम्बर के नाम से विख्यात थे और उन्हें देवता नहीं जीत सके थे। उन्होंने इन्द्र के साथ युद्ध छेड़ा ॥१३॥

तस्मिन् महति संग्रामे पुरुषान् क्षतविक्षतान् ।
रात्रौ प्रसुप्तान् घ्नन्ति स्म तरसाऽसाद्य राक्षसाः ॥१४॥

उस महासंग्राम में जो लोग, क्षत विक्षत अर्थात् घायल होते थे, उनको रात को सोते समय बिस्तरों पर से खींच कर बरजोरी राक्षस ले जाते थे और मार डालते थे ॥१४॥

* पाठान्तरे-वै देवि

तत्राकरोन्महद्युद्धं राजा दशरथस्तदा ।
असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः[१] ॥१५॥

वहाँ पर महाराज दशरथ ने उन असुरों के साथ घोर युद्ध किया । राक्षसों ने भी महाराज को बहुत घायल कर डाला । अर्थात् सारा शरीर छेद डाला ॥१५॥

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः ।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥१६॥

जब राजा मूर्च्छित हो गए, तब तू रणक्षेत्र से उनको बाहिर ले आई और जब वहाँ भी उन पर प्रहार होने लगे, तब बड़े यत्न से तूने अपने पति की रक्षा की ॥१६॥

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने ।
स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरौ ॥१७॥

हे शुभदर्शने ! उस समय तेरे पति ने (महाराज दशरथ ने) तुझ पर प्रसन्न हो, तुझको दो वर दिए और कहा जो इच्छा हो ॥१७॥

गृह्णीयामिति तत्तन तथेत्युक्त महात्मना ।
अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथिता पुरा ॥१८॥

सो माँग । तब तूने कहा था कि, अच्छा जब आवश्यकता होगी तब माँग लूँगी । मैं तो ये सब बातें जानती न थी, तू ही ने वहाँ से लौट कर, मुझे बतलाई थीं ॥१८॥

---

१ शकलीकृतः—सर्वाङ्गेषुविक्षतः (रा०)

कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया । ,
रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥१६॥

तेरी प्रीति के अनुरोध से ये बातें मैंने अपने मन में रख छोड़ी थीं। अब तू आग्रह पूर्वक रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारियों को रुकवा दे ॥१६॥

तौ वरौ याच भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ।
प्रव्राजनं च रामस्य त्वं वर्षाणि चतुर्दश ॥२०॥

और उन वरों में से, एक से तू भरत का राज्याभिषेक और दूसरे से श्रीरामचन्द्र जी का १४ वर्षों के लिए वनवास माँग ले ॥२०॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
प्रजाभावगतस्नेहः[1] स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥२१॥

इन चौदह वर्षों में जब तक रामचन्द्र वनवास में रहेंगे, तब तक सब प्रजा जनों का तेरे पुत्र के प्रति अनुराग बढ़ जाने से, तेरे पुत्र का राज्य अटल हो जायगा ॥२१॥

क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते ।
शेष्वानन्तर्हितायां[2] त्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥२२॥

हे अश्वपति की बेटी ! (इन वरों को पाने के लिए) तू अभी मैले कपड़े पहिन कर, विना बिछौने बिछाए और कोपभवन में जा कर, क्रुद्ध हो जमीन पर लेट जा ॥२२॥

---

१ प्रजाभावगतस्नेह —प्रजाना भाव अभिप्राय गतःप्राप्तः स्नेहोयस्य सतथोक्तः। (गो०) २ अव्यवहितायाम्—आस्तरणरहितायाम् । (शि०)

* पाठन्तरे—'च' ।

मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः ।
रुदन्ती चापि तं दृष्ट्वा जगत्यां[1] शोकलालसा[2] ॥२३॥

जब महाराज दशरथ आवें तब तू न तो उनकी ओर देखना और न उनसे कुछ बातचीत करना—केवल शोकातुर हो रोती हुई, ज़मीन पर लोटा करना ॥२३॥

दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः ।
त्वत्कृते स महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥२४॥

इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि, अपने पति को तू बहुत ही प्यारी है—यहाँ तक कि, वे तेरे लिए आग में भी कूद सकते हैं ॥२४॥

न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् ।
तव प्रियार्थं राजा हि प्राणानपि परित्यजेत् ॥२५॥

महाराज दशरथ न तो तुझे क्रुद्ध कर सकते हैं और न क्रुद्ध देख ही सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वे तेरे लिए अपने प्राण तक दे सकते हैं ॥२५॥

न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः ।
मन्दस्वभावे[3] बुद्ध्यस्व सौभाग्यबल[4]मात्मनः ॥२६॥

महाराज दशरथ तेरा कहना कभी नहीं टाल सकते। हे आलसिनि ! ज़रा अपने सौन्दर्य के बल की परीक्षा तो कर देख ॥२६॥

---

१ जगत्यां—भूमौ । (शि०) २ शोकलालसा—शोकव्याप्ते । (शि०) ३ मन्दस्वभावे—अलसस्वभावे । (गो०) ४ सौभाग्यबल—सौन्दर्यबलं । (गो०)

मणिमुक्तासुवर्णं च रत्नानि[1] विविधानि च ।
दद्याद्दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥२७॥

परन्तु (स्मरण रखना) जब महाराज कितनी ही मणियाँ, मोती, सोना और तरह तरह की बहुमूल्य वस्तुएँ देना चाहें तब तू कहीं लोभ में मत फँस जाना ॥२७॥

यौ तौ दैवासुरे युद्धे वरौ दशरथोऽददात् ।
तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो मा त्वामतिक्रमेत् ॥२८॥

किन्तु जो दो वरदान महाराज ने तुझे देवासुर संग्राम में देने कहे हैं, तू उन्हींका उन्हें स्मरण कराना और अपना काम निकालने के लिए भली भाँति यत्न करना, भूलना मत ॥२८॥

यदा तु ते वरं दद्यात्स्वयमुत्थाप्य राघवः ।
व्यवस्थाप्य[2] महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम् ॥२९॥

जब महाराज दशरथ, स्वयं तुझे भूमि से उठा कर वरदान देने को उद्यत हों, तब उनको सौगन्ध खिला कर (अर्थात् सत्य पाश से जकड़ कर) ये वर माँगना कि ॥२९॥

रामं प्रव्राजयारण्ये नव वर्षाणि पञ्च च ।
भरतः क्रियतां राजा पृथिव्याः पार्थिवर्षभः ॥३०॥

हे नृपश्रेष्ठ ! रामचन्द्र को १४ वर्षो के लिए वन में भेजो और भरत को पृथिवी का राजा बनाओ । अर्थात् भरत को राज्य दो ॥३०॥

---

१ रत्नानि—श्रेष्ठवस्तूनि । (गो०) २ व्यवस्थाप्य—शपथैः सत्ये स्थापयित्वा । (रा०)

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
रूढश्च[1] कृतमूलश्च[2] शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥३१॥

रामचन्द्र के चौदह वर्षों तक वन मे रहने से भरत का राज्य दृढ़ हो जायगा (अर्थात् प्रजा जनो के मन पर वे अपना प्रभाव जमा लेगे) और सदा भरत जी ही राजा बने रहैगे अर्थात् भरत के राज्य की जड़ जम जायगी ॥३१॥

रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम् ।
एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव भामिनी ॥३२॥

हे भामिनी ! तू दशरथ से राम का वनवास मॉग—इसीसे तेरे पुत्र के सब काम बन जॉयगे ॥३२॥

एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति ।
भरतश्च *हतामित्रस्तव राजा भविष्यति ॥३३॥

(इतने दीर्घकाल तक) वनवासी होने पर राम की प्रीति लोगों के मन से निकल जायगी और फिर प्रजा उनको न चाहेगी और भरत जी का कोई शत्रु भी न रह जावेगा और वे शत्रु रहित राजा होगे । (अर्थात् उनको अबाधित राज्य मिलेगा) ॥३३॥

येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति ।
तेन कालेन पुत्रस्ते †रूढमूलो भविष्यति ॥३४॥

---

१ रूढ —प्रसिद्धः । (गो०) २ कृतमूल —स्ववशीकृतमूलबलइत्यथः । गो०)

* पाठान्तरे "गतामित्रस्तव"

† पाठान्तरे कृतमूलो ।

जब तक रामचन्द्र वन से लौटेंगे, तब तक भरत के राज्य की नींव अटल हो जायगी ॥३४॥

संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः सार्धमात्मवान् ।
प्राप्तकालं तु ते मन्ये राजानं वीतसाध्वसा[१] ॥३५॥

अच्छी प्रकार प्रजा का पालन कर उन्हें प्रसन्न कर लेने पर, इष्टमित्रों सहित (राजसिंहासन पर) भरत जी की जड़ जम जायगी। अतः जब महाराज तुझे वर देने लगे, तब तू महाराज से निर्भय हो ॥३५॥

रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ।
अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥३६॥

और आग्रहपूर्वक रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारियाँ रुकवा देना। (अन्त में) मन्थरा की इन अनर्थ भरी बातों को, कल्याण-युक्त वचनों के रूप में कैकेयी ने ग्रहण किया। अर्थात् मन्थरा की बुरी सलाह को कैकेयी ने भली समझ तदनुसार काम करना स्वीकार किया ॥३६॥

हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ।
सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरी[२]वोत्पथं गता ॥३७॥

कैकेयी, मन्थरा की बातें सुन कर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुई और छोटे बच्चे वाली घोड़ी की तरह पराधीन हो कुपथ को अवलंबन कर कहने लगी अथवा हर्षयुक्त हो अति विश्वास के साथ कैकेयी मन्थरा से बोली। उस समय कैकेयी मन्थरा की

---

१ वीतसाध्वसा—विगतभया। (गो०) २ किशोरी—वडवा। (गो०); नित्यकिशोरत्वविशिष्ट। (शि०)

बातों में आ, वैसी ही हो गई थी जैसे घोड़ी आतुर हो अपने बच्चे के पास जाने के लिए कुपथ में जाने से कोड़े से पीटी जाने पर भी, नहीं रुकती ॥३७॥

[टिप्पणी—उक्त श्लोक में "किशोरी" शब्द प्रयुक्त हुआ है। "रामाभिरामी", "भूषण" और "विषमपदव्याख्या" नामक टीकाओं में "किशोरी" का अर्थ घोड़ी कर कैकेयी की उपमा वत्सवत्सला उत्पथगामिनी घोड़ी से दी गई है, किन्तु पं० शिवसहायराम कृत "शिरोमणि" टीका मे किशोरी का अर्थ नित्य किशोरविशिष्ट करके इसे कैकेयी का विशेषण माना है। यदि शिरोमणि टीकाकार का यह अर्थ मान लिआ जाय, तो किशोरी का अर्थ होता है, बालस्वभाव वाली कैकेयी। (किशोरावस्था का काल १० से १५ वर्ष तक माना जाता है।) अतः उक्त श्लोक में किशोरी का अर्थ बालिका मान कर समूचे श्लोक का अर्थ यह होगा—

मन्थरा की बातो में बाल-स्वभाव-सुलभ अथवा अबोध बालिका की तरह कैकेयी आ कर, कुमार्गगामिनी हो गई। वह प्रसन्न हो और उसकी बातो पर विश्वास कर, मन्थरा से यह बोली ॥३७॥

इस अर्थ में एक दोष आता है। वह यह कि नायिकाभेद में स्त्रियों की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं। मुग्धा, युवा, प्रौढा और वृद्धा। इसी प्रकार पुरुषों की भी पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं। यथा बाल, पौगण्ड, किशोर, युवा और वृद्ध। जहाँ पर "किशोरी" शब्द का प्रयोग होता है वहाँ किशोर की स्त्री किशोरी का गौण अर्थ में प्रयोग होता है।]

कैकेयी विस्मयं प्राप्ता परं परमदर्शना।
कुब्जे त्वां नाभिजानामि श्रेष्ठां श्रेष्ठाभिधायिनीम्[1] ॥३८॥

---

१ श्रेष्ठाभिधायिनीं—हितैषिणीं। (रा०)

जब तक रामचन्द्र वन से लौटेंगे, तब तक भरत के राज्य की नींव अटल हो जायगी ॥३४॥

संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः सार्धमात्मवान् ।
प्राप्तकालं तु ते मन्ये राजानं वीतसाध्वसा[1] ॥३५॥

अच्छी प्रकार प्रजा का पालन कर उन्हें प्रसन्न कर लेने पर, इष्टमित्रों सहित (राजसिंहासन पर) भरत जी की जड़ जम जायगी। अतः जब महाराज तुझे वर देने लगें, तब तू महाराज से निर्भय हो ॥३५॥

रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ।
अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥३६॥

और आग्रहपूर्वक रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारियाँ रुकवा देना। (अन्त में) मन्थरा की इन अनर्थ भरी बातों को, कल्याण-युक्त वचनों के रूप मे कैकेयी ने ग्रहण किया। अर्थात् मन्थरा की बुरी सलाह को कैकेयी ने भली समझ तदनुसार काम करना स्वीकार किया ॥३६॥

हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ।
सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरी[2]वोत्पथं गता ॥३७॥

कैकेयी, मन्थरा की बातें सुन कर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुई और छोटे बच्चे वाली घोड़ी की तरह पराधीन हो कुपथ को अवलंबन कर कहने लगी अथवा हर्षयुक्त हो अति विश्वास के साथ कैकेयी मन्थरा से बोली। उस समय कैकेयी मन्थरा की

---

१ वीतसाध्वसा—विगतभया। (गो०) २ किशोरी—बडवा। (गो०); नित्यकिशोरत्वविशिष्ट। (शि०)

बातों में आ, वैसी ही हो गई थी जैसे घोड़ी आतुर हो अपने बच्चे के पास जाने के लिए कुपथ में जाने से कोड़े से पीटी जाने पर भी, नहीं रुकती ॥३७॥

[टिप्पणी—उक्त श्लोक में "किशोरी" शब्द प्रयुक्त हुआ है। "रामाभिरामी", "भूषण" और "विषमपदव्याख्या" नामक टीकाओं में "किशोरी" का अर्थ घोड़ी कर कैकेयी की उपमा वत्सवत्सला उत्पथगामिनी घोड़ी से दी गई है, किन्तु प० शिवसहायराम कृत "शिरोमणि" टीका में किशोरी का अर्थ नित्य किशोरविशिष्ट करके इसे कैकेयी का विशेषण माना है। यदि शिरोमणि टीकाकार का यह अर्थ मान लिया जाय, तो किशोरी का अर्थ होता है, बालस्वभाव वाली कैकेयी। (किशोरावस्था का काल १० से १५ वर्ष तक माना जाता है।) अत उक्त श्लोक में किशोरी का अर्थ बालिका मान कर समूचे श्लोक का अर्थ यह होगा—

मन्थरा की बातों में बाल-स्वभाव-सुलभ अथवा अबोध बालिका की तरह कैकेयी आ कर, कुमार्गगामिनी हो गई। वह प्रसन्न हो और उसकी बातो पर विश्वास कर, मन्थरा से यह बोली ॥३७॥

इस अर्थ में एक दोष आता है। वह यह कि नायिकाभेद में स्त्रियों की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं। मुग्धा, युवा, प्रौढा और वृद्धा। इसी प्रकार पुरुषों की भी पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं। यथा बाल, पौगण्ड, किशोर, युवा और वृद्ध। जहाँ पर "किशोरी" शब्द का प्रयोग होता है वहाँ किशोर की स्त्री किशोरी का गौण अर्थ में प्रयोग होता है।]

कैकेयी विस्मयं प्राप्ता परं परमदर्शना।
कुब्जे त्वां नाभिजानामि श्रेष्ठां श्रेष्ठाभिधायिनीम्[१] ॥३८॥

---

१ श्रेष्ठाभिधायिनी—हितैषिणी। (रा०)

अति रूपवती कैकेयी को बड़ा आश्चर्य हुआ (आश्चर्य इस बात का कि, महाराज ने इतना बड़ा काम उसको जनाए विना कैसे करना निश्चित कर लिआ) और बोली—अथवा हे मन्थरे! मैं नहीं जानती थी कि, तू सर्वश्रेष्ठ बोलने वाली है या सब से बढ़ कर मेरा हित समझने वाली है ॥३८॥

पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये ।
त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥३९॥

इस पृथिवी तल पर जितनी कुबड़ी स्त्रियाँ हैं उन सब में तू निश्चय ही सब से बढ़ कर वुद्धिमती है। तू सदा मेरा हित करने वाली है ॥३९॥

नाहं समवबुध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम् ।
सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जा वक्राः परमदारुणाः* ॥४०॥

हे कुब्जे! मैं अभी तक महाराज की चाल न समझ सकी थी। इस संसार में जितनी कुबड़ी हैं, वे सब अंग टेढ़े होने के कारण दुष्ट स्वभाव और कठोर हृदय होती हैं ॥४०॥

त्वं पद्ममिव वातेन सन्नता प्रियदर्शना ।
उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत्स्कन्धं समुन्नतम् ॥४१॥

किन्तु तुझमें इन बातों का लेश भी नहीं है। क्योंकि जैसे सहज सुन्दर कमलपुत्र, पवन के झोके से झुक कर टेढ़ा हो जाता है, परन्तु उसकी कोई निन्दा नहीं करता, वैसे ही तेरे अंग टेढ़े होने पर भी तू सुरूपा होने के कारण निन्दा करने के योग्य नहीं है। तेरा वक्षस्थल कंधे तक माँस से भरा हुआ और ऊँचा है ॥४१॥

* पाठान्तरे परम पापिका ।

अधस्ताच्चोदरं शान्तं[1] सुनाभमिव लज्जितम् ।
परिपूर्णं तु जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥४२॥

और नीचे की ओर बहुत ही पतला है। मानो छाती की ऊँचाई देख लज्जित हो भीतर धस गया है। तेरी दोनों जंघाएँ भरी हुई और दोनो स्तन बड़े मोटे और कठोर हैं ॥४२॥

विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे ।
जघनं तव निर्मृष्टं[2] रशनादामशोभितम् ॥४३॥

हे मन्थरे! तेरा मुख विमल चन्द्रमा जैसा है। इन्हीं सब गुणो से तू (कुबड़ी होने पर भी) बड़ी सुन्दर मालूम पड़ती है। तेरी जंघाएँ साफ अर्थात् बालो रहित हैं और करधनी से भूषित हैं ॥४३॥

जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ चाप्यायतावुभौ ।
त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी ॥४४॥

जाँघे भारी होने से मानो एक दूसरी से मिली ही जाती हैं। दोनो चरण लंबे से लंबे हैं। हे मन्थरे! जब तू चौड़ी पिंडुलियो तक रेशमी साड़ी पहिन कर, ॥४४॥

अग्रतो मम गच्छन्ती राजहंसीव राजसे ।
आसन्याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥४५॥

मेरे आगे चलती है, तब तू राजहंसी की तरह शोभायमान देख पड़ती है। शंबरासुर के पास जो हजार मायाएँ थीं ॥४५॥—

---

१ शान्त—कृशं। (गो०)। २ निर्मृष्ट—अत्यन्त शुद्ध, लोमादिरहित। (रा०)

सर्वास्त्वयि निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः ।
तवेदं स्थगु यद्दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥४६॥

केवल वे ही नहीं, बल्कि और भी हज़ारों माया तुझमें हैं, अर्थात् तू उन सब को जानती है) पहिए के नाह की तरह तेरे इस उठे हुए कूबड़ में ॥४६॥

मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते ।
अत्र ते प्रतिमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम् ॥४७॥

बुद्धि और राजनीतिक चाले और चालाकियाँ भरी हुई हैं। सो मैं ऐसा सोने का हार तुझे पहनाऊँगी जो इस कूबड़ पर झूला करेगा ॥४७॥

अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते ।
जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन[1] *सुन्दरि ॥४८॥

हे सुन्दरी ! भरत को राज्य मिलने पर तथा रामचन्द्र के वनबासी होने पर मैं तेरे इस माँसपिण्ड (कूबड़) को उत्तम तपे हुए सुवर्ण के पत्रों से तुरन्त ढक दूँगी ॥४८॥

लब्धार्था च प्रतीता[2] च लेपयिष्यामि ते स्थगु ।
मुखे च तिलकं चित्रं[3] जातरूपमयं शुभम् ॥४९॥

कार्य की सफलता मे विश्वास हो जाने पर तेरे इस कूबड़ पर चन्दन लगाऊँगी और माथे पर पक्के सोने का रत्नजटित तिलक भी रखूंगी ॥४९॥

---

१ सुनिष्टप्तेन—सुद्रुतेन । (गो०) २ प्रतीता—सन्तुष्ट । (गो०)
३ चित्रं—नाना रत्नखचिततयानानावर्णं । (गो०)
* पाठान्तरे-मन्थरे ।

कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च ।
परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥५०॥

हे मन्थरे ! तेरे लिए मै सब गहने सोने के बनवाऊँगी। सब गहने व सुन्दर वस्त्र पहिन कर देवता के समान तू जहाँ चाहे वहाँ जा सकेगी ॥५०॥

चन्द्रमाह्वयमानेन[1] मुखेना* प्रतिमेन च ।
गमिष्यसि गतिं मुख्यां[2] गर्वयन्ती द्विषज्जनम्[3] ॥५१॥

चन्द्रमा से स्पर्धा करने वाले, उपमारहित अपने मुख के द्वारा तू मेरी सौतों को तिनके के समान समझ, उनके सामने तू अकड़ कर चलेगी ॥५१॥

तवापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः ।
पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥५२॥

समस्त आभूषणों से सजी हुई अनेक कुबड़ी स्त्रियाँ, तेरे चरणों की सेवा वैसे ही करेंगी जैसे तू मेरी सेवा करती है ॥५२॥

†प्रशस्यमाना सा कुब्जा कैकेयीमिदमब्रवीत् ।
शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥५३॥

मन्थरा, इस प्रकार प्रशंसा किए जाने पर, वेदी की अग्निशिखा के समान श्वेत शय्या पर लेटी हुई कैकेयी से बोली ॥५३॥

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते ।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणि राजानमनुदर्शय[4] ॥५४॥

---

१ आह्वयमानेन—स्पर्धमानेन। (गो०) २ मुख्या—तृणीकृतसर्वजना। (गो०) ३ द्विषज्जनम्—मत्सपत्नीजन। (गो०) ४ अनुदर्शये—प्रतीक्षस्वेत्यर्थः. (गो०)

* पाठान्तरे-'प्रतिमानना'। † पाठान्तरे-इति प्रशस्यमाना।

हे कल्याणि! जब जल बह कर निकल गया, तब बाँध बाँधने से क्या लाभ हो सकता है? अतएव उठ कर अपने कार्यसाधन में लग और क्रोधागार में जा महाराज के आने की प्रतीक्षा कर ॥५४॥

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह ।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥५५॥

इस प्रकार कुब्जा द्वारा उत्साहित किए जाने पर, बड़े बड़े नेत्रों-वाली कैकेयी, जिसे अपने सौभाग्य का बड़ा गर्व था, मन्थरा-सहित कोपभवन में पहुँची ॥५५॥

अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना ।
अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च ॥५६॥

वहाँ पहुँचते ही कैकेयी ने कई लाख के मोती के एक हार को और अन्य मूल्यवान गहनों को उतार कर, जमीन पर फेंक दिया ॥५६॥

ततो हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता ।
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥५७॥

उस समय सोने के रंग के समान रंगवाली कैकेयी, कुबड़ी की बातों में आ, जमीन पर लेट कर मन्थरा से कहने लगी ॥५७॥

इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि ।
वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यति क्षितिम् ॥५८॥

हे कुब्जे! या तो तुझे महाराज को मेरे यहाँ मरने ही की ख़बर सुनानी पड़ेगी या रामचन्द्र को वन जाना पड़ेगा और भरत को राज्य मिलेगा ॥५८॥

न सुवर्णेन मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः ।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥५६॥

मुझे अब न तो गहनों से और न रत्नों से और न स्वादिष्ट भोजनों ही से कुछ मतलब है। अगर राम का राज्याभिषेक हुआ तो बस, मेरे प्राण का यहीं अन्त भी है ॥५६॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो
वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः[1] ।
उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं
हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥६०॥

कैकेयी के इन वचनों को सुन, फिर भी मन्थरा बड़े क्रूर वचनों से जो रामचन्द्र के पक्ष में अहितकर थे, कैकेयी को उपदेश करने लगी ॥६०॥

प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो
यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे ।
अतो हि कल्याणि यतस्व तत्तथा
यथा सुतस्ते भरतोऽभिषेक्ष्यते ॥६१॥

हे कल्याणि! तू अपने मन में यह निश्चय समझ ले कि, यदि रामचन्द्र कहीं राजा हो गए तो तू अपने पुत्र सहित दुःख पावेगी। अतएव ऐसा प्रयत्न करना जिससे भरत ही को राज्य मिले ॥६१॥

तथातिविद्धा महिषी तु कुब्जया
समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः ।

---

१ महापराक्रमैः—अतिक्रूरैः। (रा०)

निधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता
शशंस कुब्जां रुषिता* पुनः पुनः ॥६२॥

इस प्रकार रानी कैकेयी मन्थरा के वचन रूपी बाणों से बारंबार विद्ध हो, अपने दोनों हाथो को अपने हृदय पर रख, आश्चर्यान्वित हो और क्रोध में भर बोली ॥६२॥

यमस्य वा मां विषयं गतामितो
निशाम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि ।
वनं गते वा सुचिराय राघवे
समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥६३॥

हे कुब्जे ! या तो तू मुझे यम के घर पहुँची हुई देखने का संवाद ही महाराज को जा कर सुनावेगी अथवा दीर्घकाल के लिए रामचन्द्र ही वनवासी होंगे और भरत को राज्य मिलेगा ॥६३॥

अहं हि नैवास्तरणानि न स्रजो
न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम् ।
न किञ्चिदिच्छामि न चेह जीवितं
न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥६४॥

यदि रामचन्द्र वन न गए तो मैं न तो शैया पर लेटूँगी, न फूलमाला धारण करूँगी न चन्दन लगाऊँगी, न आँखों में अंजन आँजूँगी, न अन्न और जल ही ग्रहण करूँगी। मुझे (अब सिवाय भरत के राज्याभिषेक के) और कोई इच्छा नहीं है। (यदि यह पूरी न हुई तो) मैं अब जीना भी नहीं चाहती ॥६४॥

---

* पाठान्तरे—कुपिता ।

अथैतदुक्त्वा वचनं सुदारुणं
निधाय सर्वाभरणानि भामिनी ।
असंवृतामास्तरणेन*मेदिनी-
मथाधिशिश्ये पतितेव किन्नरी ॥६५॥

इस प्रकार की कठोर प्रतिज्ञा कर और सब गहनों को उतार, कैकेयी बिस्तर रहित पृथिवी पर किन्नरी की तरह लेट गई ॥६५॥

उदीर्णसंरम्भतमोवृतानना
तथाऽवमुक्तोत्तममाल्यभूषणा
नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा
तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका ॥६६॥

इति नवमः सर्गः ॥

रानी का मुखमण्डल क्रोधान्धकार से युक्त और शरीर फूल-मालाओं और आभूषणों से शून्य, उसी प्रकार का जान पड़ने लगा, जिस प्रकार का ताराओं से रहित और अन्धकारमय आकाश जान पड़ता है ॥६६॥

अयोध्याकाण्ड का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

दशमः सर्गः

—.०.—

विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम् ।
तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किन्नरी ॥१॥

---

* पाठान्तरे—मेदिनीम् तदाधि ।

अनन्तर पापिनी मन्थरा के भली भाँति समझाने बुझाने से रानी कैकेयी, विष में बुझे तीर से घायल किन्नरी की तरह ज़मीन पर लेट गई ॥१॥

निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी ।
मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥२॥

अत्यन्त चतुर रानी कैकेयी मन ही मन अपना कर्त्तव्य भली भाँति निश्चित कर, उसे धीरे धीरे मन्थरा को बतलाने लगी ॥२॥

सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता ।
नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥३॥

उस समय खिन्नमना कैकेयी मन्थरा की बातों में आ, नागिन की तरह लंबी गरम साँसे लेती जाती थी ॥३॥

मुहूर्तं चिन्तयामास मार्ग[1]मात्मसुखावहम् ।
सा सुहृच्चार्थकामा च तन्निशम्य[2] सुनिश्चयम् ॥४॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा ।
अथ साऽमर्षिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥५॥

मन्थरा अपनी सखी कैकेयी का अपने वचनानुसार ही कार्य करने में तत्पर जान तथा कार्य की सिद्धि समझ, अति प्रसन्न हुई। डाह के मारे कैकेयी भी सब बातों को भली भाँति सोच और निश्चय कर ॥४॥५॥

---

१ मार्गम्—मंथरोक्तं । (वि०) २—निशम्य—श्रुत्वा (गो०)

संविवेशाबला भूमौ निवेश्य भ्रुकुटीं मुखे[1] ।
ततश्चित्राणि माल्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥६॥

वह महा क्रोध मे भर, और भौहें टेढ़ी कर, भूमि पर लेट रही। रत्न-जटित हार तथा अन्य बढ़िया बढ़िया आभूषण, ॥६॥

अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे ।
तया तान्यपविद्धानि मूल्यान्याभरणानि च ॥७॥
अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः ।
क्रोधागारे निपतिता सा बभौ मलिनाम्बरा ॥८॥

कैकेयी ने उतार कर ज़मीन पर फैंक दिए। ज़मीन पर बिखरे पड़े हुए वे बहुमूल्य आभूषण वैसे ही सुशोभित जान पड़ते थे, जैसे आकाश में तारागण सुशोभित होते हैं। मैले वस्त्र पहिने हुए कोपभवन मे पड़ी हुई कैकेयी ॥७॥८॥

एकवेणीं दृढं बद्ध्वा गतसत्त्वेव किन्नरी ।
आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥९॥

सब बालों को एकत्र कर और एक मजबूत गाँठ लगा स्वर्गलोक से गिरी हुई किन्नरी के समान जान पड़ती थी। जब महाराज राम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ करने की आज्ञा मन्त्रियों को दे, ॥९॥

उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम् ।
अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान्[2] ॥१०॥

---

१ मुखे भ्रुकुटीं निवेशः—क्रोधातिशयेन। (रा०) २ जज्ञिवान्—रामाभिषेकः प्रसिद्धः निश्चित इति। इतःपूर्वं कैकेय्यानभुतिगोचरइति ज्ञातवान्। (रा०)

और समस्त सभासदों को बिदा कर, रनिवास में पहुँचे और सोचा कि, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक होना आज सर्व-साधारण में तो प्रसिद्ध हो गया, परन्तु रानियों को इसकी सूचना नहीं हुई ॥१०॥

प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी[1] ।
स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥११॥

अतएव यह शुभ संवाद अपनी प्यारी रानियों से भी कहें। यह विचार महायशस्वी महाराज दशरथ रनवास में गए। वे सब से प्रथम कैकेयी के सर्वोत्तम भवन में पधारे ॥११॥

पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः ।
शुकबर्हिणसंघुष्टं क्रौञ्चहंसरुतायुतम् ॥१२॥

चन्द्रमा जैसे राहुयुक्त उजले आकाश में प्रवेश करता है, वैसे ही महाराज दशरथ कैकेयी के भवन में पधारे। उस समय कैकेयी के घर में सुग्गे, मोर, क्रौंच, और हंस बोल रहे थे ॥१२॥

वादित्ररवसङ्घुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् ।
लतागृहैश्चित्रगृहै[2]श्चम्पकाशोकशोभितैः ॥१३॥

कहीं पर बाजे बज रहे थे, जगह जगह कुबड़ी, नाटी, टेढ़ीमेढ़ी दासियाँ देख पड़ती थीं, कहीं पर लतामण्डप बने हुए थे, कहीं पर ऐसे कमरे थे, जिनमें सुन्दर तसवीरें लटक रही थीं (या दीवालों पर चित्र चित्रित थे) और जगह जगह चम्पा और अशोक के वृक्ष (घर की) शोभा बढ़ा रहे थे ॥१३॥

---

१ वशी—स्वतन्त्रः । (गो०) २ चित्रगृहैः—चित्रयुक्त गृहैः । (रा०)

दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिश्चोपशोभितम् ॥१४॥

भवन के भीतर की वेदियाँ हाथीदाँत, चाँदी और सोने की बनी हुई थीं, जगह जगह नित्य फूलने और फलने वाले वृक्ष और बावड़ियाँ, घर की शोभा बढ़ा रही थीं ॥१४॥

दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥१५॥

बैठने के लिए हाथीदाँत के काम के चाँदी सोने के पीढ़े (कुर्सियाँ) रखे हुए थे। विविध प्रकार के अन्न, पान, भक्ष्य, भोज्य पदार्थ रखे थे ॥१५॥

उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् ।
तत्प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥१६॥

उस घर में अनेक बहुमूल्य गहने रखे थे। (कहाँ तक वर्णन किया जाय) उस घर की शोभा स्वर्ग जैसी हो रही थी। महाराज अपने उस भरेपूरे अन्त.पुर मे पहुँचे ॥१६॥

न ददर्श प्रियां राजा कैकेयीं शयनोत्तमे ।
स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थं मनुजाधिपः ॥१७॥

किन्तु वहाँ उत्तम शय्या पर कैकेयी को न पाया। महाराज वहाँ कामदेव के अत्यन्त सताए हुए और रति की इच्छा से गए थे ॥१७॥

अपश्यन् दयितां भार्यां पप्रच्छ[१] विषसाद[२] च ।
न हि तस्य पुरा देवी तां वेला[३]मत्यवर्तत ॥१८॥

उन्होंने कैकेयी का नाम ले पुकारा, किन्तु जब उन्हें कुछ भी उत्तर न मिला, तब वे उदास हो गए। क्योंकि इसके पूर्व महाराज के रति के समय कैकेयी कहीं नहीं जाती थी ॥१८॥

न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन ।
ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥१९॥

और न (आज के पूर्व) महाराज ही कभी शून्य घर में आए थे। महाराज घर में जा सब से कैकेयी के बारे में पूँछने लगे ॥१९॥

यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् ।
प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता रचिताञ्जलिः ॥२०॥

महाराज ने स्वार्थ में तत्पर (भरत का राज्याभिषेक चाहने वाली) और नादान कैकेयी के बारे में पहले की तरह एक पहरेदारिन से पूँछा। तब उसने हाथ जोड़ और डरते डरते कहा ॥२०॥

देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता ।
प्रतिहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥२१॥

हे देव! देवी जी तो अत्यन्त कुपित हो कोपागार में चली गई हैं। उस पहरेदारिन के वचन सुन महाराज का मन बहुत बिगड़ गया ॥२१॥

---

१ पप्रच्छ, २ विषसाद—रत्यर्थंपप्रच्छ कगतासीत्येव। प्रत्युत्तराभावात् विषसाद च। (गो०) ३ तावेलाम्—रतिवेला। (गो०)

विषसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलितेन्द्रियः ।
तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥२२॥

और वे वहीं बैठ गए। उस समय महाराज की सब इन्द्रियाँ विकल और चञ्चल हो उठीं। (फिर उन्होंने कोपभवन में जा कर देखा कि) रानी अनुचित रीति से लेटी हुई है। (अर्थात् जमीन पर बिना कुछ बिछाए मैली धोती पहने तथा गहने उतार कर पड़ी है) ॥२२॥

भतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः ।
स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥२३॥

यह देख महाराज दुःख से अति सन्तप्त हुए। क्योंकि वृद्ध महाराज को वह तरुणावस्था को प्राप्त रानी कैकेयी प्राणों से भी अधिक प्यारी थी ॥२३॥

अपापः पापसङ्कल्पां ददर्श धरणीतले ।
लतामिव विनिष्कृत्तां पतितां देवतामिव ॥२४॥

निष्पाप महाराज ने दुष्ट मनोरथ वाली कैकेयी को कटी हुई लता की तरह अथवा स्वर्ग से ढकेली हुई देवी की तरह जमीन पर पड़ी हुई देखा ॥२४॥

किन्नरीमिव निर्धूतां[१] च्युता[२]मप्सरसं यथा ।
*मालामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥२५॥

---

१ निर्धूता—पुण्यक्षये स्वर्लोकापतताम्। (रा०) २ च्युता—स्वर्गात्-परिभ्रष्टाम्। (रा०)

* पाठान्तरे "मायामिव"।

कैकेयी पृथिवी पर पड़ी हुई ऐसी जान पड़ती थी, मानों वह पुण्यक्षीण होने पर स्वर्ग से गिरी हुई किन्नरी हो अथवा स्वर्ग परिभ्रष्टा अप्सरा हो, अथवा टूट कर गिरी हुई माला हो अथवा फन्दे में फँसी हिरनी हो ॥२५॥

करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने ।
महागज इवारण्ये स्नेहात्परिममर्श ताम् ॥२६॥

अथवा शिकारी के विषबाण से घायल की हुई हथिनी है, ऐसी हथिनी रूपिणी कैकेयी को महागज रूपी महाराज दशरथ ने बड़े प्यार से देखा ॥२६॥

परिमृश्य च पाणिभ्यामभिसन्त्रस्तचेतनः ।
कामी कमलपत्राक्षी[1]मुवाच वनितामिदम् ॥२७॥

वे मन में डरते डरते अपने हाथों से उसका शरीर सुहराने लगे । फिर कामातुर महाराज दशरथ ने उस कमलपत्राक्षी महिला से यह कहा ॥२७॥

न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम् ।
देवि केनाभि*युक्तासि[2] केन वासि विमानिता[3] ॥२८॥

हमें यह भी नहीं मालूम हुआ कि, हमारे ऊपर तुम क्यों क्रुद्ध हो रही हो ? क्या किसी ने तुम्हारी कुछ निन्दा की है या किसी ने तुम्हारा अपमान किया है ? जरा बतलाओ तो ॥२८॥

---

१ कमलपत्राक्षी—इति कामित्वद्योतनं । (गो०) २ अभियुक्ता—कृतपराभवा । (रा०) ३ विमानोनिन्दा । (रा०)

* पाठान्तरे—'शप्तासि' ।

यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु[1]।
भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि[2] ॥२६॥

हे कल्याणि ! तुम्हारा इस प्रकार धूल में लोटना हमें बहुत दुःखदायी हो रहा है। (हमारे जीते हुए) तुम जैसी हमारी एक हित चाहने वाली का इस प्रकार ज़मीन पर लेटने का कारण क्या है? ॥२६॥

भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनी।
सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥३०॥

हे प्राणप्यारी ! तुम प्रेत लगे हुए मनुष्य की तरह, क्यों ज़मीन पर लोट रही हो। यदि कोई व्याधि अथवा रोग से पीड़ित हो, तो बतलाओ। हमारे यहाँ सब रोगों की चिकित्सा करने वाले और हमारे द्वारा दान मानादि से सन्तुष्ट कुशल वैद्य हैं ॥३०॥

सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनी।
कस्य वा ते प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥३१॥

जो तुम्हें (बात की बात में) नीरोग और सुखी कर देंगे। हे भामिनी ! जरा यह तो बतलाओ कि बीमारी क्या है? (यदि कोई बीमारी नहीं है) तो क्या तुम किसी दूसरे को (पुरस्कार दिला) प्रसन्न करना चाहती हो? अथवा किसी पर अप्रसन्न हो उसको दण्ड दिलाना चाहती हो या उसे बरबाद करवाना चाहती हो ॥३१॥

कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम्।
मा रोदीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम् ॥३२॥

---

१ पांसुषु—धूलिषु। (रा०) २ कल्याणचेतसि—अनपकारिणि। (रा०)

अथवा किसका उपकार और किसका अपकार किया जाय ? तुम रोओ मत, वृथा अपने शरीर को साँसत कर, चेहरा फीका मत करो ॥३२॥

अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम् ।
दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान् कोऽप्यकिञ्चनः ॥३३॥

(हम तुम्हें राजी करने के लिए) अवध्य को भी अभी जान से मरवा सकते हैं अथवा जिसे वध करने की आज्ञा दी जा चुकी है, उसे हम अभी छोड़ भी सकते हैं। यदि किसी धनहीन को धनवान अथवा धनवान को निर्धन करवाना चाहती हो (तो भी बतलाओ) हम तुरन्त ऐसा भी कर सकते हैं ॥३३॥

अहं चैव मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः ।
न ते किञ्चिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥३४॥

क्योंकि क्या हम स्वयं और क्या हमारे आश्रित जन सभी तो तेरे वशवर्ती हैं अर्थात् आज्ञाकारी हैं। तेरी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करने की हममें सामर्थ्य नहीं है ॥३४॥

आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसेच्छसि ।
बल[1]मात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥३५॥

यदि हमें अपने प्राण गँवा कर भी कोई काम तेरी प्रसन्नता के लिए करना पड़े तो हम उसे करने को भी तैयार हैं। ज़रा बतला तो तेरी इच्छा क्या है ? हमारा तुझमें कितना प्रेम है यह तो तुझे मालूम ही है, अतएव जो चाहती हो सो कह, किसी बात की शङ्का मत कर ॥३५॥

---

१ बलं—प्रेम । (रा०)

करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ।
यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा ॥३६॥

हम अपने पुण्यकर्मों की शपथ खा कर कहते हैं कि, हम जो तू कहेगी वही करेंगे। देख, इस पृथिवीमण्डल पर जहाँ तक सूर्य घूमता है, वहाँ तक की सारी पृथिवी हमारे अधिकार में है ॥३६॥

प्राचीनाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः ।
वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ॥३७॥

तत्र जातं बहुद्रव्यं धनधान्यमजाविकम् ।
ततो वृणीष्व कैकेयि यद्यत्त्वं मनसेच्छसि ॥३८॥

द्राविड़, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिणापथ, वङ्गाल, अङ्ग, मगध, मत्स्य, काशी और कोशल ये सब देश, जहाँ तरह तरह की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और जो धनधान्य एवं भेड़ों बकरियों से भरे पूरे हैं—हमारे अधीन हैं। इनमें से यदि किसी देश का राज्य चाहती है तो बतला ॥३७॥३८॥

किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने ।
तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम् ।
तत्ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव भास्करः ॥३९॥

हे भीरु ! तू क्यों ज़मीन पर पड़ा कष्ट सहती है। हे सुन्दरी ! उठ, उठ। हे कैकेयी ! ठीक ठीक बतला, तुझे किस बात का डर है। हम उस डर को अभी उसी प्रकार दूर कर देंगे, जिस प्रकार सूर्य देव, कुहरे को दूर कर देते हैं ॥३९॥

तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम् ।
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥४०॥

इति दशमः सर्गः ॥

इस प्रकार महाराज द्वारा मनायी जाने पर, कैकेयी कुछ कुछ शान्त हुई, किन्तु महाराज को पीड़ित करने के लिए उनसे अति दुःखदायी अप्रिय वचन कहने लगी ॥४०॥

अयोध्याकाण्ड का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

एकादशः सर्गः

—:०:—

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम् ।
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः ॥१॥

कामशर से पीड़ित और कामवेग के वशीभूत महीपाल दशरथ से कैकेयी ये निठुर वचन बोली ॥१॥

नास्मि विप्रकृता[१] देव केनचिन्नावमानिता ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तमिच्छामि त्वया कृतम् ॥२॥

मुझे न तो कोई बीमारी है और न किसी ने मेरा अपमान ही किया है। किन्तु मेरी एक इच्छा है, जिसे आप पूरी कर सकते हैं अथवा मेरा एक काम है, जिसे मैं तुमसे करवाना चाहती हूँ ॥२॥

१ विप्रकृता—रोगग्रस्ता । (गो०)

प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि ।
अथ तद्व्याहरिष्यामि यदभिप्रार्थितं मया ॥३॥

यदि तुम मेरा वह काम करने को राजी हो, तो उसे करने की प्रतिज्ञा करो। तब मैं अपनी वह बात बतलाऊँगी ॥३॥

तामुवाच महातेजाः कैकेयीमीषदुत्स्मितः ।
कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुविस्थिताम् ॥४॥

कैकेयी का यह वचन सुन, काम से व्याकुल महाराज दशरथ, ज़मीन पर पड़ी हुई कैकेयी का सिर हाथों से उठा अपनी गोद में रख, मुसक्या कर बोले ॥४॥

अवलिप्ते[1] न जानासि त्वत्तः प्रियतमा मम ।
मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते ॥५॥

हे सौभाग्यगर्विते ! क्या तुझे यह नहीं मालूम कि, पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र को छोड़, हमारा तुझसे अधिक प्यारा और कोई मनुष्य नहीं है ॥५॥

तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना ।
शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेच्छसि ॥६॥

सो तुझसे भी अधिक प्रिय, शत्रुओं से अजेय और सब से मुख्य श्रीरामचन्द्र जी की शपथ खा कर, हम कहते हैं कि, जो तू चाहती हो सो कह ॥६॥

यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवेयमहं ध्रुवम् ।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥७॥

---

१ अवलिप्ते—सौभाग्यगर्विते । (गो०)

हे कैकेयी ! जिन श्रीरामचन्द्र को देखे विना एक घड़ी भी जाना हमारे लिए असम्भव है, उन्हींकी शपथ खा कर हम कहते हैं कि, तेरा काम हम करेंगे ॥७॥

आत्मना वाऽऽत्मजैश्चान्यैर्वृणे[1] यं मनुजर्षभम् ।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥८॥

हम अपने से और अन्य तीनों पुत्रों से जिन श्रीरामचन्द्र को अधिक मानते या चाहते हैं अथवा अपना शरीर व अन्य तीनों पुत्रों को दे डाल कर भी जिन श्रीरामचन्द्र को रखना चाहते हैं, तेरा वचन पूरा करने को उन्हींकी हम शपथ खाते हैं ॥८॥

भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्यो[2]द्धरस्व मे ।
एतत्समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत्साधु[3] मन्यसे ॥९॥

हे भद्रे ! हमारे हृदय मे तेरे लिए कैसा प्रेम है और तेर काम करने के लिए हम शपथ खा चुके है, इन बातो पर ध्यान रख कर, जो काम हमसे करवाना चाहती है, उसे भली भाँति समझ बूझ कर बतला ॥९॥

बलमात्मनि पश्यन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ॥१०॥

हमारी तेरे ऊपर जैसी प्रीति है उसको विचार कर किसी बात की शङ्का मत कर । हम अपने पुण्यों की शपथ खा कर कहते हैं कि, तू जो कहैगी वही हम करेंगे ॥१०॥

---

१ वृणे—असममृजाने । (रा०) २ अनुमृश्य—विचार्य । (रा०)
३ साधु—इष्टं । (गो०)

सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम्।
निर्माध्यस्थ्यात्सहर्षाच्च बभाषे दुर्वचं वचः ॥११॥

मन्थरा के उपदेश को अपने मन में रखे हुए और अपना मनोरथ सिद्ध होता जान, भरत का पक्षपात करती हुई और प्रसन्न हो, कैकेयी ये दुर्वचन बोली ॥११॥

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः।
व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम् ॥१२॥

महाराज की बातों से अत्यन्त प्रसन्न हो और अपना मतलब पूरा करने को आए हुए महाभयङ्कर यमराज की तरह कैकेयी बोली ॥१२॥

यथा क्रमेण शपसि वरं मम ददासि च।
तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद्देवाः साग्निपुरोगमाः ॥१३॥

हे महाराज ! आप मुझे वर देने की शपथ खा चुके हैं, इस बात के साक्षी अग्नि प्रमुख ३३ देवता रहें। (अर्थात् इस कथन से कैकेयी पति को अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहने के लिए दृढ़ करती है।) ॥१३॥

चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः।
जगच्च पृथिवी चैव सगन्धर्वा सराक्षसा ॥१४॥

निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः।
यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव ॥१५॥

हे महाराज ! चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन और दिशाएँ, जगत, सब लोकों के निवासी, पृथिवी, गन्धर्व, राक्षस, भूत,

गृहदेवता और और भी जो प्राणी हैं, वे सब आपके कथन के साक्षी रहें ॥१४॥१५॥

सत्यसन्धो महातेजा धर्मज्ञः सुसमाहितः ।
वरं मम ददात्येष तन्मे शृण्वन्तु देवताः ॥१६॥

सत्यसन्ध, महातेजस्वी, धर्मज्ञ, सदैव सावधान रहने वाले महाराज हमको वर देते हैं यह बात सब देवता सुने ॥१६॥

इति देवी महेष्वासं परिगृह्य[१]भिशस्य[२] च ।
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥१७॥

राजमहिषी कैकेयी ने महाधनुर्धारी, वर देने को उद्यत और कामातुर महाराज को वचनवद्ध कर और उनकी प्रशंसा कर कहा ॥१७॥

स्मर राजन् पुरा वृत्तं तस्मिन् दैवासुरे रणे ।
तत्र चाच्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥१८॥

हे राजन्! तुम पहले उस पुरानी बात को स्मरण करो, जब देवासुर संग्राम में तुम गए थे और शत्रु की मार से जब तुम मृतप्राय हो गए थे ॥१८॥

तत्र चापि मया देव यत्त्वं समभिरक्षितः ।
जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्राददा वरौ ॥१९॥

---

१ परिगृह्य—परिवर्तनान्निवर्त्य । २ अभिशस्य—सत्यसन्ध इत्यादिना स्वकार्यस्थैर्याय स्तुत्वा च । (रा०)

उस समय मैंने जाग कर और बड़े यत्न से तुम्हारी रक्षा की थी। तब जागने पर अथवा होश में आने पर, तुमने मुझे दो वर दिए थे ॥१९॥

तौ तु दत्तौ वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम् ।
तवैव पृथिवीपाल सकाशे सत्यसङ्गर ॥२०॥

हे सत्यवादी राजन् ! उन दोनों वरो को मैंने तुम्हारे पास धरोहर की तरह रखवा दिआ था। उन्हीं दोनों वरो को तुमसे मैं इस समय माँगती हूँ ॥२०॥

तत्प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद्दास्यसि मे वरम् ।
अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥२१॥

और यदि धर्मानुसार प्रतिज्ञा करके तुम वे दोनों वर मुझे इस समय न दोगे तो अपने इस अपमान के कारण तुम्हारे सामने मैं मर जाऊँगी ॥२१॥

वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशे कृतः ।
प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥२२॥

महाराज दशरथ को कैकेयी ने केवल वाणी से अपने वश में उसी तरह कर लिआ, जिस तरह (बहेलिया) हिरन को मारने के लिए जाल में बाँध लेता है ॥२२॥

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ।
वरौ यौ मे त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥२३॥

तदनन्तर वर देने वाले और काम मोहित महाराज से कैकेयी बोली कि, हे देव ! तुमने मुझे जो दो वर उस समय दिए थे ॥२३॥

तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः ।
योऽभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ॥२४॥

उन दोनो को मै अभी माँगती हूँ । सुनो रामचन्द्र के अभिषेक के लिए जो सामान सँजोया गया है ॥२४॥

अनेनैवाभिषेकेन भरतो मेऽभिषिच्यताम् ।
यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ॥२५॥

तदा दैवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः ।
नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥२६॥

उससे मेरे पुत्र भरत का अभिषेक किया जाय—(यह तो एक वर हुआ) । हे देव ! तुमने देवासुर सग्राम में प्रसन्न हो जो दूसरा वर देने को कहा था उसके लेने का समय अब आ गया है । वह यह है कि, चौदह वर्षो तक वन मे रह कर ॥२५॥२६॥

चीराजिनजटाधारी रामो भवतु तापसः ।
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥२७॥

रामचन्द्र जटा-वल्कल धारण कर तापस भेष में रहैं । मेरे पुत्र भरत आज ही निष्कण्टक राज्य भोगे ॥२७॥

एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे ।
अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वनम् ॥२८॥

बस, वही मेरी परम कामना है। आपके दिए हुए ही वर मैं माँगती हूँ। मैं राम का वनगमन आज ही देखना चाहती हूँ ॥२८॥

स राजराजो भव सत्यसङ्गरः
कुलं च शीलं च हि रक्ष जन्म च ।
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं
तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥२९॥

इति एकादशः सर्गः ।

हे राजन्! अब तुम सत्यप्रतिज्ञ बन कर अपने कुल, शील और जन्म की रक्षा करो। क्योंकि ऋषिगण, मनुष्यों के हितार्थ, सत्य ही को स्वर्ग प्राप्ति के लिए परमोत्तम साधन बतलाते हैं ॥२९॥

अयोध्याकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

द्वादशः सर्गः

—:०:—

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः ।
चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च ॥१॥

कैकेयी की इन कठोर बातों को सुन, महाराज दशरथ बहुत चिन्तित और सन्तप्त हुए ॥१॥

किंनु मे यदि वा स्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम ।
अनुभूतोपसर्गो वा मनसोवाप्युपद्रवः[1] ॥२॥

---

१ मनसोवाप्युपद्रवः—आधिव्याधिजनितचित्तक्षेपौवा । (वि०)

और सोचने लगे—क्या हम यह दिन में ही स्वप्न देख रहे, या हमारे चित्त को मोह प्राप्त हो गया है या भूत प्रेत की बाधा है, अथवा किसी दुष्ट ग्रह की पीड़ा है, अथवा आधिव्याधि जनित यह कोई उपद्रव है ? ॥२॥

इति सञ्चिन्त्य तद्राजा नाध्यगच्छत्तदा सुखम् ।
प्रतिलभ्य चिरात् संज्ञां कैकेयीवाक्यतापितः ॥३॥

बहुत सोचने विचारने पर भी महाराज का मन सुखी न हुआ । कुछ काल पीछे जब वे प्रकृतिस्थ हुए तब कैकेयी की बातों को स्मरण कर परम तप्त, ॥३॥

व्यथितो विक्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः ।
असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ॥४॥

व्यथित और विकल उसी प्रकार हुए, जिस प्रकार हिरन शेरनी को देख कर व्यथित, विकल और सन्तप्त होता है । उस समय महाराज दशरथ बिना आसन के भूमि पर बैठे बैठे दीर्घ श्वासें ले रहे थे ॥४॥

मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः ।
अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥५॥

मानों मन्त्रमण्डल के भीतर घिरा हुआ मन्त्रमुग्ध महाविषधर सर्प फुफकारता हो । क्रोध में भर महाराज ने कहा "मुझे धिक्कार है" ॥५॥

मोहमापेदिवान्भूयः शोकोपहतचेतनः ।
चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः ॥६॥

यह कह शोक से विह्वल महाराज फिर मूर्च्छित हो गए। देर तक मूर्छित रह कर, जब वे सचेत हुए, तब अत्यन्त दुखी हुए ॥६॥

कैकेयीमब्रवीत्क्रुद्धः प्रदहन्निव चक्षुषा ।
नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥७॥

और क्रोध मे भर कैकेयी को इस तरह देखा, मानों उसे भस्म ही कर देंगे। तदनन्तर उससे बोले, अरी नृशसा! पापस्वभावे! और कुल का सत्यानाश करने वाली! ॥७॥

किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयाऽपि वा ।
सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥८॥

श्रीरामचन्द्र ने या हमने तेरा क्या बिगाड़ा है? श्रीरामचन्द्र तो गर्भधारिणी माता के समान सदा तेरे साथ वर्ताव करते हैं ॥ ८ ॥

तस्यैव त्वमनर्थाय किन्निमित्तमिहोद्यता ।
त्वं मयात्मविनाशार्थं भवनं स्वं प्र वेशिता ॥९॥

श्रीरामचन्द्र का इस प्रकार का अनर्थ करने को तू क्यों तैयार हुई है। हाय! हमने अपना नाश (अपने हाथो ही से) करने के लिए तुझे अपने घर में बुलाया ॥९॥

अविज्ञानान्नृपसुता व्याली तीक्ष्णविषा यथा ।
जीवलोको यथा सर्वो रामस्याह गुणास्तवम् ॥१०॥

हमने तो तुझे राजकुमारी समझा था, हम यह नहीं जानते थे कि, तू उग्र विषधारिणी साँपिन है। जब सारे लोग श्रीरामचन्द्र जी के गुणो की प्रशंसा कर रहे हैं, ॥ १० ॥

* पाठान्तरे—यदा।

अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम् ।
कौसल्यां वा सुमित्रां वा त्यजेयमपि वा श्रियम् ॥११॥

तब हम कौनसा अपराध लगा कर ऐसे प्यारे पुत्र का त्याग करें। हम कौसल्या, सुमित्रा और राज्य को भी त्याग सकते हैं ॥११॥

जीवितं वात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम् ।
परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम् ॥१२॥

इतना ही नहीं, बल्कि हम अपने प्राण तक त्याग सकते हैं; किन्तु अपने प्राणाधार पितृवत्सल श्रीरामचन्द्र को नहीं त्याग सकते। अपने ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी को देखने से हमारा मन परम प्रसन्न होता है ॥१२॥

अपश्यतस्तु मे रामं नष्टा भवति चेतना ।
तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ॥१३॥

और श्रीरामचन्द्र को न देखने से हमारी सुधबुध नष्ट हो जाती है। बिना सूर्य के लोक भले ही बने रहैं, बिना जल बरसे अन्न भले ही उत्पन्न हो ॥१३॥

न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।
तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ॥१४॥

किन्तु बिन श्रीरामचन्द्र के क्षण भर भी हमारे प्राण शरीर में नहीं रह सकते। अतः हे पापिन ! बस कर और इस हठ को छोड़ दे ॥१४॥

अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे ।
किमिदं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम् ॥१५॥

हम अपना सिर तेरे चरणो में रखते हैं, हम पर प्रसन्न हो। हे पापिन ! ऐसा कठोर ठान तूने किस लिए ठाना है ? ॥१५॥

अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये ।
अस्तु यत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥१६॥
स मे ज्येष्ठः सुतः श्रीमान् धर्मज्येष्ठ इतीव मे ।
तत्त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥१७॥

यदि तू यह जानना चाहती हो कि हम भरत को प्यार करते हैं कि, नहीं तो तू परीक्षा ले; किन्तु तू स्वयं श्रीरामचन्द्र के बारे मे पहले जो यह कह चुकी है कि, हमारे ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम धर्मज्येष्ठ होने के कारण राज्य पाने के अधिकारी हैं सो यह बात क्या तूने मेरी खुशामद करने को कही थी अथवा श्रीरामचन्द्र से अपनी टहल करवाने को कही थी ? ॥ १६ ॥१७॥

तच्छ्रुत्वा शोकसन्तप्ता सन्तापयसि मां भृशम् ।
आविष्टाऽसि गृहं शून्यं सा त्वं परवशं गता ॥१८॥

श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक को सुन, तू शोकतप्त स्वयं हुई और मुझे भी शोकसन्तप्त कर रही है सो जान पड़ता है सूने घर में रहने से तेरे सिर पर कोई प्रेत सवार हो गया है, इसीसे तू अपने आपे मे नहीं है ॥१८॥

इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम् ।
अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥१९॥

हे देवि ! महाराज इक्ष्वाकु के कुल में यह बड़ा अनर्थ हो रहा है कि, जो आज तक सदा नीतिशालिनी रही थी उसीकी बुद्धि पर आज पत्थर पड़ रहे हैं। अर्थात् जब अच्छे लोगों की बुद्धि बिगड़ती है तब कुल में अनिष्ट होता है ॥१६॥

"प्रायः समापन्न विपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति"

अथवा

जाको प्रभु दारुन दुख देहीं।
ता कर मति पहिले हरि लेहीं ॥

न हि किञ्चिदयुक्तं[1] वा विप्रियं[2] वा पुरा मम ।
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधाम्यहम् ॥२०॥

यदि तुझे भूत प्रेत की बाधा न होती अथवा किसी ग्रह की बुरी दशा की पीड़ा न होती तो ऐसी लोकविरुद्ध और हमारे प्रतिकूल बात जैसी कि तूने पहले कभी नहीं कही थी, इस समय न कहती। इससे हमें विश्वास नहीं होता कि, तुझे भूतबाधा नहीं है ॥२०॥

ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना ।
बहुशो हि सुबाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥२१॥

हे बाले ! तू तो हम से बहुधा यही कहा करती थी कि, तुझे भरत के समान हीं श्रीरामचन्द्र प्रिय हैं अर्थात् भरत और श्रीराम में कुछ भी भेद नहीं समझती रही है ॥२१॥

---

१ अयुक्तं—लोकविरुद्धम्। (गो०) २ विप्रियं—प्रतिकूलम् अयुक्तं (वि०)

तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः ।
कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥२२॥

हे देवि ! उसी धर्मात्मा और यशस्वी श्रीरामचन्द्र का चौदह वर्षों तक वन में रहने (का वर माँगना) तुझे कैसे अच्छा लगता है ॥२२॥

अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे*कृतात्मनः ।
कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥२३॥

धर्मात्मा एवं अत्यन्त सुकुमार श्रीरामचन्द्र का अत्यन्त कठोर (अर्थात् १४ वर्षों के लिए) वनवास तुझे कैसे अच्छा लगता है, ॥२३॥

रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने ।
तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥२४॥

हे शुभलोचने ! लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र का जो तेरी सेवा किया करता है, घर से निकालना तुझे कैसे अच्छा लगता है ? ॥२४॥

†रामेऽपि भरताद्भूयस्तव शुश्रूषते सदा ।
विशेषं त्वयि तस्मात्तु भरतस्य न लक्षये ॥२५॥

फिर, भरत की अपेक्षा श्रीरामचन्द्र सदा तेरी सेवा अधिक किया करते हैं । श्रीरामचन्द्र से अधिक भरत की तुझमें भक्ति है, हमें तो ऐसा नहीं जान पड़ता ॥२५॥

शुश्रूषां गौरवं[1] चैव प्रमाणं[2] वचनक्रियाम्[3] ।
कस्ते भूयस्तरं[4] कुर्यादन्यत्र मनुजर्षभात् ॥२६॥

---

१ गौरव—प्रतिपत्तिः । (गो०) बहुमानं । (वि०) २ प्रमाण—पूजा (गो०) ३ वचनक्रियाम्—उक्तकरणं । (वि०) ४ भूयस्तर—अत्यन्तम् (वि०)

* पाठान्तरे—धृतात्मनः ।

† पाठान्तरे—रामो हि ।

जरा विचार तो, श्रीरामचन्द्र को छोड़ और कौन तेरी इतनी अधिक सेवा, सम्मान और आज्ञापालन करेगा ? ॥२६॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते[1] ॥२७॥

अन्तःपुर मे बहुत सी स्त्रियाँ और अनेक नौकर चाकर हैं, किन्तु उनमे से, एक के भी मुख से, श्रीरामचन्द्र की बुराई या निन्दा कभी नहीं सुनी ॥ २७ ॥

सान्त्वयन् सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा ।
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैः[2] विषयवासिनः[3] ॥२८॥

श्रीरामचन्द्र शुद्ध मन से प्राणिमात्र को सान्त्वना प्रदन करता हैं और अपनी प्रजा के लोगो को अपने वश में रखता है या सब का मन अपनी मुट्ठी में किए रहता है ॥२८॥

सत्येन[4] लोकाञ्[5]जयति दीनान्दानेन राघवः ।
गुरूञ्शुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥२९॥

श्रीरामचन्द्र प्राणीमात्र के हित में निरत रहने से स्वर्गादि लोकों को और अपनी उदारता से दीनदुखियो को और दान से ब्राह्मणो को अपने वशीभूत किए हुए हैं । इसी प्रकार उन्होने गुरुजनो को सेवा से और धनुर्धारी शत्रुओ को युद्धभूमि मे धनुष द्वारा अपने वश मे कर रखा है ॥२९॥

---

१ नोपपद्यते—नविद्यते । (वि०) २ प्रियै.—अभीष्ट प्रदानैः (गो०) ३ विषयवासिनः—स्वदेशस्थानजनान् । (वि०) ४ सत्येन । भूतहितेन । (गो०) ५ लोकान्—स्वर्गादि वैकुण्ठ पर्यन्तान् । (गो०)

सत्यं[1] दानं[2] तपः[3] त्यागो[4] मित्रता[5] शौचं[6] मार्जवम्[7]।
विद्या[8] च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥३०॥

सत्य, (सत्यभाषण) दान, (परलोक प्रयोजन सम्बन्धी तप, (शास्त्रविहित भोजन करना—जिह्वा के स्वाद के लिए खाते समय भक्ष्याभक्ष्य का विचार रखना) मैत्री, (सब लोगो की हितकामना) शौच, (बाहिर भीतर की पवित्रता); आर्जव, (दूसरे के मन के अनुसार चलने वाले) विद्या, (तत्वज्ञान) गुरुशुश्रूषा, आदि सद्गुण श्रीरामचन्द्र में निश्चय ही विद्यमान हैं ॥३०॥

तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम् ।
पाप[9] माशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥३१॥

हे देवी ! जो श्रीरामचन्द्र सब के मन को देख कर काम करने वाले हैं जो महर्षियो और देवताओं के समान तेजस्वी हैं, उन श्रीरामचन्द्र को तू वनवास का क्लेश देना चाहती है ! ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः ।
स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम् ॥३२॥

जो श्रीरामचन्द्र कभी किसी से अप्रियवचन नहीं बोलते, हम तेरे कहने से क्यो कर उन प्राणों से बढ कर प्यारे श्रीराम से यह

---

१ सत्य—सत्यवचन । (वि०) २ दान—परलोकप्रयोजन । (गो०) ३ तप.शास्त्रविहित भोजनानिवृत्यादिरूप. । (गो०) ४ त्याग —ऐहिकप्रयोजन. प्रीत्यर्थं । (गो०) ५ मित्रता—सर्वसुहृत्त्वम् । (गो०) ६ शौच—वाह्याभ्यन्तरशुद्धि. । (वि०) ७ आर्जवम्—परचित्तानुवर्तित्व । (गो०) ८ विद्या—तत्व-ज्ञान । (गो०) ९ पाप—वनवासदु.खं (वि०) ।

अप्रियवचन कह सकते हैं कहना तो जहाँ तहाँ रहा, हम तो अपने मन में भी ऐसी बात की कल्पना नहीं कर सकते ॥ ३२ ॥

क्षमा यस्मिन् दमस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता ।
अविहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम ॥३३॥

जिस श्रीरामचन्द्र में क्षमा, दम, त्याग, सत्यभाषण, धार्मिकता, कृतज्ञता, प्राणिमात्र में अहिंसा का भाव; जैसे (अलौकिक) सद्गुण विद्यमान हैं, उस श्रीराम के विना हमारीक्या दशा होगी (जरा इस प्रश्न को तो अपने मन से पूँछ देख) ॥३३॥

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः[१] ।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥३४॥

हे कैकेयी ! हम बूढ़े हैं । हमारा अन्त समय अब निकट आ चुका है । हमारी इस समय शोच्य अवस्था है और हम तेरे सामने गिड़गिड़ा रहे हैं । हमारे ऊपर दया (रहम) कर । (अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के वनवास का हठ छोड़ दे ।) ॥३४॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यत्किञ्चिदधिगम्यते ।
तत्सर्वं तव दास्यामि मा च त्वां मन्युराविशेत् ॥३५॥

इस समुद्र से घिरी हुई पृथिवी के भीतर जो कुछ है—हम वह सब तुझे देने को तैयार हैं, हमें तू मृत्यु के मुख में मत ढकेल ॥३५॥

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते ।
शरणं[२] भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥३६॥

१ तपस्विनः—शोचनीयावस्थस्य । (गो०) २ शरणं—रक्षितृ । (गो०)

हे कैकेयी ! हम तेरे हाथ जोड़ते हैं, पैरों पड़ते हैं तू रामचन्द्र को रक्षक बन और हमें प्रतिज्ञाभङ्ग के पाप से बचा ॥३६॥

इति दुःखाभिसन्तप्तं विलपन्तमचेतनम् ।
घूर्णमानं महाराजं शोकेन समभिप्लुतम् ॥३७॥

इस प्रकार शोक से सन्तप्त महाराज दशरथ जी विलाप करते करते अचेत (मूर्च्छित) हो गए । उनका सारा शरीर घूमने लगा और वे शोक से विकल हो गए ॥३७॥

पारं शोकार्णवस्याशु प्रार्थयन्तं पुनः पुनः ।
प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥३८॥

उन्होंने इस शोकसागर के शीघ्र पार होने के लिए बार बार प्रार्थना की , किन्तु दुष्टा कैकेयी ने उन पर दया न की, बल्कि वह) और भी अधिक कठोरता पूर्ण वचन बोली ॥३८॥

यदि दत्त्वा वरौ राजन् पुनः प्रत्यनुतप्यसे ।
धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥३९॥

हे राजन् ! यदि तुम वर दे कर, उनके लिए अब पछताते हो, तो हे वीर ! तुम्हें संसार में कौन धार्मिक कहेगा ? ॥३९॥

यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह ।
कथयिष्यन्ति धर्मज्ञास्तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥४०॥

जब अनेक राजर्षि तुम्हारे पास आ, इस वरदान के संबन्ध में तुमसे पूछेंगे , तब हे धर्मज्ञ ! उनके प्रश्न का तुम क्या उत्तर दोगे ? ॥४०॥

यस्याः प्रयत्ने जीवामि या च मामभ्यपालयत् ।
तस्याः कृतं मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि ॥४१॥

उनके प्रश्न के उत्तर में तब तुमको यही न कहना पड़ेगा कि, जिसकी कृपा से मेरी जान बची अथवा इस समय भी जीता जागता मौजूद हूँ और जिसने कठिन समय में मेरी बड़ी सेवा की उसी कैकेयी को वर देने का वचन दे कर भी, मैंने वर नहीं दिआ ॥४१॥

किल्बिषत्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप ।
यो दत्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे ॥४२॥

मैं जान गई, तुम इक्ष्वाकुकुल के यशस्वी राजाओं के यश को कलंकित करोगे, क्योंकि वर देने की प्रतिज्ञा करके, अब तुम अपनी उस प्रतिज्ञा को पलट रहे हो ॥४२॥

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥४३॥

देखो, तुम्हारे ही वंश में एक राजा शैब्य हो गए हैं, जिन्होंने (अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए) बाज पक्षी को अपने शरीर का मांस तक दे, कबूतर की प्राण रक्षा की थी। दूसरे राजा अलर्क थे, जिन्होंने अपने नेत्र निकाल कर, एक अन्धे ब्राह्मण को दे दिए थे, जिससे उनको सद्गति प्राप्त हुई थी ॥४३॥

सागरः समयं[1] कृत्वा न वेलामतिवर्तते ।
समयं माऽनृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥४४॥

(मनुष्य तो मनुष्य) समुद्र भी वचनबद्ध होने के कारण अपने तट के आगे नहीं बढ़ता। अतएव तुम भी पहली बातों को स्मरण कर, अपनी प्रतिज्ञा को झूठी मत करो ॥४४॥

---

१ समय—प्रतिज्ञा। (गो०)।

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च ।
सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥४५॥

हे दुरात्मा राजन्! इस समय तेरी बुद्धि बिगड़ गई है। इसीसे तू सत्य का अनादर करके, राम को राज्य इसलिए दे रहा है कि, जिससे तू नित्य उसकी माता कौसल्या के साथ विहार करे ॥४५॥

[टिप्पणी—महाराज दशरथ के लिए कैकेयी को 'दुर्मते' कहना सर्वथा अविवेक पूर्ण है।

[टिप्पणी—कैकेयी की इस बात से स्पष्ट है कि स्त्री की बुद्धि प्रलयङ्कारी होती है। उसे अपने हठ के सामने कहनी अनकहनी बात का जरा भी ध्यान नहीं रहता।]

भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वाऽनृतम् ।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥४६॥

अब चाहे धर्म हो चाहे अधर्म, चाहे सत्य हो चाहे मिथ्या तुमने मुझसे जो प्रतिज्ञा की है, वह तुम्हें पूरी करनी ही होगी। उसमें अब हेरफेर कुछ भी नहीं हो सकता ॥४६॥

अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः ।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥४७॥

और यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करोगे और रामचन्द्र ही को राज्य दे दोगे, तो बहुत सा हलाहल विष पी कर मैं तुम्हारे सामने ही अपनी जान॥ दे दू४ग७॥

स्यद्यएयेय हमपि पश्कामहमात रमा.।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम ॥४८॥

यदि मैंने किसी दिन भी (राजमाता होने के कारण) कौसल्या को लोगों का प्रणाम ग्रहण करते देखा, तो फिर मैं अपने शरीर को न रखूँगी अर्थात् तुरन्त मर जाऊँगी ॥४८॥

भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप ।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात् ॥४९॥

हे नरेन्द्र! मैं अपनी और भरत की शपथ खाकर तुमसे कहती हूँ कि, मैं राम को वन में भेजे बिना और किसी भी बात से सन्तुष्ट नहीं हो सकती ॥४९॥

एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह ।
विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा ॥५०॥

यह कह कैकेयी चुप हो गई और विलाप करते हुए महाराज दशरथ से और कुछ भी न बोली अर्थात् उसने दशरथ की अन्य युक्तियों पर जो श्रीरामचन्द्र जी को वन में न भेजने के लिए उन्होंने प्रदर्शित की थीं, कुछ भी ध्यान न दिआ ॥५०॥

श्रुत्वा च राजा कैकेय्या वाक्यं परमदारुणम् ।
रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥५१॥

कैकेयी की इन कठोर बातों को सुन, महाराज दशरथ को निश्चय हो गया कि, कैकेयी सचमुच श्रीरामचन्द्र जी का वनवास और भरत का राज्याभिषेक चाहती है ॥५१॥

नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः ।
प्रैक्षतानिमिषो देवीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥५२॥

वे कैकेयी से बोले तो कुछ नहीं; किन्तु विकल हो, एक घड़ी तक अपनी प्रिया किन्तु अप्रियवादिनी कैकेयी के मुख को इकटक निहारते रहे ॥५२॥

तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम् ।
दुःखशोकमयीं घोरां राजा न सुखितोऽभवत् ॥५३॥

कैकेयी के मुख से वज्र के समान हृदय को दहलाने वाले और दुःख शोक उत्पन्न करने वाले भयंकर वचनों को सुन, महाराज दशरथ सुखी न हुए सुखी क्यों कर हो सकते थे ? ॥५३॥

स देव्या व्यवसायं[1] च घोरं च शपथं कृतम् ।
ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य च्छिन्नस्तरुरिवापतत् ॥५४॥

कैकेयी का श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने का भयङ्कर निश्चय और उसकी शपथ को स्मरण कर, महाराज दशरथ ने 'हा राम ! हा राम !!" कह कर, ऊँची साँस ली और जड़ से कटे हुए पेड़ की तरह वे जमीन पर गिर पड़े ॥५४॥

नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथाऽऽतुरः ।
हृततेजा यथा सर्पो बभूव जगतीपतिः ॥५५॥

उस समय महाराज पागल की तरह नष्टचित्त, सन्निपातादि रोगों से ग्रस्त रोगी की तरह, विपरीत बुद्धि और मंत्रमुग्ध सर्प की तरह, हततेज हो गए ॥५५॥

दीनया तु गिरा राजा इति होवाच कैकयीम् ।
अनर्थमिममर्थाभं केन त्वमुपदर्शिता ॥५६॥

---

१ व्यवसाय—रामविवासनविषयनिश्चय । (वि०)

महाराज ने गिड़गिड़ा कर कैकेयी से कहा—तुझे किसने इस अनर्थ भरी बात को अर्थ के रूप में समझाया है। अर्थात् जिस काम के करने से सरासर हानि है, उसमें लाभ का होना तुझे किसने समझाया है? ॥५६॥

भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे।
शीलव्यसनमेतत्ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥५७॥

प्रेतग्रस्त मनुष्य की तरह हमसे बातचीत करते तुझे लज्जा नहीं जान पड़ती? हम पहले यह नहीं जानते थे कि, तू ऐसी दुःशीला है और तेरी ऐसी करतूतें हैं ॥५७॥

बालायास्तत्त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत्।
कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवंविधं वरम् ॥५८॥

बाल्यावस्था में तो तेरा स्वभाव इस समय के स्वभाव से सर्वथा विपरीत था। तुझे ऐसा भय कैसे उत्पन्न हुआ, जो तू ऐसा वर माँगती है कि ॥५८॥

राष्ट्रे भरतमासीनं वृणीषे राघवं वने।
विरमैतेन भावेन त्वमेतेनानृतेन वा ॥५९॥

भरत राजसिंहासन पर और श्रीरामचन्द्र वन में जाँय। बस अब हठ छोड़ दे और ऐसी झूठी बातें मुँह से मत निकाल ॥५९॥

यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च।
नृशंसे पापसङ्कल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥६०॥

अरी नृशंसे, अरी पापिन! अरी ओछे स्वभाव वाली! अरी कुकर्मिन्! यदि प्रजा की, अपने पुत्र भरत की और हमारी भलाई चाहती हो तो, ऐसा अनिष्ठ कर हठ मत कर ॥६०॥

किन्तु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि ।
न कथंचिदृते रामाद्भरतो राज्यमावसेत् ॥६१॥

हमने या श्री राम ने तेरा कौन सा ऐसा अपराध किआ है जो तू ऐसा कहती है। हम समझते हैं कि, श्रीरामचन्द्र के सामने भरत तो कभी राजगद्दी पर बैठना पसंद ही न करेंगे ॥६१॥

रामादपि हित मन्ये धर्मतो बलवत्तरम् ।
कथं द्रक्ष्यामि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते ॥६२॥

क्योंकि हम तो भरत को श्रीरामचन्द्र से भी अधिक धर्मात्मा समझते हैं। हम जब श्रीराम से वन जाने को कहेंगे, तब उसका मुख उदास हो जायगा, उसे हम कैसे देख सकेंगे ? ॥६२॥

मुखवर्णं विवर्णं तं यथैवेन्दुमुपप्लुतम् ।
तां हि मे सुकृतां[१] बुद्धिं सुहृद्भिः सह निश्चिताम् ॥६३॥

राहु से ग्रस्त चन्द्रमा की तरह श्रीरामचन्द्र का उतरा हुआ चेहरा हम कैसे देख सकेंगे। हम अपने मन्त्रियों और हितैषी मित्रो के साथ परामर्श कर, जो निश्चय कर चुके हैं ॥६३॥

कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम् ।
किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः ॥६४॥

उसका बदल जाना, शत्रु से मारी हुई सेना की तरह, हम कैसे देख सकेंगे ? फिर देश देशान्तरो से आए हुए राजा लोग सर्व-सम्मति से निश्चित हुए मन्तव्य के विरुद्ध काम होते देख, हमसे क्या कहेंगे ? ॥६४॥

---

१ सुकृता—मन्त्रिभिः । (गो०)

बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत् ।
यदा तु बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः ॥६५॥

यही न कहेंगे कि, इक्ष्वाकुवंशधर दशरथ निपट बालबुद्धि का है, आश्चर्य है इतने दिनों तक इसने राज्य किस प्रकार किया। फिर जब अनेक बूढ़े गुणवान और शास्त्रमर्मज्ञ ॥६५॥

परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामि किमहं तदा ।
कैकेय्या क्लिश्यमानेन[1] रामः प्रव्राजितो मया ॥६६॥

हमसे पूँछेगे कि, "श्रीरामचन्द्र कहाँ गए ?" तब हम उनको क्या उत्तर देंगे ? क्या हमारा उनके प्रश्न के उत्तर में यह कहना अच्छा होगा कि, कैकेयी के सताने पर, हमने श्रीरामचन्द्र को घर से निकाल दिया ॥६६॥

यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति ।
किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ॥६७॥

यदि हम यह सच्ची बात प्रकट कर देंगे तो हमारा वह निश्चय जो हमने वसिष्ठ वामदेवादि गुरुजनों के समक्ष श्रीरामचन्द्र को युवराजपद पर अभिषिक्त करने के लिए किया है; झूठा हो जायगा। श्रीरामचन्द्र को वनवास देने पर, उसकी माता कौसल्या हमसे क्या कहेगी ? ॥६७॥

किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।
यदा यदा च कौसल्या दासीवच्च सखीव च ॥६८॥

---

१ क्लिश्यमानेन—पीड्यमानेन । (वि०)

और हम ही ऐसा अनिष्ट कार्य कर कौसल्या को क्या उत्तर दे सकेंगे ? हे कैकेयी ! देख, जब समय समय पर कौसल्या, जो सेवा करने में दासी के समान, रहस्य में सखी के समान, ॥६८॥

भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ।
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥६९॥

धर्मकृत्यों में स्त्री के समान, हितैषिता में सगी बहिन के समान आग्रहपूर्वक सुस्वादु भोजन कराने में माता के समान है, जो सदा हमसे मधुर वचन बोलती है और हमारा भला चाहती है और जिसका पुत्र भी हमको सबसे अधिक प्रिय है ॥६९॥

न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ।
इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं[1] त्वयि ॥७०॥

हमारे पास आई, तब तब हमने, तेरे विचार से (कि, कहीं तू अप्रसन्न न हो जाय) सत्कार करने योग्य उस कौसल्या का यथोचित आदर न किया। तेरे प्रति हमने जो यह सद्व्यवहार किया था, उसका हमें आज उसी प्रकार पश्चात्ताप हो रहा है, ॥७०॥

अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम् ।
विप्रकारं[2] च रामस्य संप्रयाणं वनस्य च ॥७१॥

---

१ सुकृत—सुष्टूपचरित । (गो०) २ विप्रकारं—विपरीत प्रकारं, अभिषेकतिरस्कार (गो०)

जिस प्रकार स्वादिष्ट किन्तु कुपथ्य भोजन कर, रोगी को पश्चात्ताप होता है। श्रीरामचन्द्र का इस प्रकार का तिरस्कार और उनका वनगमन ॥७१॥

सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति।
कृपणं[1] बत वैदेही श्रोष्यति द्वयमप्रियम् ॥७२॥

देख कर डरी हुई सुमित्रा को (भी अपने पुत्रो के विषय में) हमारा विश्वास कैसे होगा? बड़े ही दु.ख की बात है कि, वैदेही को ये दो अप्रिय सवाद सुनने पड़ेगे ॥७२॥

मां च पञ्चत्वमापन्नं रामं च वनमाश्रितम्।
वैदेही बत[2] मे प्राणाञ्शोचन्ती क्षपयिष्यति ॥७३॥

बड़े ही खेद की बात है कि, जानकी, हमारी मृत्यु का और श्रीरामचन्द्र के वनवासी होने का सवाद सुन, इन बातो की चिन्ता में अपने प्राण वैसे ही गँवा देगी ॥७३॥

हीना हिमवतः पार्श्वे किन्नरेणेव किन्नरी।
न हि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने ॥७४॥

जैसे हिमालय के पास किन्नररहित किन्नरी अपने प्राण गँवा देती है। हम न तो श्रीरामचन्द्र को वन जाते ॥७४॥

चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम्।
सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥७५॥

और न जानकी को रोती देख, बहुत दिनो तक जी सकते हैं। तब तू विधवा हो कर, अपने पुत्र सहित राज्यसुख भोगना ॥७५॥

---

१ कृपणं—कष्टं। (वि०) २ बतेतिखेदे। (वि०)

न हि प्रव्राजिते रामे देवि जीवितुमुत्सहे ।
सतीं त्वामहमत्यन्तं व्यवस्याम्यसतीं सतीम् ॥७६॥
रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः ।
अनृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे ॥७७॥

हे देवि ! (खूब समझ ले) श्रीराम जी के वन जाने पर, हमें जीने की इच्छा नहीं है। लोग जिस प्रकार शराब के मोहिनी रूप पर मोहित हो उसे पी तो लेते हैं, किन्तु पीछे उसका विष सदृश परिणाम होने पर वे उसे बुरी समझने लगते हैं, उसी प्रकार हम तेरे रूप पर मोहित हो कर, तुझे सती समझ तेरे साथ रहे, किन्तु अब हम समझे कि, तू व्यवहार मे किसी असती से कम नहीं है। तूने हमे झूठी बाते कह, उसी प्रकार खूब भरमाया ॥७६॥७७॥

गीतशब्देन संरुद्ध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ।
अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायिकं ध्रुवम् ।
धिक्करिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ।
अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव ॥७९॥

जिस प्रकार बहेलिया गीत गा कर, हिरन को अपने जाल में फँसाता है। हा ! श्रेष्ठ पुरुष अब हमको अनार्य और पुत्र का बेचने वाला बतला, हमारी उसी प्रकार गली गली निन्दा करेंगे, जिस प्रकार लोग मद्यप ब्राह्मण की निन्दा करते हैं। हा ! बड़े ही कष्ट की बात है कि, हमें तेरे ये कठोर वचन सुनने पड़ते हैं ॥७८॥७९॥

[टिप्पणी—रामायण काल में भी "मद्यप ब्राह्मण" निन्दा का पात्र समझा जाता था।]

दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुराकृतमिवाशुभम् ।
चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता ॥८०॥

इस समय हमें वैसे ही दुःख भोगना पड़ रहा है जैसे लोग पूर्व जन्म के पापों का फल भोगते हैं। हे पापिन ! हम जैसे पापी ने बहुत दिनों तक उसी प्रकार तेरी रक्षा की ॥८०॥

अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुरुद्बन्धनी यथा ।
रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये ॥८१॥

जैसे कोई अनजान में अपने गले की फाँसी की रक्षा करता है। तेरे साथ विहार करते हुए, उसी प्रकार हम यह न पहचान पाए कि, तू हमारी साक्षात् मौत है, ॥७१॥

बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ।
मया ह्यपितृकः पुत्रः स महात्मा दुरात्मना ॥८२॥

जिस प्रकार एकान्त में कोई बालक काले साँप के साथ खेलता हुआ, उसे अपनी मौत नहीं पहचानता। (उसी प्रकार तेरे साथ रति क्रीड़ा करता हुआ मै तुझे न पहचान सका,) मुझसे बढ़ कर दुष्ट कौन होगा जो अपने जीते जी, अपने सर्वगुण सम्पन्न पुत्र को पितृहीन कर डाले ॥८२॥

तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति ।
बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम् ॥८३॥

अवश्य ही सारी दुनियाँ यह कह कर, हमारी निन्दा करेगी कि, राजा दशरथ बड़ा कामी और लड़क बुद्धि वाला है ॥८३॥

स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति ।
व्रतैश्च[१] ब्रह्मचर्यैश्च[२] गुरुभि[३]श्चोपकर्शितः ॥८४॥

जो स्त्री के कहने से अपने प्यारे पुत्र को वन भेज रहा है। श्रीरामचन्द्र ब्रह्मचर्य-अवस्था मे मधु मॉसादि खाने का निषेध होने के कारण ब्रह्मचर्योपयोगी व्रतादि धारण करने के कारण तथा गुरुओं से विद्याध्ययन करते समय, परिश्रम करने के कारण वैसे ही लटा दुवला था ॥८४॥

भोगकाले[४] महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते ।
नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम् ॥८५॥

स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति ।
यदि मे राघवः कुर्याद्वनं गच्छेति भाषितः ॥८६॥

प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति ।
शुद्धभावो[५] हि भावं[६] मे न तु ज्ञास्यति राघवः ॥८७॥

अब गृहस्थाश्रम मे, जब उसके शरीर के हृष्टपुष्ट होने का समय आया, तब भी उसे फिर बड़े बड़े शारीरिक कष्टों का सामना करना पड़ेगा। मै अच्छी तरह जानता हूँ कि, जब मैं उससे वन जाने को कहूँगा, तब वह सिवाय "बहुत अच्छा" कहने के और कुछ न कहेगा. किन्तु यदि कही वन जाने की आज्ञा सुन वह वन न जाँय तो बहुत अच्छा हो। पर मेरा प्यारा बच्चा

१ व्रतैः—काण्डव्रतै । (गो०) २ ब्रह्मचार्यैं—मधुमासवर्जनादि ब्रह्मचारिधर्मैं। (गो०) ३ गुरुभिः—गुरुकृतशिक्षादिभिः । (गो०) ४ भोगकाले गार्हस्थ्यवस्थायाम् । (गो०), ५ शुद्धभावः—शुद्धहृदयः । (गो०) ६

ऐसा कभी न करेगा। मेरे अभिप्राय को न जान कर, और मेरी कही बात को मेरे शुद्ध हृदय से निकली समझ, वह तुरन्त तदनुसार करेगा ॥८५॥८६॥८७॥

स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति ।
राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम् ॥८८॥

और वन जाने के लिए कहते ही वह "बहुत अच्छा" ही कहेगा। श्रीरामचन्द्र के वन जाने पर सब लोग मुझे धिकारेंगे ॥८८॥

मृत्युरक्षमणीयं मां नयिष्यति यमक्षयम् ।
मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ॥८९॥

और किसी को न छोड़ने वाले मृत्युदेव मुझे यमपुरी में ले जाँयगे। तो फिर जब मैं मर जाऊँगा और पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र वन में चला जायगा ॥८९॥

इष्टे मम जने शेषे[१] किं पापं[२] प्रतिपत्स्यसे[३] ।
कौसल्यां मां च रामं च पुत्रौ च यदि हास्यति ॥९०॥

तब कौसल्यादि बचे हुए मेरे इष्ट लोगों के साथ न जाने तू क्या क्या अन्याय करेगी ? जब मुझको और श्रीराम अथवा श्रीराम लक्ष्मण को कौसल्यादेवी न देखेगी ॥९०॥

दुःखान्यसहती देवी मामेवानुमरिष्यति ।
कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह ॥९१॥

---

१ शेषे—कौसल्यादौ। (गो०) २ किंपाप—कमन्यायं । (गो०)
३ प्रतिपत्स्यसे—चिन्तयिष्यसि । (गो०)

प्रक्षिप्य नरके[१] सा त्वं कैकेयि सुखिता भव ।
मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं[२] सत्कृतं गुणैः ॥६२॥

इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यमाकुलं पालयिष्यसि ।
प्रियं चेद्भरतस्यैतद्रामप्रव्राजनं भवेत् ॥६३॥

तब इस वियोगजनित शोक को न सह कर, वह मेरे साथ ही प्राण छोड़ देगी। हे कैकेयी! मुझे, कौसल्या को, सुमित्रा को और तीनों पुत्रों को दुःख में ढकेल तू, सुखी हो। इस इक्ष्वाकुकुल का, जिसे मैं और श्रीरामचन्द्र छोड़ जाँयगे और जो बहुत-काल से बराबर क्षोभहीन चला आ रहा है, तू बिना क्षुब्ध किए पालन कर सकेगी? (यह व्यङ्ग्योक्ति है)। यदि श्रीरामचन्द्र का वन को जाना भरत को प्रिय लगे ॥६१॥६२॥६३॥

मा स्म मे भरतः कार्षीत्प्रेतकृत्यं गतायुषः ।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा भव कैकयि ॥६४॥

तो जब मैं मरूँ तब भरत मेरे शरीर की प्रेतक्रिया (दाह-कर्मादि) न करे। हे दुष्टे! हे वैरिन कैकेयी! तू सफल मनोरथ हो ॥६४॥

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्गवे ।
सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥६५॥

जब मैं मर जाऊँ और पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र वन को चला जाय तब तू राँड़ हो कर और अपने बेटे को ले कर राज्य करना ॥६५॥

---

१ नरके—दुःखे। (वि०) २ शाश्वतं—बहुकालकम्। (शि०)

त्वं राजपुत्रीवादेन[1] न्यवसो मम वेश्मनि ।
अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ॥९६॥
सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा ।
कथं रथैर्विभु[2]र्यात्वा गजाश्वैश्च मुहुर्मुहुः ॥९७॥

तू केवल कथनमात्र की राजपुत्री हो कर मेरे घर में रहती है। (यदि तू सच्ची राजपुत्री होती तो) तेरे कारण तो संसार में मेरी अतुल अपकीर्ति और सब लोगों के सामने पापियो की तरह मेरी अवज्ञा होने का यह समय कभी न आता। हाँ ! जो श्रीरामचन्द्र रथ, घोड़े, हाथी आदि वाहनो पर चढ़ के सदा घूमता था; किस प्रकार वह ॥९६॥९७॥

पद्भ्यां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति ।
यस्य त्वाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः ॥९८॥

मेरा पुत्र श्रीराम, विकट वन में पैदल विचरेगा। जिस श्रीरामचन्द्र को भोजन कराने के लिए कुण्डल पहिने हुए रसोइया आपस में यह कह कर कि, ॥९८॥

अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रशस्तं पानभोजनम् ।
स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च ॥९९॥

"हम पहले, हम पहले स्वादिष्ट भोजन और जलपान बनाते हैं", रसोई तैयार करते थे, वही श्रीरामचन्द्र जंगल के कषैले, तीते और कड़ुए ॥९९॥

---

१ वादेन—व्यपदेशेन। (गो०) २ विभुः—समर्थोरामः। (शि०)

भक्षयन्वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ।
महार्हवस्त्रसंवीतो भूत्वा चिरसुखोषितः ॥१००॥

फलमूल का आहार कर कैसे समय बितावेगा ? जो श्रीरामचन्द्र चिरकाल से अच्छे मूल्यवान वस्त्र धारण करता रहा है और मुलायम बिछौनो पर सोता रहा है ॥१००॥

काषायपरिधानस्तु कथं भूमौ निवत्स्यति ।
कस्यैतद्दारुणं वाक्यमेवंविधमचिन्तितम् ।
रामस्यारण्यगमनं भरतस्याभिषेचनम् ॥१०१॥

वह श्रीरामचन्द्र कापाय वस्त्र पहिन, क्यो कर जमीन पर सो सकेगा । नहीं जान पड़ता कि, किस दुष्ट ने श्रीराम के वन जाने और भरत के राज्याभिषेक का दारुण उपदेश तुझको दिया है ॥१०१॥

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपराः सदा ।
न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम् ॥१०२॥

धिक्कार है स्त्रियो को जो धूर्त और सदा अपने मतलब मे निपुण होती है अथवा जो स्वार्थतत्पर होती है । मेरा यह कथन सब स्त्रियो के लिए नहीं, किन्तु केवल भरत की माता जैसी स्त्रियो ही के लिए है ॥१०२।

टिप्पणी—कई टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ करते हुए लिखा है कि, दशरथ ने पहिले दु.ख एव क्षोभ के कारण सब स्त्रियों की निन्दा की, किन्तु पीछे जब उनको कौसल्या आदि का स्मरण आया, तब उन्होंने अपने प्रथमकथन का भरत की माता का विशेष रूप से उल्लेख कर, संशोधन कर दिया । किन्तु शिरोमणि टीकाकार का कथन है कि,

"भरतस्य मातरमेव न ब्रवीमि (किन्तु) सर्वा ब्रवीमि इत्यर्थः" अर्थात् स्त्रियों के सम्बन्ध मे मैंने जो कहा है वह केवल भरत की माता ही के लिए नहीं, किन्तु समस्त स्त्रियों ही के लिए है। हमारी समझ मे महाराज दशरथ का उक्त कथन उन सभी स्त्रियों के लिए है जो भरत की माता कैकेयी की तरह दूसरों की बातों में आकर, हठवश विवेक को विदा कर देती हैं और अपने मतलब के सामने, दूसरों की हानि की रत्ती भर भी परवाह नहीं करतीं।]

अनर्थभावेऽर्थपरे नृशंसे
ममानुतापाय निविष्टभावे ।
किमप्रियं पश्यसि मन्निमित्तं
हितानुकारिण्यथवापि रामे ॥१०३॥

अनर्थ करने वाली और अपने ही अर्थ के साधन मे, सदा तत्पर रहने के कारण नीच स्वभाव की हे कैकेयी! क्या हमें दुःख देने के लिए ही तू मेरे घर में आयी है? यह तो बतला उसमें अथवा दुनियाँ के हित चाहने वाले श्रीरामचन्द्र मे तैंने क्या बुराई देखी? ॥१०३॥

परित्यजेयुः पितरो हि पुत्रान्
भार्याः पतींश्चापि कृतानुरागाः ।
कृत्स्नं हि सर्वं कुपितं जगत्स्याद्
दृष्ट्वैव रामं व्यसने निमग्नम् ॥१०४॥

हे कैकेयी! श्रीरामचन्द्र के वन के कष्टों को देख, सारा संसार क्रुद्ध हो जायगा और उनके साथ वन में रहने के लिए पिता अपने पुत्रों को और पतिव्रता स्त्रियाँ अपने प्यारे पतियों को छोड़

जायँगी अर्थात् श्रीरामचन्द्र के वन जाने पर संसार में बड़ी उथल पुथल मच जायगी अथवा बड़ा अनर्थ होगा ॥१०४॥

अहं पुनर्देवकुमाररूप-
मलंकृतं तं सुतमात्रजन्तम् ।
नन्दामि पश्यन्नपि दर्शनेन
भवामि दृष्ट्वा च पुनर्युवेव ॥१०५॥

देवकुमार की तरह रूपवान और अलङ्कारों से युक्त श्रीरामचन्द्र का अपने निकट आना सुन कर भी मुझे वैसी ही प्रसन्नता प्राप्त होती है जैसी उसे अपने नेत्रों से देखने पर। और जब मैं उसे अपने नेत्रों से देखता हूँ तब मेरा मन और शरीर नवीन उत्साह से उत्साहित हो जाते हैं अर्थात मेरे शरीर में जवानी का जोश छा जाता है ॥१०५॥

विनापि सूर्येण भवेत्प्रवृत्ति-
रवर्षता वज्रधरेण वाऽपि ।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य
जीवेन्न[1] कश्चित्त्विति चेतना[2]मे ॥१०६॥

सूर्य के उदय न होने से भले ही संसार के यावत् कार्य होते रहें, इन्द्र द्वारा जल न बरसने पर भले ही दुनिया का निर्वाह हो जाय, किन्तु श्रीरामचन्द्र को अयोध्या से वन जाते देख, मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि, कोई भी सुखी न होगा ॥१०६॥

विनाशकामामहितामभित्रा-
मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम् ।

---

१ जीवेत्—स्वस्थतयातिष्ठेत् । (शि०) २ चेतना—निश्चयः । (शि०)

चिरं व्रताङ्केन धृतासि सर्पी
महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात् ॥१०७॥

हा ! मेरे विनाश की इच्छा रखने वाली, अनिष्टकारिण एवं शत्रुरूपिणी तुझे मैंने अपनी मृत्यु की तरह, घर में बसाय और बहुत दिनो तक, महाविष वाली तुझ साँपिन को, मोहवश अपनी गोद में रखने के कारण ही (आज) मैं मारा जात हूँ ॥१०७॥

मया च रामेण च लक्ष्मणेन
प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह ।
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्
ममाहितानां च भवाभिहर्षिणी[1] ॥१०८॥

अब तू, श्रीराम लक्ष्मण और मुझे तिलाञ्जलि दे कर, अपने पुत्र भरत के साथ राज्य करना और मेरे बन्धुबान्धवों, नगरों व देशों को उजाड़ अथवा नष्ट कर, मेरे बैरियों को प्रसन्न कर अथवा हमारे बैरियों से प्रीति करना ॥१०८॥

नृशंसवृत्ते[2] व्यसन[3]प्रहारिणि
प्रसह्य[4] वाक्यं यदिहाद्य[5] भाषसे ।
न नाम ते केन मुखात्पतन्त्यधो
विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा ॥१०९॥

---

१ अभिहर्षिणी—मम अभित्रेषु स्नेहयुक्ता भवेत्यर्थः । (वि०) २ नृशंसवृत्ते—क्रूरव्यापारे । (गो०) ३ व्यसनप्रहारिणि—विपदि प्रहरणशीले । (गो०) ४ प्रसह्य—पतिस्वातन्त्र्यतिरस्कृत्य । (गो०) ५ अद्य—अस्मिन्काले । (गो०)

अरी क्रूरकर्मा ! अरी गाज ढाने वाली ! पति के सामने न कहने योग्य बातें कहते समय मुख से गिर कर, तेरे दाँतों के हजारों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ? ॥१०९॥

न किञ्चिदाहाहितमप्रियं वचो
न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम् ।
कथं नु रामे ह्यभिरामवादिनि
ब्रवीषि दोषान् गुणनित्यसम्मते ॥११०॥

मेरे श्रीराम ने कभी तुझसे कोई अप्रिय बात नहीं कही—और वह कहता ही कैसे, क्योंकि वह तो किसी से अप्रियवचन कहना जानता ही नहीं। तब सदा प्रियभाषी, सकल-गुण-सम्पन्न श्रीरामचन्द्र में तू दोषारोपण क्यों करती है ? ॥११०॥

प्रताम्य[1] वा प्रज्वल[2] वा प्रणश्य वा
सहस्रशो वा स्फुटिता[3] महीं व्रज ।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं
ममाहितं केकयराजपांसनि ॥१११॥

अरी केकय-राज-कुल कलङ्किनी कैकेयी ! चाहे तू उदास हो, चाहे तू कुपित हो, चाहे तू विष खा कर मर जा, अथवा चाहे तू पत्थर से सिर फोड़ डाल, या तू जमीन में समा जा, किन्तु, तेरी इस दारुण बात को, जिसके करने से सरासर मेरा अहित है, मैं कभी न मानूँगा ॥१११॥

---

१ प्रताम्य—ग्लानिभज । (गो०) २ प्रज्वल—कुपिताभव । (गो०)
३ स्फुटिता—प्रस्तरादिप्रहारे स्फुटितशिरा । (शि०)

क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां[1]
प्रदुष्टभावां[2] स्वकुलोपघातिनीम् ।
न जीवितुं त्वां[3] विषहेऽमनोरमां
दिधक्षमाणां हृदयं सबन्धनम्[4] ॥११२॥

क्योंकि तू, छुरे के समान हृदय विदीर्ण करने वाले असत्य, किन्तु मीठे वचन बोलने वाली है, तेरा हृदय दुष्टता से भरा हुआ है, तू अपने ही कुल का नाश करने वाली है, तूने हमारे हृदय को प्राणों सहित खूब जलाया है, अतएव तू देखने में स्वरूपवती होने पर भी, अपने इन अवगुणों के कारण भयङ्कर है। मैं भी नहीं चाहता कि, ऐसी दुष्टा जीती रहे। (अर्थात् तू जो वार वार मरने की मुझे धमकी देती है, सो तुझ जैसी दुष्टा और अनर्थकारिणी का मरना ही मैं अच्छा समझता हूँ ॥११२॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं
विनाऽत्मजेनात्मवतः कुतो रतिः ।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि
स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे ॥११३॥

श्रीरामचन्द्र विना मैं जीवित नहीं रह सकता। फिर सुख और प्रीति की चर्चा ही करनी व्यर्थ है। हे देवि! देख अब भी मान

---

१ असत्प्रियवदा—मिथ्याप्रियवादिनीम् । (गो०) २ प्रदुष्टभावा—प्रकर्षेण दुष्टहृदयाम् । (गो०) ३ नविषहे—नोत्सहे । (रा०) ४ सबन्धनम्—सप्राणं । (वि०)

आ और, मेरा अनिष्ट मत कर। मै तेरे पैरों पड़ता हूँ, अब दया कर ॥११३॥

स भूमिपालो विलपन्ननाथव-
त्स्त्रिया[1] गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया[2]।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारिता-
वुभावसंस्पृश्य यथाऽऽतुरस्तथा ॥११४॥

इति द्वादशः सर्गः ॥

(इस प्रकार धमकाने और खुशामद करने पर भी जब कैकेयी न मानी, तब) महाराज दशरथ अनाथों के समान गिड़गिड़ाते हुए और अपने हृदय को कैकेयी के अधीन कर के, उसके चरणों पर वैसे ही गिर कर मूर्च्छित हो गए, जैसे मरणोन्मुख रोगी मूर्च्छा आ जाने पर, गिर पड़ता है ॥११४॥

अयोध्याकाण्ड का बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

त्रयोदशः सर्गः

—०—

अतदर्हं[1] महाराजं शयानमतथोचितम्।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात्परिच्युतम् ॥१॥

---

१ स्त्रिया हृदये गृहीतः—तदधीनहृदय इत्यर्थः। (गो०) २ अतिमात्रया—अमर्यादया। (गो०) भूमिपालोऽपि सन्—निग्रहीतुसमर्थइत्यर्थः। (गो०)

१ अतदर्हं—तादृशदुःखानर्हं। (गो०)

इस प्रकार अनुचित रीति से ज़मीन पर पड़े हुए महाराज दशरथ ऐसे जान पड़ते थे, मानो पुण्यनाश होने पर राजा ययाति स्वर्ग से गिर कर पड़े हों ॥१॥

अनर्थरूपा[1]ऽसिद्धार्था[2] ह्यभीता भयदर्शिनी ।
पुनराकारयामास[3] तमेव वरमङ्गना ॥२॥

पापरूपा कैकेयी का प्रयोजन सिद्ध न हुआ तब वह स्वयं निडर हो और महाराज को भय दिखाती हुई, वही वर फिर माँगने के लिए बोली ॥२॥

त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः ।
मम चेमं वरं कस्माद्विधारयितुमिच्छसि ॥३॥

हे महाराज! तुम तो अपने को सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ बतला कर अपना बखान करते थे, किन्तु वर देने का वादा कर, अब देने में आनाकानी क्यों करते हो? ॥३॥

एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा ।
प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलन्निव ॥४॥

कैकेयी के ऐसा कहने पर महाराज दशरथ, मुहूर्त भर विकल हो, तदनन्तर क्रुद्ध हो बोले ॥४॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा सुखिनी भव ॥५॥

---

१ अनर्थरूपा—पापरूपा। (गो०) २ असिद्धार्था—अनिष्पन्नप्रयोजना। (गो०) ३ आकारयामास—सम्बोधयामास। (गो०)

हे पापिन ! मेरे मर जाने के बाद और पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र के वन जाने के अनन्तर सुखी हो कर तू अपनी सब मनोकामनाएँ पूरी कर ॥५॥

स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम् ।
प्रत्यादेशादभिहितं[1] धारयिष्ये[2] कथं बत ॥६॥

स्वर्ग में भी जब देवता श्रीराम की कुशल पूँछेगे और (मेरे यह कहने पर कि, मैंने श्रीरामचन्द्र जैसे गुणवान् पुत्र को वनवास दिया, जब वे) मुझे धिक्कारेंगे, तब मैं अपना यह अपमान वहाँ कैसे सह सकूँगा ? ॥६॥

कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रव्राजितो मया ।
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति ॥७॥

और धिक्कार से बचने के लिए यदि मैं यह कहूँगा कि, "कैकेयी को प्रसन्न रखने के लिये मैंने श्रीरामचन्द्र को वनवास दिया" तो मेरी इस बात पर कोई भी देवता विश्वास न करेगा और मैं झूठा समझा जाऊँगा ॥७॥

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान् ।
रामो लब्धो महाबाहुः स कथं त्यज्यते मया ॥८॥

बहुत दिनों तक निःपुत्र रह कर, बड़े कष्टों से तो मुझे पुत्र मिले—सो महाबाहु श्रीरामचन्द्र को भला मैं कैसे त्याग सकता हूँ ? ॥८॥

---

१ प्रत्यादेशादभिहित—धिक्कारपूर्वमभिहित । (गो०) २ धारयिष्ये-सहिष्ये । (गो०)

शूरश्च कृतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः ।
कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते ॥९॥

शूर, विद्वान्, शान्त स्वभाव और सहिष्णु कमलनयन श्रीराम को मैं किस तरह देश निकाल दूँ ? ॥९॥

कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घबाहुं महाबलम् ।
अभिराममहं रामं प्रेषयिष्यामि दण्डकान् ॥१०॥

नीलकमल की तरह श्याम शरीर वाला, लंबी भुजाओं वाला तथा सुन्दर श्रीराम को क्या मैं दण्डकवन में भेज सकता हूँ ? ॥१०॥

सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च ।
दुःखं नामानुपश्येयं कथं रामस्य धीमतः ॥११॥

जो श्रीराम सुखों के योग्य और दुःखों के अयोग्य हैं, उस बुद्धिमान श्रीराम को मैं दुःखी कैसे देख सकता हूँ ? ॥११॥

यदि दुःखमकृत्वाद्य मम संक्रमणं[1] भवेत् ।
अदुःखार्हस्य रामस्य ततः सुखमवाप्नुयाम् ॥१२॥

दुःख सहने के सर्वथा अयोग्य श्रीराम के दुःख को मैं बिना देखे ही मर जाता तो मुझे स्वर्ग से तो सुख मिलता ॥१२॥

नृशंसे पापसङ्कल्पे रामं सत्यपराक्रमम् ।
किं विप्रियेण[2] कैकेयि प्रियं योजयसे मम ॥१३॥

---

१ सक्रमण—देहान्तर । (गो०) २ विप्रियेण—दण्डकारण्यगमनेन । (वि०)।

हे निर्दयिन्! हे पापिन कैकेयी! तू मेरे प्यारे और सत्य पराक्रमी श्रीराम को किस लिए मुझसे वन भिजवाती है? ॥१३॥

अकीर्त्तिरतुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ।
तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः ॥१४॥

ऐसा करने से दुनिया में मेरी बड़ी निन्दा और बदनामी होगी। इस प्रकार महाराज दशरथ को घबड़ाते और विलाप करते करते ॥१४॥

अस्तमभ्यागमत्सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ।
सा त्रियामा तथाऽऽर्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता ॥१५॥

सन्ध्या हो गई और रात चढ़ने लगी। रात चाँदनी होने पर भी दुःखी महाराज को ॥१५॥

राज्ञो *विलपतस्तस्य न व्यभासत शर्वरी ।
तथैवोष्णं विनिःश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः ॥१६॥

अत्यन्त विलाप करने के कारण, वह रात आनन्ददायिनी न हुई। वृद्ध महाराज दशरथ बार बार गरम साँसे ले ॥१६॥

विललापार्तवद्दुःखं गगनासक्तलोचनः ।
न प्रभातं तवेच्छामि निशे नक्षत्रभूषणे ॥१७॥

दुखिया की तरह दुःखी हो, विलाप करने लगे। उनकी आँखे आकाश की ओर जा लगीं अर्थात् वे आकाश को निहारने लगे और कहने लगे—हे नक्षत्रों से भूषित निशे! मैं तेरा प्रभातकाल नहीं चाहता ॥१७॥

* पाठान्तरे विलपमानस्य ।

क्रियतां मे दया भद्रे रचितोऽयं मयाञ्जलिः ।
अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्घृणाम्[1] ॥१८॥

हे भद्रे ! मै तुझसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि, मेरे ऊपर दया कर, अथवा शीघ्र ही समाप्त हो जा । मै इस निर्दयिन ॥१८॥

नृशंसां कैकयीं द्रष्टुं यत्कृते व्यसनं महत् ।
एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः ॥१९॥

और क्रूर कैकेयी का मुख देखना नही चाहता, क्योकि इसने मुझे बड़ा दु ख दिया है । यह कह, महाराज पुनः हाथ जोड़ कर कैकेयी को ॥१९॥

प्रसादयामास पुनः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ।
साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य[2] गतायुषः ॥२०॥

मनाने के लिए उससे बोले । मै धर्मात्मा और दीन तेरे शरण आया हुआ और थोड़े दिनो जीने वाला हूँ ॥२०॥

प्रसादः क्रियतां देवि भद्रे राज्ञो विशेषतः ।
शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम् ॥२१॥

हे भद्रे ! विशेषतः यह जान कर कि, मै राजा हूँ, और एकान्त में नही, मै भरी सभा में श्रीराम के राज्याभिषेक की घोषणा कर चुका हूँ (यदि अब श्रीराम का राज्याभिषेक न हुआ, तो लोग मेरी बड़ी निन्दा करेगे ।) तू मेरे ऊपर कृपा कर ॥२१॥

---

१ निर्घृणाम्—निर्दयाम् । (गो०) २ त्वद्गतस्य—त्वदेकशरणस्येत्यर्थः । (गो०)

कुरु साधु प्रसादं मे बाले सद्दया[1] ह्यसि ।
प्रसीद देवि रामो मे त्वद्दत्तं राज्यमव्ययम् ।
लभतामसितापाङ्गे यशः परमवाप्नुहि ॥२२॥

हे बाले ! तू सदया है, इस लिए अपनी ओर से श्रीराम को अक्षय राज्य दे कर तू मुझे प्रसन्न कर । हे कैकेयी ! ऐसा करने से तेरी बड़ी नामवरी होगी ॥२२॥

मम रामस्य लोकस्य गुरूणां भरतस्य च ।
प्रियमेतद्गुरुश्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे ॥२३॥

ऐसा करने से मुझे को नहीं, किन्तु श्रीराम भरत और बड़े बड़े लोगों को—यहां तक कि, समस्त संसार को बड़ी प्रसन्नता होगी । हे चारुमुखी ! रामराज्याभिषेक होने दे ॥२३॥

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा
ताम्रेक्षणस्याश्रुकलस्य राज्ञः
श्रुत्वा विचित्रं[2] करुणं विलापं
भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम् ॥२४॥

शुद्ध हृदय महाराज दशरथ दीन हो विलाप करते हुए रोने लगे । रोते रोते उनकी दोनों आँखें लाल हो गईं, किन्तु खुशामद और धमकी से भरे हुए उनके करुण विलाप पर उस दुष्टा कैकेयी ने कुछ भी ध्यान न दिया ॥२४॥

---

१ सद्दया—रसज्ञा । (शि०) २ विचित्र—प्रसादनभर्त्सनसहितत्वात् । (गो०)

ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः
प्रियामदुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम् ।
समीक्ष्य पुत्रस्य विवासनं प्रति
क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः ॥२५॥

महाराज, कैकेयी को अप्रसन्न देख और उसकी ऊटपटाँग बातें सुन, और श्रीराम का वनगमन निश्चय जान दुःखी हो कर अचेत हो गए और जमीन पर गिर पड़े ॥२५॥

इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा
जगाम घोरं श्वसतो मनस्विनः ।
विबोध्यमानः प्रतिबोधनं तदा
निवारयामास स राजसत्तमः ॥२६॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

इस प्रकार के कष्ट में और क्षण क्षण से दीर्घ निःश्वास त्यागते हुए, मनस्वी महाराज दशरथ ने वह रात काटी । प्रातःकाल होते ही (नित्य नियमानुसार) महाराज को जगाने के लिए बाजे बजे, किन्तु महाराज ने उनका बजाना रुकवा दिआ ॥२६॥

अयोध्याकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:&:—

चतुर्दशः सर्गः

—:०:—

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि ।
विवेष्टमानमुद्वीक्ष्य सैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥१॥

पुत्रशोक से विह्वल, किंकर्त्तव्यविमूढ और जमीन पर छटपटाते हुए महाराज दशरथ को देख, पापिन कैकेयी बोली ॥१॥

पापं कृत्वेव किमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम् ।
शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वमर्हसि ॥२॥

हे राजन्! पहले यह प्रतिज्ञा कर कि, मैं अभी तुझे दो वर देता हूँ और फिर उन्हें न देने का पाप कर, तुम पीड़ित हो जो पृथिवी पर लोट रहे हो, सो इसका क्या अभिप्राय है? ॥२॥

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः ।
सत्यमाश्रित्य हि मया त्वं च धर्मप्रचोदितः ॥३॥

धर्म का मर्म जानने वाले लोग सत्य ही को परम धर्म बतलाते हैं। सो मैं उसी सत्य का आश्रय ले कर तुमको धर्मपालन की प्रेरणा करती हूँ। अर्थात् वर देने के लिए तुमसे कहती हूँ ॥३॥

संश्रुत्य शैब्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः ।
प्रदाय पक्षिणे राजन् जगाम गतिमुत्तमाम् ॥४॥

देखो, पहले राजा शैब्य ने प्रतिज्ञा कर अपना शरीर तक श्येन पक्षी को दे डाला था और इससे उनको उत्तम गति प्राप्त हुई थी ॥४॥

तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे ।
याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ ॥५॥

इसी प्रकार तेजस्वी अलर्क ने किसी अंधे वेदपाठी ब्राह्मण के माँगने पर, प्रसन्नता पूर्वक उसे अपने दोनों नेत्र निकाल कर दे दिए थे ॥५॥

सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः ।
सत्यानुरोधात्समये वेलां स्वां नातिवर्तते ॥६॥

सब नदियों का स्वामी समुद्र भी सत्य का पालन करने के लिए पूर्णमासी को भी, अपनी मर्यादा से अधिक नहीं बढ़ता ॥६॥

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनैवाप्यते परम् ॥७॥

सत्य ही (एकमात्र) मुख्यतः ब्रह्म है, सत्य ही धर्म की पराकाष्ठा है, अक्षय्य वेद भी सत्य ही का मुख्यतया प्रतिपादन करते हैं। सत्य से चित्त शुद्ध हो कर, ब्रह्म तक की प्राप्ति होती है ॥७॥

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः ।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम ॥८॥

हे राजन्! यदि आपकी धर्म में बुद्धि है, तो सत्य का पालन करते हुए, मुझे मेरे माँगे हुए दोनों वर दीजिए। क्योंकि आप वरदानी हैं ॥८॥

धर्मस्येहाभिकामार्थं[1] मम चैवाभिचोदनात् ।
प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम् ॥६॥

आप अपना परलोक बनाने के लिए और मेरी प्रेरणा से राम को वन में भेज दो। यह बात मैं एक बार नहीं, तीन बार कहती हूँ। (तीन बार कहने का अभिप्राय यह है कि, मै अपनी बात को बदलूँगी नहीं) ॥६॥

समयं[3] च ममार्येमं यदि त्वं न करिष्यसि ।
अग्रतस्ते परित्यक्ता[4] परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥१०॥

यदि आप राम को वन न भेजेंगे, तो इस अनादर को सहन न कर, मै आपके ही सामने अपने प्राण छोड़ दूँगी—(अर्थात् आपके माथे स्त्रीवध का पाप चढ़ाऊँगी) ॥१०॥

एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया ।
नाशकत्पाशमुन्मोक्तुं[5] बलिरिन्द्रकृतं यथा ॥११॥

निर्भीक हो कैकेयी के इस प्रकार कहने पर, महाराज दशरथ सत्य के पाश मे बँध गए और वे उसी प्रकार उस पाश से न छूट सके जिस प्रकार वामन जी के सत्यपाश से राजा बलि नहीं छूट सके थे ॥११॥

उद्भ्रान्तहृदयश्चापि विवर्णवदनोऽभवत् ।
स धुर्यो वै परिस्पन्दन्[6] युगचक्रान्तरं यथा ॥१२॥

---

१ धर्मस्य—परलोकसिद्धिप्रयोगकस्य । (वि०) २ अभिकामार्थं—प्रीत्यर्थं । (गो०) ३ समय—रामविवासनं । (गो०) ४ परित्यक्ता—उपेक्षिता । (गो०) ५ पाश—सत्यपाशं । (गो०) ६ परिस्पन्दन्—गच्छन् । (गो०)

उस समय महाराज दशरथ पागल से हो गए, उनका चेहरा फीका पड़ गया। जिस प्रकार दो पहियों के बीच घूमती हुई धुरी चंचलता प्रकट करती है, उसी प्रकार उनका भी चित्त चचल हो गया। अथवा जिस प्रकार दो पहिये की गाड़ी में जुता हुआ बैल (या घोड़ा) निकलने के लिए प्रयत्न करने पर भी विफल मनोरथ होने के कारण विकल होता है और उदास हो जाता है, उसी प्रकार महाराज दशरथ उदास और विफल हुए ॥१२॥

[टिप्पणी—शिरोमणि टीकाकार ने यही अर्थ किया है—स राजा उद्भ्रान्तहृदयः स्खलितचित्तः अभवत् तत्र दृष्टान्तः युगचक्रान्तर युगचक्रयोर्मध्यं प्राप्येति शेषः परिस्पन्दन् निःसरणार्थम् चेष्टां कुर्वन् धुर्यः अनड्वानिव ।]

विह्वलाभ्यां च नेत्राभ्यापमश्यन्निव[१] स भूपतिः ।
कृच्छ्राद्धैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥१३॥

चिन्ता और शोक के कारण महाराज दशरथ इतने विह्वल हो गए थे कि, उन्हें कुछ भी देख नहीं पड़ता था अर्थात उस समय वे अन्धे की तरह हो गए थे। बड़ी कठिनाई से धैर्य धारण कर और मन को वश में कर, वे फिर कैकेयी से यह बोले (अथवा कातर दृष्टिसे देखते हुए महाराज ने बहुत कष्ट से अधीर होकर कैकेयी से कहा) ॥१३॥

यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः ।
तं त्यजामि स्वजं[२] चैव तव पुत्रं सह त्वया ॥१४॥

हे पापिन! विवाह के समय अग्नि के सामने वैदिक मन्त्रो-

१ अपश्यन्निव—अन्धइवपश्यन् भूमिप. । (गो०) २ स्वज—स्वस्माज्जातमपि । (गो०)

धारण पूर्वक मैंने जो तेरा हाथ पकड़ा था, उस हाथ को मैं अपने औरस जात; किन्तु तेरे गर्भ से उत्पन्न होने के कारण, अपने पुत्र भरत सहित तुझे आज छोड़ता हूँ। (अर्थात् आज से न तो तू मेरी स्त्री रही और न तेरी कोख से जन्मा भरत मेरा पुत्र ही रहा) ॥१४॥

[टिप्पणी—यह एक प्रकार की "तलाक" Divorcen है। किन्तु वास्तव में हिन्दू समाज में जो प्रतिज्ञा अग्नि आदि देवताओं के समक्ष की जाती है, वह अमिट है। सांसारिक व्यवहार की दृष्टि से भले ही पति अपनी पत्नी को छोड़ दे, किन्तु पारलौकिक सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता। महाराज दशरथ द्वारा कैकेयी की तलाक की बात, यहाँ लिखी ही है। आगे उत्तरकाण्ड में श्रीराम जी द्वारा सीता जी के परित्याग की कथा भी मिलेगी।]

प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति।
अभिषेकं गुरुजनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम् ॥१५॥

हे देवि! अब रात बीतने पर है और सूर्य भगवान् उदय होने वाले हैं। अतः गुरुजन लोग आ कर अवश्य ही श्रीराम-राज्याभिषेक जल्दी करने के लिए मुझे प्रेरित करेंगे ॥१५॥

रामाभिषेकसम्भारैस्तदर्थमुपकल्पितैः।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥१६॥

श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक के लिए जो सामग्री इकट्ठी की गई है, उससे अभिषेक तो न होगा, किन्तु उससे श्रीराम मेरी अन्त्येष्टि क्रिया करेगा ॥१६॥

त्वया सपुत्रया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया।
व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥१७॥

खबरदार! तू या तेरा पुत्र भरत मेरे प्रेतकर्म में हाथ न

लगावे। क्योंकि जब तू श्रीराम के राज्याभिषेक में बाधा डाल रही है, तब मेरा और तेरा या तुझसे सम्बन्ध रखने वाले लोगों का मुझसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह सकता ॥१७॥

[टिप्पणी—इसी लिए महात्मा तुलसीदास जी ने कहा है—

जिनके प्रिय न राम वैदेही
तजिए ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।

महात्मा जी की इसी उक्ति को महात्मा दशरथ ने यहाँ चरितार्थ किया है।]

न च शक्नोम्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथा सुखम्।
हतहर्षं निरानन्दं पुनर्जनमवाङ्मुखम् ॥१८॥

श्रीरामाभिषेक से प्रसन्नमुख और उसके अभाव से क्लेशित हुए लोगों का उदासमुख मुझसे नहीं देखा जायगा ॥१८॥

तां तथा ब्रुवतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः।
प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रशालिनी ॥१९॥

महात्मा महाराज दशरथ के इस प्रकार बोलते बोलते चन्द्रमा और तरैयों से सुशोभित रात बीत गई और सवेरा हो गया ॥१९॥

ततः पापसमाचारा कैकेयी पार्थिवं पुनः।
उवाच परुषं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमूर्छिता ॥२०॥

बात कहने में अत्यन्त चतुरा और पापिष्ठा कैकेयी अत्यन्त क्रुद्ध हो महाराज से पुनः कठोर वचन कहने लगी ॥२०॥

किमिदं भाषसे राजन्वाक्यमङ्गरुजोपमम्[1]।
आनाययितुमक्लिष्टं पुत्रं राममिहार्हसि ॥२१॥

---

१ अङ्गरुजोपमम्—सर्वाङ्गव्यास महाव्याधिसदृशं (गो०)

हे राजन्! सर्वाङ्ग में व्याप्त महाव्याधि वाले पुरुष की तरह तुम यह क्या बकझक कर रहे हो? अब तुम राम को यहाँ बुलवाओ ॥२१॥

स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम्।
निःसपत्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥२२॥

मेरे पुत्र भरत को राजसिंहासन पर बिठा और राम को वन भेज मुझे सौतहीन कर दो, तभी तुम कृतकृत्य अर्थात् अपनी बात के पूरे कहला सकोगे ॥२२॥

स नुन्न इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः।
राजा प्रचोदितोऽभीक्ष्णं कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥२३॥

उस समय कैकेयी द्वारा बार बार प्रेरित किए जाने पर, महाराज दशरथ की वैसी ही दशा हुई, जैसी कि किसी उत्तम जाति के घोड़े की चाबुक से मारे जाने पर, होती है। वे बोले ॥२३॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना।
ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥२४॥

इस समय सत्यपाश में जकड़ जाने से मेरी बुद्धि काम नहीं करती। अब मैं अपने ज्येष्ठ और प्यारे पुत्र श्रीराम को देखना चाहती हूँ ॥२४॥

ततः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे।
पुण्ये नक्षत्रयोगे च मुहूर्ते च समाहिते ॥२५॥

इतने में सबेरा भी हो गया, रात बीत गई, सूर्य भगवान् उदय हुए। पुण्य समय पर शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्तकाल भी आ उपस्थित हुए ॥२५॥

वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृतस्तदा ।
उपसंगृह्य सम्भारान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥२६॥

सर्वगुणसम्पन्न भगवान् वसिष्ठ अपने शिष्यों के साथ और अभिषेक की सामग्री लिए हुए उत्तम पुरी में आए ॥२६॥

[टिप्पणी—"प्रविवेश पुरोत्तमम्" इससे जान पड़ता है कि, वसिष्ठादि ऋषिगण जो महाराज दशरथ के मन्त्रिमण्डल में थे, बस्ती में नहीं रहते थे । उनके आवासस्थान नगर के किसी बाहिरी भाग मे किसी एकान्त स्थल में बने हुए थे ।]

[टिप्पणी—जिस समय वसिष्ठ जी नगरी में आए उस समय की पुरी की सजावट उन्होंने किस प्रकार की देखी, इसका वर्णन आगे दिआ गया है ।]

सिक्तसम्मार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम् ।
विचित्रकुसुमाकीर्णां नानास्रग्भिर्विराजिताम् ॥२७॥

राजधानी की सब सड़के स्वच्छ थीं, उन पर छिड़काव किआ गया था । जिधर देखो उधर ध्वजाएँ एवं पताकाएँ फहरा रही थीं । तरह तरह के विचित्र फूल सड़कों पर फैले हुए थे और जगह-जगह पुष्पमालाएँ लटक रही थीं ॥२७॥

संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ।
महोत्सवसमाकीर्णां राघवार्थे समुत्सुकाम् ॥२८॥

सब लोग प्रसन्नचित्त देख पड़ते थे । बाजारों की दूकानों मे तरह तरह के माल भरे हुए थे । श्रीरामराज्याभिषेक के उपलक्ष में लोग तरह-तरह के उत्सव मना रहे थे और श्रीरामाभिषेक देखने को उत्सुक हो रहे थे ॥२८॥

चन्दनागरुधूपैश्च सर्वतः प्रतिधूपिताम् ।
तां पुरीं समतिक्रम्य पुरन्दरपुरोपमाम् ॥२९॥

चारों ओर चन्दन और अगर मिली धूप जलाने से सुगन्ध उड़ रही थी। इस प्रकार की अमरावती के तुल्य अयोध्यापुरी में हो कर ॥२९॥

ददर्शान्तःपुरं श्रेष्ठं नानाद्विजगणायुतम् ।
पौरजानपदाकीर्णं ब्राह्मणैरुपशोभितम् ॥३०॥

वसिष्ठ जी श्रेष्ठ राजमन्दिर में पहुँचे। उन्होंने वहाँ देखा कि राजमन्दिर के द्वार पर, अनेक द्विज, पुरवासी और ब्राह्मण अपनी उपस्थिति से वहाँ की शोभा बढ़ा रहे हैं ॥३०॥

यज्ञविद्भिः सुसम्पूर्णं सदस्यैः परमद्विजैः ।
तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम् ॥३१॥

वहाँ पर यज्ञक्रिया में कुशल ब्राह्मण भी उपस्थित हैं, राजदरबारी भी जमा हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित लोगों की भीड़ लगी हुई है। भीड़ को हटाते हुए किसी तरह वसिष्ठ जी अन्तःपुर के द्वार पर पहुँचे ॥३१॥

वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिर्विवेश च ।
स त्वपश्यद्विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम् ॥३२॥
द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम् ।
तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम् ॥३३॥
वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम् ।
इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः ॥३४॥

महर्षि वसिष्ठ जी ने प्रसन्नता पूर्वक अन्त:पुर में प्रवेश किआ। भीतर जाते समय अन्तःपुर के द्वार पर उनकी भेंट शोभनमूर्ति सारथी सुमंत्र से हुई, जो भीतर से वाहिर आ रहे थे। महातेजस्वी वशिष्ठ जी ने बुद्धिमान सूतपुत्र सुमंत्र से कहा—हमारे यहाँ आने की सूचना तुरन्त महाराज को दो। साथ ही यह भी कह देना कि, वसिष्ठ जी अपने साथ सोने के घड़ों में गङ्गा जल और सागर जल ॥३२॥३३॥३४॥

औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम् ।
सर्वबीजानि गन्धांश्च रत्नानि विवधानि च ॥३५॥

और अभिषेक के समय राजकुमार के बैठने के लिए गूलर की लकड़ी की चौकी भी लाए हैं। सब प्रकार के बीज सब सुगन्ध-युक्त वस्तुएँ और भाँति-भाँति के रत्न ॥३५॥

क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ।
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः ॥३६॥

शहद, दही, घी, खीले, कुश, फूल, दूध, आठ सुन्दरी कन्याएँ, मस्त सफेद हाथी ॥३६॥

चतुरश्वो रथः श्रीमान्निस्त्रिंशो धनुरुत्तमम् ।
वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसन्निभम् ॥३७॥

चार घोड़ों का रथ, उत्तम खड्ग, सुन्दर धनुष, कहारो सहित पालकी, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल छत्र ॥३७॥

श्वेते च वालव्यजने भृङ्गारश्च हिरण्मयः ।
हेमदामपिनद्धश्च ककुद्मान् पाण्डुरो वृषः ॥३८॥

दो सफेद चँवर, सोने की झारी, सोने के पात्रों से मढ़े हुए सींगों वाला सफेद बैल ॥३८॥

केसरी च चतुर्दंष्ट्रो हरिश्रेष्ठो महाबलः ।
सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिद्धश्च हुताशनः ॥३६॥

चार दाढ़ का शेर, बडा बलवान घोड़ा, सिंहासन, बाघम्बर, समिधा, अग्नि ॥३६॥

सर्ववादित्रसङ्घाश्च वेश्याश्चालङ्कृताः स्त्रियः ।
आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः ॥४०॥

सब प्रकार के बाजे, शृङ्गार किए हुई रंडियाँ, आचार्य, ब्राह्मण गौ, हिरन और पक्षी मौजूद हैं ॥४०॥

पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च[1] गणैः[2] सह ।
एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः ॥४१॥

मुखिया पुरवासी, अपने समुदायों को साथ लिए हुए महाजन लोग तथा उनके अतिरिक्त और भी अनेक सज्जन, प्रेम के साथ और प्रिय वचन बोलते हुए ॥४१॥

अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः ।
त्वरयस्व महाराजं तथा समुदितेऽहनि ॥४२॥

अपने अपने राजाओं के साथ श्रीरामचन्द्र का अभिषेक देखने को आए हुए हैं, महाराज से जा कर कहो कि जल्दी करें ॥४२॥

पुष्ये नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयात् ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महात्मनः ॥४३॥

---

१ नैगमाः—वणिजः । (वि०) २ गणैः—स्वगणैः । (वि०)

जिससे पुण्य नक्षत्र में श्रीरामचन्द्र जी को राज्य मिल जाय वसिष्ठ जी के ये वचन सुन, महात्मा सुमंत्र ॥४३॥

स्तुवन्नृपतिशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम् ।
तं तु पूर्वोदितं[१] वृद्धं द्वारस्था राजसम्मतम् ॥४४॥

महाराज की जैजैकार पुकारते हुए राजभवन के भीतर जाने लगे। महाराज ने बूढ़े सुमंत्र की ड्योढ़ी माफ कर दी थी (अर्थात् महल के द्वारपालों को आज्ञा दे दी थी कि, सुमंत्र को रोकें नहीं) ॥४४॥

[टिप्पणी—इस श्लोक में सुमंत्र के लिए "वृद्ध" शब्द आया है, अतः इससे जान पड़ता है कि, सुमंत्र की ड्योढ़ी इसी लिए माफ कर दी गई थी कि वे बूढ़े थे। अन्य लोग बिना सूचना दिए रनवास में नहीं जा सकते थे।]

न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ।
स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामजज्ञिवान् ॥४५॥

अतः महाराज की प्रसन्नता के लिए (अर्थात् महाराज के आज्ञानुसार) द्वारपालों ने सुमंत्र को भीतर जाने दिया और उन्हें रोका नहीं। सुमंत्र महाराज के निकट पहुँच गए। किन्तु वे उस समय की महाराज की अवस्था से अपरिचित थे ॥४५॥

वाग्भिः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे ।
ततः सूतो यथाकालं[२] पार्थिवस्य निवेशने ॥४६॥

---

१ पूर्वोदितं—अयं सर्वदा अनिवार्य इति राज्ञा पूर्वमुक्तं। (गो०)

२ यथाकाल—प्रातःकालनहि। (गो०)

अत (शिष्टाचार के नियमानुसार) सुमंत्र परम प्रसन्न हो महाराज की वैसी ही स्तुति करने लगे जैसी कि, प्रातःकाल राजाओं की स्तुति करने की उस समय पद्धति थी ॥४६॥

सुमन्त्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाव जगतीपतिम् ।
यथा नन्दति तेजस्वी सागरो भास्करोदये ॥४७॥

सुमत्र ने हाथ जोड़ कर महाराज की स्तुति की। वे बोले—महाराज! जिस प्रकार सूर्योदय होने पर तेजस्वी सागर हर्षित होते हैं ॥४७॥

प्रीतः प्रीतेन मनसा तथानन्दय नः स्वतः ।
इन्द्रमस्यां तु वेलायामभितुष्टाव मातलिः ॥४८॥

उसी प्रकार आप प्रसन्न हो कर, प्रसन्न मन से, हम लोगों को हर्षित कीजिए। इसी समय (अर्थात् सवेरे) उनके सारथी मातलि ने उनकी स्तुति की थी ॥४८॥

सोऽजयद्दानवान् सर्वांस्तथा त्वां बोधयाम्यहम् ।
वेदाः सहाङ्गविद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं विभुम् ॥४९॥
ब्राह्मणं बोधयन्त्यद्य यथा त्वां बोधयाम्यहम् ।
आदित्यः सह चन्द्रेण यथा भूतधरां शुभाम् ॥५०॥

तब इन्द्र ने सब असुरों को परास्त किया था। उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ। जिस प्रकार साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याएँ ब्रह्मा जी को जगाती हैं, उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ। जिस प्रकार सूर्यदेव चन्द्रमा सहित सब प्राणियों को धारण करने वाली और शुभ ॥४९॥५०॥

बोधयन्त्यद्य पृथिवीं तथा त्वां बोधयाम्यहम् ।
उत्तिष्ठाशु महाराज कृतकौतुकमङ्गलः[1] ॥५१॥

पृथिवी को जगाते हैं, उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ। हे महाराज! उठिए और शुभ वेष बना सब को दर्शन दे आनन्दित कीजिए ॥५१॥

विराजमानो वपुषा मेरोरिव दिवाकरः ।
सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥५२॥

और वसन आभूषणों द्वारा शरीर अलङ्कृत कर, सुमेरु पर्वत पर सूर्य की तरह शोभा को प्राप्त कीजिए। हे काकुत्स्थ! चन्द्र, सूर्य, शिव, कुवेर ॥५२॥

वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।
गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥५३॥

वरुण, अग्नि और इन्द्र सब आपको विजय प्रदान करें। देखिए भगवती निशा बीत गई और मङ्गलकारी दिन उपस्थित हो गया है ॥५३॥

प्रतिबुध्यस्व राजर्षे कुरुकार्यमनन्तरम् ।
उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम् ॥५४॥

हे राजर्षे! उठिए और आगे के कार्यों को कीजिए। क्योंकि अभिषेक का सामान तैयार है ॥५४॥

पौरजानपदैश्चापि नैगमैश्च कृताञ्जलिः ।
अयं वसिष्ठो भगवान्ब्राह्मणैः सह तिष्ठति ॥५५॥

---

१ कृतकौतुकमङ्गलः—सर्वानन्दोत्पादनाय कृतदेहालङ्कार इत्यर्थः।

नगरनिवासी तथा जनपदनिवासी एवं महाजन लोग हाथ जोड़े खड़े हैं। भगवान वसिष्ठ जी भी ब्राह्मणों सहित आ गए हैं ॥५५॥

क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन् राघवस्याभिषेचनम् ।
यथा ह्यपालाः पशवो यथा सेना ह्यनायकाः ॥५६॥

हे राजन्! श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक का कार्य आरम्भ करने की आज्ञा शीघ्र दीजिए। क्योंकि जिस प्रकार चरवाहे के बिना पशु, सेनापति के बिना फौज ॥५६॥

यथा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम् ।
एवं हि भवता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते ॥५७॥

चन्द्रमा के बिना रात्रि, और साँड़ के बिना गौ, किसी काम की नहीं—वैसे ही राजा के बिना राज्य भी किसी काम का नहीं ॥५७॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ।
अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः ॥५८॥

सुमन्त्र के ऐसे शान्तियुक्त वचन सुन, महाराज फिर शोक में डूब गए ॥५८॥

ततः स राजा तं सूतं सन्नहर्षः सुतं प्रति ।
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः ॥५९॥

फिर कुछ सँभल और श्रीराम के शोक मे ग्रसित हो, मारे क्रोध के लाल आँखे कर, धर्मात्मा श्रीमान् दशरथ ने सुमंत्र की ओर देखा और उनसे कहा ॥५९॥

वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूयो निकृन्तसि ।
सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा दृष्ट्वा दीनं च पार्थिवम् ॥६०॥

हे सुमंत्र ! तुम्हारे ये स्तुतिवाक्य मुझे पुनः अत्यन्त कष्टदायक हुए हैं। सुमंत्र महाराज की यह करुण वाणी सुन और उनकी दीन दशा देख ॥६०॥

प्रगृहीताञ्जलिः प्रह्वस्तस्माद्देशादपाक्रमत् ।
यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः ॥६१॥

हाथ जोड़, जहाँ पहले खड़े थे वहाँ से कुछ पीछे हट कर खड़े हुए। जब महाराज दीनता के कारण कुछ और न बोल सके ॥६१॥

तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह ।
सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः ॥६२॥

तब अपना काम बनाने में निपुण कैकेयी सुमंत्र से बोली। हे सुमंत्र ! राम के अभिषेक के आनन्द में मग्न होने के कारण महाराज को रात भर नींद नहीं आई ॥६२॥

प्रजागरपरिश्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ।
तद्गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम् ॥६३॥

रात भर जागने के कारण थक कर वे अब सो रहे हैं। अतः हे सूत ! तुम फौरन जा कर यशस्वी राजकुमार ॥६३॥

राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ।
स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥६४॥

राम को यहाँ बुला लाओ। इसमें सोचने विचारने की आवश्यकता नहीं है। यह सुन, सुमंत्र ने समझा कि श्रीरामचन्द्र जी के आने से महाराज का मन ठीक ठिकाने होगा, अतः वे प्रसन्न हुए ॥६४॥

निर्जगाम च सम्प्रीत्या त्वरितो राजशासनात्।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥६५॥

और श्रीरामचन्द्र के बुलाने में महाराज की आज्ञा समझ, प्रसन्न होते हुए तुरन्त वहाँ से चल दिए। किन्तु रास्ते में वे सोचने लगे कि, कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र को क्यों तुरन्त बुलाने को कहा है ॥६५॥

व्यक्तं रामोऽभिषेकार्थमिहायास्यति धर्मवित्।
इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता वृतः।
निर्जगाम महाबाहू राघवस्य दिदृक्षया ॥६६॥
सागरह्रदसङ्काशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात्।
निष्क्रम्य जनसम्बाधं ददर्श द्वारमग्रतः ॥६७॥

फिर तुरन्त ही उन्होंने विचारा कि, शीघ्र राज्याभिषेक कार्य आरम्भ करवाने को धर्मात्मा महाराज दशरथ ने श्रीरामचन्द्र को बुलवाया है। यह विचार मन में उत्पन्न होते ही, सुमंत्र बहुत प्रसन्न हुए और श्रीरामचन्द्र जी के पास जाने को उस मनोहर अन्तःपुर में से जो, सागर के बीच स्थित तड़ाग की तरह था, निकले और दरवाज़े के आगे लोगों की बड़ी भीड़ देखी ॥६६॥६७॥

ततः पुरस्तात्सहसा विनिर्गतो
महीभृतो द्वारगतान् विलोकयन्।

ददर्श पौरान् विविधान् महाधना-
नुपस्थितान् द्वारमुपेत्य विष्ठितान् ॥६८॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

सुमन्त्र ने द्वार पर शीघ्रता से जा कर देखा कि, राजभवन के दरवाजे पर राजा लोग और बड़े बड़े अमीर व रईस आ कर बैठते जा रहे हैं ॥६८॥

अयोध्याकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

पञ्चदशः सर्गः

—:o:—

त तु तां रजनीमुष्य ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
उपतस्थुरुपस्थानं[१] सह राजपुरोहिताः ॥१॥

उस रात के बीतने पर और सबेरा होने पर, वेदज्ञ ब्राह्मण-गण राजपुरोहितो के साथ राजद्वार पर आ कर, उपस्थित हुए ॥१॥

अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च ।
राघवस्याभिषेकार्थं प्रीयमाणास्तु सङ्गताः ॥२॥

राजमन्त्रिगण, सेनापति और बड़े बड़े महाजन श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक देखने से राजद्वार पर प्रसन्न चित्त हो जमा हुए ॥२॥

---

१ उपस्थानम्—राजद्वारम् । (शि०)

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥३॥

सूर्य के उदय होने पर, जब पुष्य नक्षत्र और कर्कट लग्न का समय, जिसमें श्रीरामचन्द्र जी का जन्म हुआ था, उपस्थित हुआ, ॥३॥

अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम्[1]।
काञ्चना जलकुम्भाश्च भद्रपीठं[2] स्वलंकृतम् ॥४॥

तब उत्तम उत्तम ब्राह्मणों ने श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक के लिए जल से भरे हुए सोने के कलसे और श्रीरामचन्द्र जी के बैठने के लिए सजा हुआ भद्रपीठ, यथास्थान सजा कर ॥४॥

रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वता व्याघ्रचर्मणा।
गङ्गायमुनयोः पुण्यात्सङ्गमादाहृतं जलम् ॥५॥

चमचमाता रथ, जिसमें व्याघ्राम्बर बिछा हुआ था आया, तथा गङ्गा यमुना के पवित्र सङ्गम का जल ला कर रखा गया ॥५॥

याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च।
प्राग्वाहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाः समाहिताः ॥६॥

इनके अतिरिक्त जितनी पुण्यसलिला नदियाँ, कुण्ड, कूप, और तालाब, पश्चिम की ओर बहने वाली (नर्मदा और तापती), ऊपर से नीचे की ओर बहने वाली और टेढ़ी मेढ़ी हो कर बहने वाली नदियाँ हैं ॥६॥

---

१ उपकल्पित—समीपेप्रापितम्। (शि०) २ भद्रपीठ—मङ्गलचिह्न चिह्नितपीठविशेषं। (शि०)

ताभ्यश्चैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः ।
सलाजाः क्षीरिभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः ॥७॥

पद्मोत्पलयुता भान्ति पूर्णाः परमवारिणा ।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥८॥

उन सब के जल और सब समुद्रों के जल वहाँ ला कर सोने चाँदी के चमचमाते हुए कलसों में रखे गए। पवित्र तीर्थ जलों से भरे उन कलसों के मुखों पर गूलर वट आदि क्षीर वृक्षों की टहनियाँ तथा कमल पुष्प और कमल पत्र पड़े हुए थे। मधु, दही, घी, लाजा, कुश, अच्छे अच्छे फूल और दूध लाकर रखे गए थे ॥७॥८॥

वेश्याश्चैव शुभाचाराः[1] सर्वाभरणभूषिताः ।
चन्द्रांशुविकचप्रख्यं काञ्चनं रत्नभूषितम् ॥९॥

सज्जं तिष्ठति रामस्य वालव्यजनमुत्तमम् ।
चन्द्रमण्डलसङ्काशमातपत्रं च पाण्डुरम् ॥१०॥

सज्जं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरस्कृतम् ।
पाण्डुरश्च वृषः सज्जः पाण्डुरोऽश्वश्च सुस्थितः ॥११॥

वहाँ, मङ्गल वेष बनाए और बढ़िया बढ़िया कपड़े और गहने पहिने हुए वेश्याएँ भी उपस्थित थीं। चन्द्रकिरणों के समान स्वच्छ सोने की बनी और रत्नजटित डंडियों वाले उत्तम चमर भी श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक की सामग्री के साथ रखे हुए थे। चन्द्रमण्डल की तरह गोल और चमचमाता तथा सफेद छत्र भी

१ शुभाचाराः—मङ्गलवेषयुक्ताः। (गो०)

राज्याभिषेक के लिए विद्यमान था। सफेद बैल और सफेद सजा हुआ घोड़ा भी वहाँ खड़ा हुआ था ॥९॥१०॥११॥

प्रस्रुतश्च[1] गजः श्रीमानौपवाह्यः[2] प्रतीक्षते।
अष्टौ च कन्या रुचिराः सर्वाभरणभूषिताः ॥१२॥

मद चुचियाता हुआ राजाओं के चढ़ने योग्य हाथी भी मौजूद था। सुन्दरी और वसन भूषण से अलङ्कृत आठ कन्याएँ भी उपस्थित थीं ॥१२॥

वादित्राणि च सर्वाणि वन्दिनश्च तथाऽपरे।
इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये सम्भ्रियेताभिषेचनम् ॥१३॥

तथा जातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम्।
ते राजवचनात्तत्र समवेता महीपतिम् ॥१४॥

वीणा आदि सब प्रकार के माङ्गलिक बाजे, वंदीजन तथा सूत मागधादि सभी एकत्र हुए। कहाँ तक गिनाया जाय, सारांश यह हैं कि, इक्ष्वाकुवंशीय राजाओ के राज्याभिषेक में जो सामग्री अपेक्षित होनी चाहिए थी, वह सब श्रीरामराज्याभिषेक के लिए महाराज दशरथ के आज्ञानुसार लोग ले ले कर वहाँ उपस्थित हुए थे ॥१३॥१४॥

अपश्यन्तोऽब्रुवन् को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत्।
न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः ॥१५॥

राजद्वार पर उपस्थित लोगो ने जब समय हो चुकने पर भी महाराज दशरथ को न देखा, तब उपस्थित जन आपस में कहने

---

१ प्रस्रुत'—प्रकर्षेणस्रवन्मद.। (गो०) २ औपवाह्य'—राजवाह्य। (गो०)

लगे कि, हमारे आने की सूचना महाराज को कौन पहुँचावेगा। देखो सूर्य भगवान उदय हो चुके, किन्तु महाराज का दर्शन अभी तक नहीं हुआ ॥१५॥

यौवराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीमतः ।
इति तेषु ब्रुवाणेषु सार्वभौमान् महीपतीन् ॥१६॥

बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र के अभिषेक के लिए सब तैयारियाँ हो चुकी हैं। इस प्रकार लोग आपस में कह रहे थे कि, आमंत्रित बड़े राजाओं से ॥१६॥

अब्रवीत्तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ।
रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितोऽस्म्यहम् ॥१७॥

राजसम्मानित सुमंत्र ने यह कहा कि, महाराज के आज्ञानुसार मैं श्रीरामचन्द्र जी को लाने के लिए तुरन्त जा रहा हूँ ॥१७॥

पूज्या राज्ञो भवन्तस्तु रामस्य च विशेषतः ।
अहं पृच्छामि वचनात्सुखमायुष्मतामिह ॥१८॥
राज्ञः सम्प्रतिबुध्यस्य यच्चागमनकारणम् ।
इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित्[1] ॥१९॥

आप लोग महाराज और विशेष कर श्रीरामचन्द्र के सम्मान भाजन हैं। अतः मैं लौट कर आपकी ओर से इस बात को (कि महाराज के न पधारने का क्या कारण है) महाराज से, जो अभी सो कर उठे हैं, पूँछता हूँ। यह कह कर अति वृद्ध सुमंत्र अन्तःपुर के द्वार पर जाकर, ॥१८॥१९॥

१ पुराणवित्—चिरकालकथाभिज्ञः अतिवृद्ध इति। (वि०)

सदाऽसक्तं[1] च तद्वेश्म सुमन्त्रः प्रविवेश ह ।
तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य च विशांपतेः ॥२०॥

वेरोकटोक राजभवन के भीतर चले गए । (तत्कालीन प्रथानुसार) वंशपरम्परा की बड़ाई करते हुए, सुमंत्र ने, उस कमरे में प्रवेश किया, जिसमें महाराज पड़े थे ॥२०॥

शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत ।
सोत्यासाद्य तु तद्वेश्म तिरस्करणि[2]मन्तरा ॥२१॥
आशीर्भिर्गुणयुक्ताभिरभितुष्टाव राघवम् ।
सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥२२॥

सुमंत्र महाराज के सोने के कमरे में पहुँच और चिक की आड़ में खड़े हो कर, महाराज को आशीर्वाद दे, उनको प्रसन्न करने लगे और कहने लगे, हे काकुत्स्थ ! चन्द्र, सूर्य, शिव, कुवेर, ॥२१॥२२॥

वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।
गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥२३॥

वरुण, अग्नि, इन्द्र आपको विजय दें । भगवती निशा बीत चुकी और सुप्रभात हो चुका है ॥२३॥

बुध्यस्व नृपशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागता नृप ॥२४॥

---

१ सदासक्त—सर्वदाऽनिवारित । (गो०) २ तिरस्करणि—यवनिका चिक इति नाम्ना लोके प्रसिद्धामित्यर्थः (शि०)

हे राजसिंह! उठिए और जो कार्य करने हैं उन्हें कीजिए। ब्राह्मण, सेनापति, महाजन और सामन्त राजा लोग आए हुए हैं ॥२४॥

दर्शनं तेऽभिकांक्षन्ते प्रतिबुध्यस्व राघव ।
स्तुवन्तं तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥२५॥

और वे आपके दर्शनों की अभिलाषा करते हैं। हे राघव! उठिए, तब इस प्रकार स्तुति करते हुए मंत्रिप्रवर सुमंत्र से ॥२५॥

प्रतिबुध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत् ।
राममानय सूतेति यदस्याभिहितोऽनया ॥२६॥

महाराज ने जाग कर यह कहा, जैसा कि तुमसे इस कैकेयी ने कहा है, तुम जा कर पहिले श्रीरामचन्द्र को लिवा लाओ ॥२६॥

किमिदं कारणं येन ममाज्ञा प्रतिहन्यते ।
न चैव सम्प्रसुप्तोऽहमानयेहाशु राघवम् ॥२७॥

क्या कारण है जो तुम हमारी आज्ञा की अवहेलना करते हो? हम सोते नहीं हैं (जो तुम हमें बार बार जगाने की स्तुति पढ़ते हो)। तुम शीघ्र जा कर श्रीरामचन्द्र को यहाँ ले आओ ॥२७॥

इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वशात्पुनः ।
स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रणिपत्य तम् ॥२८॥

महाराज दशरथ के यह कहने पर सुमंत्र महाराज के वचनों को सुन और उनको प्रणाम कर ॥२८॥

निर्जगाम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत् ।
प्रपन्नो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम् ॥२९॥

राजभवन से चल दिए और मन में जाना कि आज श्रीराम-चन्द्र का अभिषेक होगा। सुमन्त्र रंग बिरंगी ध्वजापताकाओं से शोभित राजमार्ग पर उपस्थित हो ॥२९॥

हृष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन्।
स सूतस्तत्र शुश्राव रामाधिकरणाः कथा ॥३०॥

इधर उधर देखते भालते और हर्षित होते हुए तेजी के साथ जाने लगे। रास्ते में प्रत्येक दर्शक के मुख से वे श्रीरामचन्द्र संबधी चर्चा ही सुनते हुए जाते थे ॥३०॥

अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य हृष्टवत्।
ततो ददर्श रुचिरं कैलासशिखरप्रभम् ॥३१॥

यह चर्चा और कुछ नहीं केवल श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक की आनन्ददायिनी बातचात थी। थोड़ी ही देर में सुमन्त्र ने मनोहर कैलास पर्वत के शिखर के समान उज्ज्वल ॥३१॥

रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम्।
महाकवाटसंयुक्तं वितर्दिशतशोभितम् ॥३२॥

और इन्द्रभवन के समान सुन्दर रामभवन देखा। उस राज-भवन मे बड़े बड़े फाटक लगे थे और शत वेदियाँ शोभायमान थीं ॥३२॥

काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमशोभितम्।
शारदाभ्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहोपमम् ॥३३॥

भवन के कँगूरों पर सैकड़ो सोने की मूर्तियाँ रखी हुई थी जिनमे मणियाँ और मूँगे जड़े हुए थे। रामभवन की शोभा,

शारदीय मेघ के समान निर्मल और सुमेरु पर्वत की कन्दरा के समान चमकीली थी ॥३३॥

मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्भिरलङ्कृतम् ।
मुक्तामणिभिराकीर्णं चन्दनागरुधूपितम् ॥३४॥
गन्धान् मनोज्ञान् विसृजद्दार्दुरं[1] शिखरं यथा ।
सारसैश्च मयूरैश्च निनदद्भिर्विराजितम् ॥३५॥

राजभवन के द्वार को मणियों की सुन्दर मालाएँ (जो वन्दनवारों की जगह लटक रही थीं) सुशोभित कर रही थीं । मोतियों और मणियों से सजा हुआ चन्दन और अगर से सुवासित और मनोहर गन्धों से मलयागिरि समीपवर्ती चन्दनगिरि के शिखर की तरह सुवासित, वह श्रीरामचन्द्र का भवन था । उसमें अनेक सारस और मोर बोल रहे थे ॥३४॥३५॥

सुकृतेर्[2] हामृगाकीर्णं सुकीर्णं भित्तिभिस्तथा ।
मनश्चक्षुश्च भूतानामाददत्तिग्मतेजसा[3] ॥३६॥

राजभवन के दरवाजे पर, कमरों की दीवालों पर और खंभों पर सुनहली तसवीरें बनी थीं । ये तसवीरें जंगली जानवरों की यथा भेड़िया, बघर्रा शेर आदि की थीं । इनकी अत्यन्त सुन्दर कारीगरी देखने को, देखने वाले का मन और आँखें अपने आप आकर्पित हो जाती थी ॥३६॥

---

१ दर्दुरः—मलयसन्निकृष्टश्चन्दनगिरिः । (वि०) २ सुकृतैः—स्वर्णादिना । (वि०) ३ तिग्मतेजसा आददत्—अतिशयितशोभया आकर्षत । (वि०)

चन्द्रभास्करसङ्काशं कुबेरभवनोपमम् ।
महेन्द्रधामप्रतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥३७॥

श्रीरामचन्द्र जी का भवन चन्द्रमा और सूर्य की तरह चमकता था, कुबेर भवन की तरह भरा पूरा था और इन्द्रभवन की तरह बनावट से अद्वितीय था। उसमें अनेक जाति के पत्नी किलोलें कर रहे थे ॥३७॥

मेरुश्रृङ्गसमं सूतो रामवेश्म ददर्श ह ।
उपस्थितैः समाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः ॥३८॥

उस सुमेरुशिखर के समान ऊँचे श्रीरामभवन को सुमन्त्र ने देखा। उस समय वहाँ अनेक लोग हाथ जोड़े हुए उपस्थित थे ॥३८॥

उपादाय समाक्रान्तैस्तथा जानपदैर्जनैः ।
रामाभिषेकसुमुखैरुन्मुखैः समलङ्कृतम् ॥३९॥

वहाँ अनेक राष्ट्रों के लोग भी थे जो श्रीरामचन्द्र जी को भेंट देने के लिए भेंट की वस्तुएँ लिए उपस्थित थे और श्रीरामाभिषेक देखने को उत्सुक थे तथा अच्छे अच्छे वस्त्र और बहुमूल्य आभूषणों से अलङ्कृत थे ॥३९॥

महामेघसमप्रख्यमुदग्रं सुविभूषितम् ।
नानारत्नसमाकीर्णं कुब्जकैरातका[1] वृत्तम्* ॥४०॥

वह रामभवन महामेघ के समान विशाल था और तरह तरह की मणियों से सजा हुआ था। वहाँ पर अनेक छोटे डील डौल के किरात जातीय नौकर भी थे ॥४०॥

---

१ कुब्जकैरात—किरातानां स्वरूप शरीरकाणां समूहः कैरातक। (गो०)

* पाठान्तरे—"कुब्जकैरपिचावृतं"

स वाजियुक्तेन रथेन सारथि-
र्नराकुलं राजकुलं[1] विलोकयन् ।
वरूथिना रामगृहाभिपातिना
पुरस्य सर्वस्य मनांसि *हर्षयन् ॥४१॥

घोड़ों के रथ में सवार सुमन्त्र जी, लोगों की भीड़ से भरे हुए राजमार्ग को शोभित करते और सम्पूर्ण पुरवासियों के हृदय को हर्षित करते हुए श्रीरामभवन के द्वार पर पहुँचे ॥४१॥

ततः समासाद्य महाधनं मह-
त्प्रहृष्टरोमा स बभूव सारथिः ।
मृगैर्मयूरैश्च समाकुलोल्वणं
गृहं वरार्हस्य शचीपतेरिव ॥४२॥

विपुल धनराशि से भरे हुए रामभवन मे, जो अनेक मृग और मयूरों से भरा हुआ था और उत्तमता मे इन्द्रभवन के तुल्य था, पहुँच कर और वहाँ की शोभा देख कर, सुमन्त्र बहुत प्रसन्न हुए ॥४२॥

स तत्र कैलासनिभाः स्वलङ्कृताः ।
प्रविश्य कक्ष्यास्त्रिदशालयोपमाः ।
प्रियान्नरान् राममते स्थितान् बहू-
नपोह्य शुद्धान्तमुपस्थितो रथी ॥४३॥

सुमन्त्र जी कैलास की तरह सजे हुए श्रीरामभवन की स्वर्ग समान ड्योढ़ियो को नाँघते और उन अनेक पुरुषो को जो श्रीराम

---

[1] राजकुल—राजमार्गं । (वि०)

* पाठान्तरे—रञ्जयत् ।

चन्द्र के प्यारे और कृपापात्र थे, हटाते बचाते अन्तःपुर में जा पहुँचे ॥४३॥

स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता
रामाभिषेकार्थयुता जनानाम् ।
नरेन्द्रसूनोरभिमङ्गलार्थाः
सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टः ॥४४॥

वहाँ भी सुमंत्र ने लोगो को प्रसन्न हो आपस मे श्रीरामचन्द्र के अभिषेक की चर्चा करते हुए ही देखा। इससे सुमंत्र अत्यन्त प्रसन्न हुए। क्योंकि उन लोगो की बातचीत श्रीरामचन्द्र के मङ्गल के लिए ही थी ॥४४॥

महेन्द्रसद्मप्रतिमं तु वेश्म
रामस्य रम्यं मृगपक्षिजुष्टम् ।
ददर्श मेरोरिव शृङ्गमुच्चं
विभ्राजमानं प्रभया सुमन्त्रः ॥४५॥

सुमत्र ने श्रीरामचन्द्र जी के रहने के इन्द्रभवन के समान भवन को देखा, जो रमणीक था और मृगो और पक्षियो से सेवित था और जो प्रभा से प्रकाशमान और उच्च मेरुशिखर के समान था ॥४५॥

उपस्थितैरञ्जलिकारकैश्च
सोपायनैर्जानपदैर्जनैश्च ।
कोट्या परार्धैश्च विमुक्तयानैः
समाकुलं द्वारपथं ददर्श ॥४६॥

सुमन्त्र ने देखा कि, वहाँ भी अनेक देशों से आए असंख्य लोग हाथ जोड़े (यानी नम्रभाव से) और भेटें लिये हुए, अपनी सवारियों से उतर कर नीचे खड़े हुए हैं ॥४६॥

ततो महामेघमहीधराभं
प्रभिन्नमत्यङ्कुशमप्रसह्यम् ।
रामौपवाह्यं रुचिरं ददर्श
शत्रुंजयं नागमुदग्रकायम् ॥४७॥

तदनन्तर सुमंत्र ने देखा कि, बादल की तरह श्याम रंग का और पर्वत के समान ऊँचा शत्रुञ्जय नाम का सुन्दर हाथी, जो अंकुश की मार कभी सहता ही न था और जिसके मस्तक से मद चू रहा था, श्रीरामचन्द्र जी की सवारी के लिए खड़ा है ॥४७॥

स्वलंकृतान् साश्वरथान् सकुञ्जरा-
नमात्यमुख्यांश्शतशश्च वल्लभान् ।
व्यपोह्य सूतः सहितान् समन्ततः ।
समृद्धमन्तःपुरमाविवेश ॥४८॥

फिर आगे बढ़ कर सुमन्त्र ने देखा कि, अनेक महावत सारथी और साईस अपने अपने हाथियो, रथो और घोड़ो को सजाए हुए तैयार खड़े हैं। फिर देखा कि, श्रीरामचन्द्र के प्रधान मंत्री तथा सैकड़ो कृपापात्र वहाँ चारों ओर उपस्थित हैं। उन सब को हटा सुमंत्र समृद्धशाली अन्तःपुर में गए ॥४८॥

तदद्रिकूटाचलमेघसन्निभं
महाविमानोत्तमवेश्मसङ्घवत् ।

आवार्यमाणः प्रविवेश सारथिः
प्रभूतरत्नं मकरो यथाऽर्णवम् ॥४६॥

इति पञ्चदश: सर्गः ॥

पर्वत की चोटी के समान ऊँचे, महामेघ की तरह विशाल और अनेक खण्डो (मजिलो) वाले श्रीरामभवन में सुमंत्र वेरोकटोक उसी प्रकार चले गए, जिस प्रकार रत्नो से भरे पूरे समुद्र में, मगर निशक घुस जाता है ॥४६॥

अयोध्याकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

षोडशः सर्गः

—:o:—

स तदन्तः पुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम्।
प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥१॥

सुमंत्र अन्त.पुर की उस ड्योढ़ी को, जिस पर लोगों की बड़ी भीड़ थी, नाँव कर, भीतर की ड्योढ़ी पर, जहाँ कोई भी बाहिरी आदमी न था, पहुँचे ॥१॥

प्रासकार्मुकबिभ्रद्भिर्युवभिर्मृष्टकुण्डलैः।
अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वनुरक्तैरधिष्ठिताम् ॥२॥

सुमंत्र ने देखा कि, उस ड्योढ़ी पर फरसा और धनुष को लिये, सुन्दर कुण्डल पहिने हुए युवा, जो पहिरा देने में बड़े दक्ष थे और अपने काम में सदा सावधान रहते थे तथा बड़े स्वामिभक्त थे, पहरा दे रहे हैं ॥२॥

तत्र काषायिणो वृद्धान् वेत्रपाणीन् स्वलंकृतान्।
ददर्श विष्ठितान् द्वारि स्त्र्यध्यक्षान् सुसमाहितान् ॥३॥

सुमंत्र ने इनके आगे लाल कपड़े पहिने और सुन्दर वेषभूषा बनाए तथा हाथों में बेत लिए, वृद्ध पुरुष देखे, जो जनानी ड्योढ़ी पर बड़ी सावधानी से पहरा दे रहे थे ॥३॥

[टिप्पणी—"वृद्धान्" और "अध्यद्धान्" शब्द इस श्लोक में देखने से, यह स्पष्ट है कि, रामायणकाल में रनवासों की खास ड्योढ़ी पर, वृद्ध लोगों ही का पहरा रहता था।]

ते समीक्ष्य समायान्तं रामप्रियचिकीर्षवः ।
सहसोत्पतिताः सर्वे ह्यासनेभ्यः ससम्भ्रमाः ॥४॥

श्रीरामचन्द्र के हितैषीगण सुमन्त्र को आते देख, झटपट बड़े आदर के साथ उठ खड़े हुए ॥४॥

तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः[१] ।
क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति ॥५॥

तब सुमन्त्र ने उन विनम्र और सेवानिपुण लोगों से कहा कि, तुम तुरन्त जा कर, श्रीरामचन्द्र जी से कह दो कि, सुमंत्र ड्योढ़ी पर खड़ा है ॥५॥

ते राममुपसङ्क्रम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः ।
सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे ॥६॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र के हितैषी उन लोगों ने, तुरन्त सीता जी सहित, श्रीरामचन्द्र जी को सुमंत्र के आने की सूचना दी ॥६॥

प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः ।
तत्रैवानाययामास राघवप्रियकाम्यया ॥७॥

सुमंत्र के आने का समाचार सुन और उन्हें अपने पिता का

---

१ प्रदक्षिणः—सेवानिपुणइत्यर्थः । (गो०)

अन्तरङ्गजन जान कर, श्रीरामचन्द्र जी ने प्रीतिपूर्वक उन्हें भीतर ही बुलवा लिया ॥७॥

तं वैश्रवणसङ्काशमुपविष्टं स्वलङ्कृतम् ।
ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे ॥८॥

सुमन्त्र ने भीतर जा कर देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी सोने के पलग पर बिछे हुए उत्तम मुलायम बिछौनों पर, कुबेर जैसे आभूषण धारण किए हुए, बैठे हैं ॥८॥

वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना ।
अनुलिप्तं परार्घ्येन चन्दनेन परन्तपम् ॥९॥

उनके शरीर में वराह के रुधिर के समान लाल, पवित्र और सुगन्ध वाला चन्दन लगा हुआ है ॥९॥

स्थितया पार्श्वतश्चापि वालव्यजनहस्तया ।
उपेतं सीतया भूयश्चित्रया[1] शशिनं यथा ॥१०॥

और उनकी एक ओर बगल में चमर लिए जानकी जी बैठी हैं। उस समय देखने पर ऐसा जान पड़ता था, मानो चैत्र की पूर्णिमा को चित्रा के सहित चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है ॥१०॥

तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं[2] स्वतेजसा ।
ववन्दे वरदं वन्दी[3] विनयज्ञो [4]विनीतवत् ॥११॥

श्रीरामचन्द्र जी अपने तेज से मध्याह्न के सूर्य की तरह प्रकाशमान थे। विनय के ज्ञाता सुमन्त्र ने वरदाता श्रीरामचन्द्र जी को देख, विनयपूर्वक प्रणाम किया ॥११॥

---

१ शशिन—चैत्रपूर्णमास्यां चित्राख्यतारकयोपेतम् । (गो०)।
२ उपपन्न—युक्त (शि०) ३ वन्दी—सुमंत्र. । (शि०)
४ विनीतो यथा साष्टाङ्ग वन्दते तथेत्यर्थ । (गो०)

प्राञ्जलिस्तु सुखं पृष्ट्वा विहारशयने स्थितम् ।
राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥१२॥

और हाथ जोड़ कर कुशल प्रश्न पूँछा। तदनन्तर महाराज से सम्मानित सुमन्त्र ने, सेज पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥१२॥

कौसल्या सुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
महिष्या सह कैकेय्या गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥१३॥

हे कौसल्या जी के शोभन पुत्र! आपको कैकेयी सहित महाराज देखना चाहते हैं, अतः आप तुरन्त वहाँ चले ॥१३॥

एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः ।
ततः सम्मानयामास सीतामिदमुवाच ह ॥१४॥

सुमंत्र जी से यह बात सुन कर, पुरुषसिंह महाद्युतिमान् श्रीरामचन्द्र, अत्यन्त हर्षित हुए और सुमंत्र से यह कह कर कि, बहुत अच्छा, अभी चलता हूँ, सीता जी से बोले ॥१४॥

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे ।
मन्त्रयेते ध्रुवं किञ्चिदभिषेचनसंहितम् ॥१५॥

हे देवि! मेरी माता कैकेयी और पिता जी एकत्र बैठे मेरे अभिषेक के विषय में अवश्य कुछ परामर्श करते हैं ॥१५॥

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा ।
सञ्चोदयति राजानं मदर्थं मदिरेक्षणे ॥१६॥

हे मदिरेक्षणे! मैं अनुमान करता हूँ कि, मेरी हितैषिणी चतुरा कैकेयी, महाराज का अभिप्राय जान कर, प्रियकामना से मेरे लिए महाराज को कुछ प्रेरणा कर रही है ॥१६॥

सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामाऽनुवर्तिनी ।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता ॥१७॥
दिष्ट्या खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह ।
सुमन्त्रं प्राहिणोद्दूतमर्थकामकरं मम ॥१८॥

क्योंकि वह केकय देश के राजा की बेटी और महाराज के इच्छानुसार चलने वाली मेरी माता कैकेयी, मेरी भलाई चाहती है। यह बड़े ही आनन्द की बात है कि, महाराज ने जो इस समय अपनी प्यारी रानी के यहाँ विराजमान हैं, मेरी भलाई चाहने वाले सुमत्र को मुझे बुलाने भेजा है ॥१७॥१८॥

यादृशी परिषत्तत्र तादृशो दूत आगतः ।
ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥१९॥

जैसी वहाँ इस समय मेरा हित चाहने वाली सभा है, वैसा ही मेरा हित चाहने वाला दूत भी आया है। निश्चय ही महाराज आज मुझे युवराजपद पर अभिषिक्त करेंगे ॥१९॥

अहं शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् ।
सह त्वं परिवारेण[1]सुखमास्स्व रमस्व[2] च ॥२०॥

अब मैं तुरन्त यहाँ से जा कर महाराज के दर्शन करूँगा। तुम अपनी परिचारिकाओं के साथ आनन्द से वार्तालाप करो ॥२०॥

पतिसम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा ।
आद्वारमनुवव्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी[3] ॥२१॥

---

१ परिवारेण—परिचारिकासघेन। (गो०) २ रमस्व—वृत्तकीर्तनेन रता भव। (गो०) ३ अभिदध्युषी—अभिध्यायन्ती। (गो०)

* पाठान्तरे—हन्त।

इस प्रकार पति का सम्मानसूचक वचन सुन कमलाक्षी सीता जी मङ्गलपाठ करती हुई श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे द्वार तक गई ॥२१॥

[टिप्पणी—सीता जी की इच्छा नहीं थी कि, श्रीरामचन्द्र जी युवराजपद पर अभिषिक्त हों। उनकी इच्छा थी कि श्रीरामचन्द्र जी राजसूययज्ञ कर के सार्वभौमपद प्राप्त करें—अतः वे सङ्केत करती हैं]

राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं[1] राजसूयाभिषेचनम् ।
कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत् ॥२२॥

(और बोलीं) इस राज्य में बहुत से ब्राह्मण रहते हैं। महाराज ! वे तुम्हारा राजसूयाभिषेचन वैसे ही करें, जैसे ब्रह्मा ने इन्द्र का किया था ॥२२॥

[टिप्पणी—राजसूययज्ञ मे सब राजाओं को जीत कर, यज्ञ किया जाता है। अतः वीर्यशुल्का सीता भी चाहती हैं कि, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने विवाह में पराक्रम की परम सीमा प्रदर्शित की, उसी प्रकार राज्याभिषेक के समय सब राजाओं और राक्षसों को जीत कर, निज पराक्रम से वे राज्यप्राप्त करें। शिरोमणि टीकाकार का यह मत है।]

दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम् ।
कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥२३॥

मैं तुमको राजसूय यज्ञ करने के लिए व्रत-धारण-पूर्वक दीक्षा लिये हुए, मृगचर्म पहिने हुए, पवित्र अवस्था में और मृग के सींग हाथ मे लिये हुए देख कर, तुम्हारी सेवा करना चाहती हूँ ॥२३॥

---

1 जुष्टं—सेवित (गो०)

पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः।
वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥२४॥

पूर्व दिशा में इन्द्र, दक्षिण दिशा में यम, पश्चिम दिशा में वरुण और उत्तर दिशा में कुबेर तुम्हारी रक्षा करें ॥२४॥

अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः।
निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥२५॥

श्रीरामचन्द्र जी, सीता जी से विदा हो और अपने अभिषेक के लिए मङ्गलाचार पूर्वक, सुमंत्र के साथ अपने भवन से रवाना हुए ॥२५॥

पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः।
लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत्प्रह्वाञ्जलिपुटं स्थितम् ॥२६॥

जिस प्रकार पर्वत की कन्दरा में शयन करने वाला सिंह निर्भय हो अपनी गुफा से निकलता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी भी अपने भवन से निकले। बाहिर आकर देखा कि, द्वार पर हाथ जोड़े लक्ष्मण जी खड़े हैं ॥२६॥

अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत्सुहृज्जनैः।
स सर्वानर्थिनो दृष्ट्वा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥२७॥

बीच की ड्योढ़ी पर पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी अपने सुहृदों से मिले और सब लोगों को, जो अभिषेक दर्शनाभिलाषी हो वहाँ उपस्थित हुए थे, देखा और उनका यथोचित सम्मान किया ॥२७॥

ततः पावकसङ्काशमारुरोह रथोत्तमम्।
वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजतं राजनन्दनः ॥२८॥

तदनन्तर दशरथनन्दन पुरुषव्याघ्र श्रीरामचन्द्र जी उस दिव्य रथ पर सवार हुए, जो अग्नि के समान चमकता था और जो व्याघ्रचर्म से मढ़ा हुआ था ॥२८॥

मेघनादमसम्बाधं मणिहेमविभूषितम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि प्रभया हेमवर्चसम् ॥२९॥

वह रथ जब चलता था, तब उसके चलने का शब्द मेघ की गरजन के समान होता था। उसमें सुनहला और मणियों की पच्चीकारी का काम किया गया था। उसको देखने से देखने वाले की आँखे वैसे ही चौंधियां जाती थीं, जैसे सूर्य को देखने से चौंधियाती हैं ॥२९॥

करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः ।
हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम् ॥३०॥

उसमें हाथी के बच्चों जैसे बड़े डीलडौल के घोड़े जुते हुए थे। वह रथ, इन्द्र के रथ की तरह शीघ्र चलने वाला था ॥३०॥

प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया ।
स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥३१॥

श्रीराम जी रथ में बैठ शोभा से दीप्तिमान हुए। उनका रथ बड़े वेग से चला जा रहा था और उसके चलते समय आकाश में मेघ गरजने जैसा शब्द हो रहा था ॥३१॥

निकेतान्निर्ययौ श्रीमान् महाभ्रादिव चन्द्रमाः ।
छत्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥३२॥

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी उस रथ पर सवार हो भवन के बाहिर आए, उस समय ऐसा बोध हुआ, मानो महाप्रकाशमान

चन्द्रमा मेघ से निकला हो। श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण छत्र चँवर ले ॥३२॥

जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः।
ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥३३॥

बड़े भ्राता की रक्षा के लिए उनके पीछे उसी रथ पर बैठे। उस रथ के चलने के समय जनता ने जयनाद कर बड़ा तुमुल शब्द किया ॥३३॥

तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः।
ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसन्निभाः ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र जी के चलने पर उनके पीछे चारो ओर से जन-समूह चला। श्रीरामचन्द्र के रथ के पीछे बढ़िया घोड़ों और पर्वत के समान बड़े ऊँचे हाथियों पर बैठ, लोग हो लिये ॥३४॥

[टिप्पणी—लोगों को यह मालूम न था कि, किसी कारण विशेष से श्रीरामचन्द्र जी को महाराज ने बुलाया है। लोगों ने तो यह समझा कि श्रीरामचन्द्र अभिषेकक्रिया के लिए जा रहे हैं। अत. एक जलूस अपने आप ही बन गया।]

अनुजग्मुस्तदा रामं शतशोऽथ सहस्रशः।
अग्रतश्चास्य सन्नद्धाश्चन्दनागरुरूषिताः[१] ॥३५॥

खड्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो[२] जनाः।
ततो वादित्रशब्दास्तु स्तुतिशब्दाश्च वन्दिनाम् ॥३६॥

---

१ रूषिताः—लिप्ताः। (वि०) २ आशसव·—रामश्रेयआशसमानाः। (वि०)

श्रीरामचन्द्र जी के पीछे जाने वाले घोड़ों और हाथियों पर बैठ कर जाने वालों की तथा पैदल चलने वाले लोगों की संख्या लाखों पर थी। श्रीरामचन्द्र जी के रथ के आगे वीर सैनिक थे, जिनके माथे पर चन्दन और अगर लगा हुआ था और उनके हाथों में तलवारें और धनुष थे। वे श्रीरामचन्द्र जी के हितैषी थे। उनके पीछे बाजे वाले और बाजे वालों के पीछे बंदी जन श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति करते हुए चले जाते थे ॥३५॥३६॥

सिंहनादाश्च शूराणां तथा शुश्रुविरे पथि ।
हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः ॥३७॥

वीरों का सिंहनाद मार्ग में सुन पड़ता था। अटारी और झरोखों में बैठी हुई अच्छे भूषणों से भूषित, ॥३७॥

कार्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिन्दमः ।
रामं सर्वानवद्याङ्ग्यो रामप्रियचिकीर्षया ॥३८॥
वचोभिरग्र्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे ।
नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥३९॥

स्त्रियाँ चारों ओर से श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर फूलों की वर्षा कर रही थीं और उस पुष्प वर्षा के बीच शत्रु निकन्दन श्रीरामचन्द्र जी चले जाते थे। वे सब सर्वाङ्ग सुन्दरी स्त्रियाँ जो अटारियों पर बैठी थी, श्रीरामचन्द्र जी की मङ्गलकामना से प्रणाम करती थीं, मङ्गलगीत गा रही थीं और कहती थीं, कि हे मातृनन्दन! आज तुम्हारी माता कौसल्या निश्चय ही अत्यन्त प्रसन्न होंगी ॥३८॥३९॥

पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमवस्थितम् ।
सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीम[illegible] वराम् ॥४०॥

अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम् ।
तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत्तपः ॥४१॥

क्योंकि वे आज तुमको पिता के दिए हुए राजसिंहासन पर बैठे हुए देख, सफल मनोरथ होंगे। उस समय उन सुभगा स्त्रियों ने सीता जी को, जो श्रीरामचन्द्र की प्राणप्यारी थीं, सब सौभाग्यवती स्त्रियों से श्रेष्ठ माना और इसका कारण यह समझा कि, पूर्वजन्म में सीता ने अवश्य ही बड़ी तपस्या की है ॥४०॥४१॥

रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या ।
इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिर्नरोत्तमः ॥४२॥
शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ।
आत्मसम्पूजनैः शृण्वन् ययौ रामो महापथम् ॥४३॥

रोहिणी ने जिस प्रकार चन्द्रमा को अपना पति पाया, वैसे ही सीता जी ने श्रीरामचन्द्र को अपना पति पाया है। इस तरह भवनों की छत्तों पर बैठी हुई स्त्रियों के ऐसे प्रिय और प्रशंसात्मक वचन, सड़क पर से ही, पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी सुनते हुए, बड़े लवे चौड़े मार्ग पर जा पहुँचे ॥४२॥४२॥

स राघवस्तत्र कथाप्रपञ्चा-१
ञ्शुश्राव लोकस्य समागतस्य ।
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः
प्रहृष्टरूपस्य पुरो जनस्य ॥४४॥

१—कथाप्रपञ्चात्—लौकिककथाविस्तारान् । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी आए हुए लोगों के मुख से अनेक प्रकार की बातें तथा पुरवासियों के मुख से निज अधिकार प्राप्ति के विषय में तरह तरह की बातें सुनते चले जाते थे ॥४४॥

एष श्रियं गच्छति राघवोद्य
राजप्रसादाद्विपुलाङ्गमिष्यन् ।
एते वयं सर्वसमृद्धकामा
येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥४५॥

(वे लोग कह रहे थे) यह श्रीरामचन्द्र आज राजा की कृपा से विपुल लक्ष्मी पावेंगे और हम लोग, जिनके यह शासनकर्त्ता होंगे सफल मनोरथ या पूर्णकाम हो जाँयगे ॥४५॥

लाभो जनस्यास्य यदेष सर्वं
प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय ।
न ह्यप्रियं किञ्चन जातु कश्चि-
त्पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥४६॥

चिरकाल के लिए निस्सन्देह यह श्रीरामचन्द्र समस्त राज्य पावेंगे। इनका राज्य पाना हमारे लिए बड़ा लाभदायक होगा, क्योंकि इनके राजा होने पर किसी प्रकार का अनिष्ट देखना न पड़ेगा ॥४६॥

स घोषवद्भिश्च हयैर्मतङ्गजैः
पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः ।
महीयमानः प्रवरैश्च वादकै ।
रभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥४७॥

घोड़े हाथी हिनहिना और चिंघाड़ रहे थे। सूतों, मागधों और बंदीजनों द्वारा अपने वंश का बखान तथा अपनी स्तुति सुनते हुए श्रीरामचन्द्र जी, वैसे ही चले जाते थे, जैसे कुबेर जी जाते हैं ॥४७॥

करेणुमातङ्गरथाश्वसङ्कुलं
महाजनौघप्रतिपूर्णचत्वरम्।
प्रभूतरत्नं बहुपण्यसञ्चयं
ददर्श रामो रुचिरं महापथम् ॥४८॥

इति षोडशः सर्गः ॥

जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, रास्ता बिना दाँतों के हाथियों और दाँत वाले हाथियों, रथों और घोड़ों से भरा है। चौराहों पर भद्र मनुष्यों की अपार भीड़ है। बाजारों की दूकानें रत्नों तथा अन्य सौदागरी माल से भरी हुई हैं। रास्ते अच्छी तरह सजे हुए हैं ॥४८॥

अयोध्याकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

सप्तदशः सर्गः

—:o:—

स रामो रथमास्थाय सम्प्रहृष्टसुहृज्जनः।
पताकाध्वजसम्पन्नं महार्हागरुधूपितम् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी ने रथ में बैठकर जाते हुए देखा कि, उनके सुहृद प्रसन्न हो रहे हैं, स्थान स्थान पर ध्वजाएँ और पताकाएँ फहरा रही हैं, जगह जगह सुगन्धित गूगुल आदि द्रव्य जलाई जा रही हैं, जिनकी सुगन्धि चारों ओर फैल रही है ॥१॥

अपश्यन्नगरं श्रीमान्नानाजनसमाकुलम् ।
स गृहैरभ्रसङ्काशैः पाण्डुरैरुपशोभितम् ॥२॥

अनेक जनों से पूर्ण और श्वेत मेघ के समान गृहों से सुशोभित नगर को श्रीरामचन्द्र जी ने देखा ॥२॥

राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागरुधूपितम् ।
चन्दनानां च मुख्यानामगरूणां च सञ्चयैः ॥३॥

अगर की धूप से सुवासित राजमार्ग पर हो कर, श्रीरामचन्द्र जी जा रहे थे। सड़कों के किनारे चन्दन और अगर की लकड़ी के ढेर लगे हुए थे ॥३॥

उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च ।
अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥४॥

अच्छे अच्छे इत्र, रेशमी व ऊनी वस्त्र, बिना विधे और स्फटिक मणियों के ढेरो से ॥४॥

शोभमानमसम्बाधैस्तं[1] राजपथमुत्तमम् ।
संवृतं[2] विविधैः पण्यैर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥५॥

वे उत्तम राजमार्ग अबाधित (सब वस्तुएं खुली हुई रखी थीं, चोरों का डर न था) सुशोभित हो रहे थे। दूकानें अनेक प्रकार के सौदागरी के सामानों से तथा खाने पीने की चीजों से भरी हुई थीं ॥५॥

---

१ असम्बाधः—चौरादिबाधारहितम्। (शि०) २ संवृतं—व्याप्तं। (वि०)

ददर्श तं राजपथं दिवि देवपथं यथा ।
दध्यक्षतहविर्लाजैर्धूपैरगरुचन्दनैः ॥६॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, वह राजमार्ग उसी प्रकार सुशोभित है, जिस प्रकार स्वर्ग में देवपथ सुशोभित होता है। शकुन के लिए जगह-जगह दही, अक्षत, खीर, लावा, धूप, अगर, चन्दन रखे हुए थे ॥६॥

नानामाल्योपगन्धैश्च सदाऽभ्यर्चितचत्वरम् ।
आशीर्वादान् बहूञ्शृण्वन् सुहृद्भिः समुदीरितान् ॥७॥

अनेक प्रकार के पुष्पों और अनेक सुगन्ध द्रव्यों से चौराहे सुशोभित थे। श्रीरामचन्द्र जी सुहृदों के दिए हुए आशीर्वादों को सुनते जाते थे ॥७॥

यथार्हं चापि सम्पूज्य सर्वानेव नरान्ययौ ।
पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥८॥

और यथोचित उन सब लोगों का आदर करते जाते थे। अनेक बूढ़े लोग कहते थे कि जिस प्रकार तुम्हारे बाबा (पितामह) और दादा (प्रपितामह) ने राज्य किया ॥८॥

अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय ।
यथा स्म लालिताः पित्रा यथा पूर्वैः पितामहैः ॥९॥

आज उसी प्रकार तुम भी राजसिंहासन पर बैठ कर, राज्य करो। तुम्हारे पूर्वजों के राज्य में जिस प्रकार हम सुखी थे ॥९॥

ततः सुखतरं रामे वत्स्यामः सति राजनि ।
अलमद्य हि भुक्तेन[1] परमार्थैरलं च नः ॥१०॥

उससे भी अधिक हम सब तुम्हारे सुशासन में सुखी हों। हम लोगों को अब इस लोक और परलोक के सुखों से भी कुछ प्रयोजन नहीं ॥१०॥

यथा पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ।
ततो हि नः प्रियतरं नान्यत्किञ्चिद्भविष्यति ॥११॥

क्योंकि राज्याभिषिक्त हो कर, श्रीरामचन्द्र के इस मार्ग से निकलने पर और उनको देखने पर, जो आनन्द हमको प्राप्त होगा उससे बढ़कर प्रिय और सुखदायक हमारे लिए और कुछ भी नहीं है ॥११॥

यथाऽभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ।
एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः कथाः शुभाः ॥१२॥
आत्मसम्पूजनीः शृण्वन् ययौ रामो महापथम् ।
न हि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात् ॥१३॥

अमित तेजस्वी श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक से बढ़ कर हमारे लिए और कोई वस्तु प्रिय नहीं है। इस प्रकार अपने सुहृदों तथा अन्य जनों के मुख से अपनी प्रशंसा सुन, उदासीन भाव से श्रीरामचन्द्र जी चले जाते थे। श्रीरामचन्द्र जी की ओर से न तो किसी का मन ही अघाता था और न उनकी ओर से किसी की आँख ही हटती थी ॥१२॥१३॥

---

१ भुक्तेन—ऐहिक विषय भोगज सुखेन। (रा०)

नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ।
यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ॥१४॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र दूर निकल आते थे तथापि जो उन्हें न देख पाता था या जिसे वे नहीं देख पाते थे ॥१४॥

निन्दितः स वसेल्लोके स्वात्माऽप्येनं विगर्हते ।
सर्वेषां हि स धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम् ॥१५॥

उसकी लोग भी निन्दा करते थे और वह स्वयं भी अपने को धिक्कारता था । क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी की दया चारो वर्णो पर समान रूप से थी ॥१५॥

चतुर्णां हि वयस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ।
चतुष्पथान् देवपथां[1]श्चैत्यान्यायतनानि[2] च ॥१६॥

इसीसे चारो वर्ण के लोग अपनी उम्र के अनुसार उनमे अनुराग रखते थे अथवा उनके अनुयायी थे । राजकुमार श्रीरामचन्द्र चौराहों, देवालयो, चैत्यवृक्षों, सभामण्डपों ॥१६॥

प्रदक्षिणं परिहरन् जगाम नृपतेः सुतः ।
स राजकुल[3]मासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः ॥१७॥

के पास से इस प्रकार जाते जिससे उनकी प्रदक्षिणा हो जाती थी। (चलते चलते) श्रीरामचन्द्र जी राजभवन में पहुँचे । वह राजभवन मेघसमूह के समान जान पड़ता था ॥१७॥

---

१ देवपथान्—देवतायान । (गो०) २ आयतनानि—सभादीनि । (गो०) ३ राजकुल—राजगृहम् । (गो०)

प्रसादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ।
आवारयद्भिर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः ॥१८॥

और उस राजभवन के विविध शिखर, कैलास पर्वत के शिखर जैसे जान पड़ते थे। भवन की अनेक सफेद अटारियाँ गगन मण्डल को उसी प्रकार छाए हुए थीं जिस प्रकार सफेद रंग के विमान आकाश को छा लेते हैं ॥१८॥

वर्धमानगृहैश्[1]चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ।
तत्पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रभवनोपमम् ॥१९॥

इस राजभवन के क्रीडागृह (खेल घर) रत्नों की जड़ाऊ कारीगरी से सुशोभित थे (अर्थात् उनकी दीवालों पर रत्नों की पच्चीकारी का काम था)। यह राजभवन पृथिवी भर के राजभवनों से सर्वश्रेष्ठ और इन्द्रभवन के समान था ॥१९॥

राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ।
स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः ॥२०॥

राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता के ऐसी शोभा से युक्त राजभवन में पहुँचे। वे तीन ड्योढ़ियो पर, जहाँ तीरन्दाज सिपाहियों के पहरे लगे हुए थे, रथ पर बैठे हुए ही चले गए ॥२०॥

पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ।
स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः ।
सन्निवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तं पुनरभ्यगात् ॥२१॥

तदनन्तर चौथी और पाँचवीं दो ड्योढ़ियाँ उन्होंने पैदल पार कीं। इस प्रकार राजभवन की सब ड्योढ़ियाँ नाँघ और साथ के

१ वर्धमानगृहैः—क्रीडागृहैः । (रा०)

लोगों को अन्तिम ड्योढ़ी पर छोड़ कर, दशरथनन्दन ने महाराज के अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥२१॥

ततः प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा
जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे।
प्रतीक्षते तस्य पुनर्विनिर्गमं
यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥२२॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

तदनन्तर, श्रीरामचन्द्र जी के अपने पिता के पास चले जाने पर, सब लोग परमानन्दित हो, उनके लौटने की उसी प्रकार चाहना करने लगे, जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्रमा के उदय की समुद्र चाहना करता है ॥२२॥

अयोध्याकाण्ड का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

अष्टदशः सर्गः

—:०:—

स ददर्शासने[1] रामो निषण्णं पितरं शुभे।
कैकेयीसहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता ॥१॥

अन्तःपुर में जा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, महाराज दशरथ दीनभाव से कैकेयी सहित बड़ी सेज पर बैठे हैं और उनके मुख का रंग फीका पड़ गया है ॥१॥

---

१ आसने—पर्यङ्के। (गो०)

स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत् ।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥२॥

उन्होंने जाते ही पहले बड़े विनीतभाव से पिता से चरणों में माथा नवाया और फिर माता कैकेयी को बड़ी सावधानी से प्रणाम किया ॥२॥

रामेत्युक्त्वा च वचनं वाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥३॥

श्रीरामचन्द्र को देख महाराज दशरथ केवल "राम" ही कह सके। क्योंकि फिर दुःखी महाराज के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी और उनका कण्ठ गद्गद हो गया। फिर वे न तो कुछ देख ही सके और न कुछ बोल ही सके ॥३॥

तदपूर्वं नरपतेर्दृष्ट्वा रूपं भयावहम् ।
रामोऽपि भयमापन्नः पदा स्पृष्ट्वेव पन्नगम् ॥४॥

जिस प्रकार सर्प को पैर से छूने पर मन में भय का संचार हो जाता है, उसी प्रकार पिता की भयावह दशा देख, श्रीरामचन्द्र जी के मन में भय का संचार हुआ ॥४॥

इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसन्तापकर्शितम् ।
निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥५॥

उस समय महाराज की सारी इन्द्रियाँ विकल थीं, वे शोक सन्ताप से क्लेशित हो रहे थे और मानसिक विकलता और विथा के कारण बारंबार दीर्घ निश्वास छोड़ रहे थे ॥५॥

---

१ अचिन्त्यकल्प—असम्भावितम् । (गो०)

ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं क्षुभ्यन्तमिव सागरम् ।
उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा ॥६॥

प्रकृति से ही क्षोभ को न पाने वाले, किन्तु समय के फेर से लहरों से क्षुब्ध सागर की, राहु से ग्रस्त सूर्य की मिथ्या भाषण से ऋषि की जो दशा होती है, वही दशा उस समय महाराज दशरथ की थी ॥६॥

अचिन्त्यकल्पं[1] हि पितुस्तं शोकमुपधारयन् ।
बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥७॥

अपने पिता की ऐसी असम्भावित दशा देख और उनके शोक का कारण न जान कर, श्रीरामचन्द्र जी के मन मे वैसी ही खलबली मची जैसी कि, पूर्णमासी के दिन समुद्र मे मचती है ॥७॥

चिन्तयामास च तदा रामः पितृहिते रतः ।
किं स्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥८॥

पिता की सदा भलाई चाहने वाले श्रीरामचन्द्र, मन ही मन सोचने लगे कि, क्या कारण है आज पिता मुझे देख कर दुःखी हो रहे हैं और न मुझे आशीर्वाद देते हैं ।

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति ।
तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते ॥९॥

और दिन तो पिता जी क्रुद्ध होने पर भी, मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाया करते थे, किन्तु आज मुझे देख कर, उन्हें क्यों कष्ट हो रहा है ॥९॥

---

१ अचिन्त्यकल्पं—असम्भावितम् । (गो०)

स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः ।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत् ॥१०॥

वे क्यो दीनो की तरह शोक से आर्त, उदास और हीनद्युति हो रहे हैं। (इस प्रकार सोचते हुए जब वे स्वय इसका कारण निश्चित न कर सके तब) कैकेयी को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥१०॥

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता ।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वं चैवैनं प्रसादय ॥११॥

यदि मुझसे अनजाने कोई अपराध हो गया हो, जिससे कुपित हो पिता जी मुझसे नहीं बोलते तो, मेरी ओर से आपही इनको प्रसन्न कर दीजिए ॥११॥

अप्रसन्नमनाः किं नु सदा मां प्रति वत्सलः ।
विवर्णवदनो दीनो न हि मामभिभाषते ॥१२॥

अप्रसन्न मन होने पर भी पिता जी की मुझ पर सदा कृपा रहती थी। किन्तु आज मै देखता हूँ कि, उनके चेहरे का रंग उतर गया है और वे दीनभाव से बैठे हैं और मुझसे बोलते भी नहीं ॥१२॥

शारीरो मानसो वाऽपि कच्चिदेनं न बाधते ।
सन्तापो वाऽभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम् ॥१३॥

क्या पिता जी को कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट तो नहीं दुःखी कर रहा है? क्योकि मनुष्य का सदा सुखी रहना दुर्लभ है ॥१३॥

कच्चिन्न किञ्चिद्भरते कुमारे प्रियदर्शने ।
शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातृणां वा ममाशुभम् ॥१४॥

अथवा प्रियदर्शन कुमार भरत के वा महापराक्रमी शत्रुघ्न में
या हमारी माताओ मे अथवा मुझमे तो महाराज ने कोई बुराई
नहीं देखी ॥१४॥

अतोपयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः ।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे ॥१५॥

महाराज का कहना न मान कर, उनको असन्तुष्ट एव कुपित
कर, मै एक मुहूर्त भी जीना नहीं चाहता ॥१५॥

यतो मूलं नरः पश्येत्प्रादुर्भावमिहात्मनः ।
कथं तस्मिन्न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥१६॥

क्योकि जिन पिता माता से मनुष्य की उत्पत्ति होती है, उन
प्रत्यक्ष देवताओ की आज्ञा क्यों न मानी जाय ॥१६॥

कच्चित्ते परुषं किञ्चिदभिमानात्पिता मम ।
उक्तो भवत्या कोपेन यत्रास्य लुलितं[1] मनः ॥१७॥

कहीं तुमने तो अभिमान से कोई कठोर वचन महाराज से
नहीं कह दिआ, जिसको सुन, क्रुद्ध होने के कारण, महाराज का
मन बिगड़ गया हो ? ॥१७॥

एतदाचक्ष्व मे देवि तत्वेन परिपृच्छतः ।
किन्निमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे ॥१८॥

हे देवि ! मै जो तुमसे पूछता हूँ, उसको मुझे तू ठीक ठीक
समझा कर कह । महाराज के मन मे इस अपूर्व विकार के उत्पन्न
होने का क्या कारण है ? ॥१८॥

---

१ लुलित—कलुषित । (गो०)

एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना ।
उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः ॥१९॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने कैकेयी से इस प्रकार कहा, तब वह बड़ी बेहया और अपने मतलब मे चौकस कैकेयी, धृष्टतापूर्वक बोली ॥१९॥

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किञ्चन ।
किञ्चिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नाभिभाषते ॥२०॥

हे राम ! न तो राजा तुम पर अप्रसन्न है और न उनके शरीर में कोई पीडा है, किन्तु इनके मन मे तुम्हारे विषय मे एक बात है, जिसे यह तुम्हारे डर से कहते नही ॥२०॥

प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्योपवर्तते ।
तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम ॥२१॥

तुम इनके बड़े प्यारे हो, अत. तुमसे अप्रिय वचन कहने को इनकी वाणी नहीं खुलती, पर तुमको उसके अनुसार, जिसकी इन्होने मुझसे प्रतिज्ञा कर रखी है, कार्य करना उचित है ॥२१॥

एष मह्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च ।
स पश्चात्तप्यते राजा यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा ॥२२॥

पहिले इन्होंने आदर पूर्वक मुझे वर दिया था और उसके लिए अब यह गवारो की तरह सन्ताप कर रहे है ॥२२॥

अतिसृज्य[1] ददामीति वरं मम विशांपतिः ।
स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति ॥२३॥

---

१ अतिसृज्य—प्रतिज्ञाय । (गो०)

मैं वर दूँगा ऐसी प्रतिज्ञा कर पीछे उसका बचाव सोचना वैसा ही है जैसा कि, पानी बह जाने पर उसको रोकने के लिए बाँध बाँधना ॥२३॥

धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि ।
तत्सत्यं न त्यजेद्राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा ॥२४॥

हे राम ! कहीं ऐसा न हो कि, क्रुद्ध हो तुम्हारे लिए महाराज सत्य को त्याग बैठे। क्योंकि महात्माओं का कथन है कि, सत्य ही धर्म की जड है ॥२४॥

यदि तद्वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम् ॥२५॥

अगर तुम यह बात स्वीकार करते हो कि, महाराज उचित अथवा अनुचित जो कुछ कहे, उसे तुम करोगे, तो मैं तुम्हें सब हाल बतला दूँ ॥२५॥

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते ।
ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥२६॥

अथवा यदि महाराज तुमसे स्वय न कहें, तो मैं इनकी ओर से जो कुछ कहूँ, उसे तुम मानो, तो मैं कहने को तैयार हूँ, क्योंकि ये तो तुमसे न कहेंगे ॥२६॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम् ।
उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसन्निधौ ॥२७॥

जब इस प्रकार कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त व्यथित हो, महाराज के पास बैठी हुई कैकेयी से बोले ॥२७॥

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥२८॥

हा ! धिक्कार है ! हे देवि ! तुमको ऐसी बात कहनी उचित नही । मै महाराज के कहने से, और कामो की तो कोई बात ही नही, अग्नि मे गिरनें को तैयार हूँ ॥२८॥

भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेयमपि चार्णवे ।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥२९॥

परम गुरु और हितकारी महाराज पिता जी के कहने से मुझे हेलाहल विष पीना और समुद्र में कूद पड़ना भी स्वीकारहै ॥२९॥

तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम् ।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥३०॥

अतएव हे देवि ! जो कुछ महाराज की इच्छा हो सो तू मुझ से कह । मै प्रतिज्ञा करता हूं कि, मै उनकी आज्ञा का पालन करूँगा । माता ! यह सदा याद रख कि, राम दो प्रकार की बाते कहना नहीं जानता । अथवा राम, जो कहता है वही करता है ॥३०॥

तमार्जवसमायुक्तमनार्या[1] सत्यवादिनम् ।
उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥३१॥

जब सत्यवादी श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसे विनययुक्त वचन कहे, तब सर्वश्रेष्ठा कैकेयी ये अत्यन्त कठोर वचन बोली ॥३१॥

पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव ।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे ॥३२॥

१ अनार्या—सर्वश्रेष्ठा । (शि०)

हे रामचन्द्र ! पूर्वकाल मे जब देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ था, तब उसमे महाराज बाण के लगने से घायल हुए थे। उस समय मैंने इनकी रक्षा की थी। तब इन्होने मुझे दो वर दिए थे ॥३२॥

अत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम् ।
गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव ॥३३॥

उन दो मे से, आज मैंने एक से तो भरत का राज्याभिषेक और दूसरे से आज ही तुम्हारा दण्डकारण्य वन में जाना माँगा है ॥३३॥

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि ।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु ॥३४॥

हे नरश्रेष्ठ ! यदि तुम अपने पिता को और अपने आपको सत्यप्रतिज्ञ बनाए रखना चाहते हो तो, मै जो कहूँ उसे सुनो ॥३४॥

सन्निदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम् ।
त्वयाऽरण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥३५॥

तुम्हारे पिता ने जो कुछ कहा है, उसको मान कर, तुम चौदह वर्ष के लिए वन को चले जाओ ॥३५॥

भरतस्त्वभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम् ।
त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव ॥३६॥

और महाराज ने तुम्हारे अभिषेक के लिए जो यह समस्त सामग्री एकत्र की है, उससे भरत का राज्याभिषेक हो ॥३६॥

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ।
अभिषेकमिमं त्यक्त्वा जटाजिनधरो वस ॥३

तुम इस अभिषेक को त्याग कर और जटा और मृगचर्म धारण कर, चौदह वर्ष दण्डकारण्य में वास करो ॥३७॥

भरतः कोसलपुरे प्रशास्तु वसुधामिमाम् ।
नानारत्नसमाकीर्णां सवाजिरथकुञ्जराम् ॥३८॥

और भरत जी कोसलपुर में रह कर, इस पृथिवी का, जो नाना रत्नों से और हाथी घोड़ों से परिपूर्ण है, शासन करें ॥३८॥

एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः ।
शोकसंक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम् ॥३९॥

यही कारण है कि, महाराज करुणा से परिपूर्ण हैं और शोक से उनका मुख शुष्क हो रहा है और वे तुम्हारी ओर देख भी नहीं सकते ॥३९॥

एतत्कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन ।
सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम् ॥४०॥

हे रघुनन्दन! तुम महाराज का यह कहना मानो और इनकी बात को सत्य कर अर्थात् पूरी कर इनका उद्धार करो ॥४०॥

इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां
न चैव रामः प्रविवेश शोकम् ।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो
राजा तु पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥४१॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

जब कैकेयी ने ऐसे कठोर वचन कहे, तब भी उन्हें सुन कर रामचन्द्र को कुछ भी शोक न हुआ, किन्तु महाराज (जो

हिले ही महादुःखी थे) पुत्र के भावी कष्टों का विचार कर न. सन्तप्त हुए ॥४१॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

एकोनविंशः सर्गः

—:०:—

तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम्।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ॥१॥

शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र, मरण के समान पीड़ादायक कैकेयी के वचन सुन कर, जरा भी दुःखी न हुए और उससे बोले ॥१॥

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः[1]।
जटाजिनधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥२॥

"बहुत अच्छा" महाराज की प्रतिज्ञा पूरी करने को मैं जटा और वल्कल वस्त्र धारण कर, अभी अपने इस नगर से वन को जाऊँगा ॥२॥

इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापुरमरिन्दमः ॥३॥

किन्तु मैं यह अवश्य जानना चाहता हूँ कि, शत्रुहन्ता दुर्धर्ष महाराज पूर्ववत् मुझसे क्यों नहीं बोलते, इसका क्या कारण है? ॥३॥

---

१ इतः—अस्मान्नगरात्। (वि०)

मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः ।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥४॥

हे देवि ! तू रूठ मत । मैं तेरे सामने कहता हूँ कि, मैं जटा वल्कल धारण कर वन को चला जाऊँगा । तू प्रसन्न हो ॥४॥

हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च ।
नियुज्यमानो विस्रब्धः[१] किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥५॥

मेरा हित चाहने वाले गुरु, पिता और कृतज्ञ महाराज मुझे जो आज्ञा दें, उनकी प्रसन्नता के लिए, ऐसा कौन काम है, जिसे मैं निःशङ्क हो न करूँ ? ॥५॥

अलीकं[२] मानसं त्वेकं हृदयं दहतीव मे ।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥६॥

मेरे मन में एक अप्रिय बात जो बुरी तरह खटक रही है, वह यह है कि, महाराज ने मुझसे भरत के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में स्वयं कुछ क्यों नहीं कहा ? ॥६॥

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरतायाप्रचोदितः[३] ॥७॥

महाराज की बात रहने दे, मैं तो तेरे ही कहने से प्रसन्नता पूर्वक भाई भरत को केवल राज्य ही नहीं, बल्कि सीता, अपने प्राण, इष्ट, धन—सब कुछ सहर्ष दे सकता हूँ ॥७॥

---

१ विस्रब्धः—निर्विशङ्कः । (रा०) २ अलीक—अप्रिय । (गो०)
३ प्रचोदितः—त्वयापीतिशेषः । (महेश्वरतीर्थी)

किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः ।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥८॥

फिर महाराज पिता जी की तो बात ही क्या है ! उनके सत्य की रक्षा के लिए और तेरा काम बनाने के लिए तो मैं कोई भी काम करने से मुँह नहीं मोड़ सकता ॥८॥

तदाश्वासय हीमं त्वं किन्विदं यन्महीपतिः ।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥९॥

सो तू ये सब बातें महाराज को समझा दे । मैं देखता हूँ कि पिता जी नीची गर्दन कर बैठे हुए आंसू गिरा रहे हैं ; सो क्या बात है ? ॥९॥

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥१०॥

महाराज की आज्ञा से आज ही दूत शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो, भरत जी को ननिहाल से लिवा लावें ॥१०॥

दण्डकारण्यमेषोऽहमितो गच्छामि सत्वरः ।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा[1] वस्तुं चतुर्दश ॥११॥

और मैं तुरन्त इसी समय, पिता के वचन के सम्बन्ध में युक्तायुक्त विचार किए बिना ही चौदह वर्ष के लिए दण्डकारण्य में वास करने जाता हूँ ॥११॥

सा हृष्टा तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी ।
प्रस्थानं श्रद्दधाना हि त्वरयामास राघवम् ॥१२॥

---

१ समा संवत्सरान् । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन और प्रसन्न हो रानी कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र जी का वन जाना निश्चय जाना, और वन जाने के लिए वह जल्दी मचाने लगी ॥१२॥

एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादुपावर्तयितुं नराः ॥१३॥

और बोली कि, बहुत अच्छा, अभी दूत शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो जाते हैं और भरत को मामा के घर से लिवाए लाते हैं ॥१३॥

तव त्वहं क्षमं[1] मन्ये नोत्सुकस्य[2] विलम्बनम् ।
राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥१४॥

हे राम! तुम वन जाने को उत्सुक हो तो, वन जाने में विलम्ब करना अच्छा नहीं। अत: तुम शीघ्र वन की यात्र करो ॥१४॥

व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते ।
नैतत्किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥१५॥

और महाराज स्वय तुमसे वन जाने के लिए जो नहीं कर रहे हैं, सो इसका और कोई कारण नहीं, इसका कारण केवल लज्जा है। सो यह कुछ भी बात नहीं—इसका तुम जरा भी विचार मत करो ॥१५॥

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादभित्वरन् ।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा ॥१६॥

---

१ क्षमम—युक्तम् । (रा०) २ उत्सुकस्य—वनगमनोत्सुकस्य । (रा०)

हे राम! जब तक तुम इस नगर से वन जाने के लिए प्रस्थान न करोगे, तब तक महाराज न स्नान करेंगे और न भोजन ही करेंगे ॥१६॥

धिक्कष्टमिति निश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः ।
मूर्छितो न्यपतत्तस्मिन् पर्यङ्के हेमभूषिते ॥१७॥

कैकेयी के इन वचनों को सुन महाराज हा धिक्! कह और अत्यन्त शोकपीडित हो तथा दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए एवं मूर्छित हो, सोने के पलग पर गिर पड़े ॥१७॥

रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेय्याऽभिप्रचोदितः ।
कशयेवाहतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥१८॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने महाराज को उठाया और कैकेयी के कथन से प्रेरित हो चाबुक से पीटे हुए घोड़े की तरह, वन जाने को जल्दी करने लगे ॥१८॥

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोपमम् ।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ।

यद्यपि उस दुष्टा का वह वचन अत्यन्त कठोर था, तथापि श्रीरामचन्द्र जी को उसके उस वचन से कुछ भी कष्ट न हुआ। वे कैकेयी से बोले ॥१६॥

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं केवलं धर्ममास्थितम् ॥२०॥

हे देवि! मैं धन के लोभ से राज्य पाने की कामना नहीं करता। मैं तो राज्य की कामना केवल कर्त्तव्यपालन के लिए करता था। मुझे तो तू केवल धर्माश्रित ऋषियों के तुल्य जान।

अर्थात् जिस प्रकार ऋषि अपने जीवन का लक्ष्य केवल धर्मपालन समझते हैं, उसी प्रकार मेरा भी लक्ष्य इस संसार में केवल धर्म का पालन करना है ॥२०॥

यदत्रभवतः किञ्चिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया ।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥२१॥

यदि मैं अपने प्राण दे कर भी पिता जी का कोई हितसाधन कर सकूँ, तो समझ लें वह कार्य हुआ ही रखा है । अर्थात् पिता जी के प्रसन्न करने के लिए मैं प्राण भी दे सकता हूँ—वन जाना तो मेरे लिए कोई बड़ी बात ही नहीं ॥२१॥

न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥२२॥

क्योंकि, पिता की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करने से बढ़ कर, संसार में दूसरा कोई धर्माचरण है ही नहीं ॥२२॥

अनुक्तोऽप्यत्रभवता भवत्या वचनादहम् ।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥२३॥

महाराज यदि मुझसे न भी कहेंगे, तो भी मैं, तेरे ही कहने से जनशून्य वन मे चौदह वर्ष वास करूँगा ॥२३॥

न नूनं मयि कैकेयि किञ्चिदाशंससे गुणम् ।
यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा[1] सती ॥२४॥

हे सती ! मेरी अधीश्वरी हो कर भी निश्चय तू मेरे स्वभाव को न जान पाई । यदि जानती होती तो ऐसी तुच्छ बात पिता जी से न कहती ॥२४॥

---

१ ईश्वरतरा—अत्यन्त नियन्त्री । (गो०)

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् ।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद्वनम् ॥२५॥

अच्छा, जो हुआ सो हुआ, मेरे दण्डकारण्य वन जाने मे अब इतना ही विलब है कि, मै जा कर माता कौसल्या से पूँछ आऊँ और सीता को समझा आऊँ,॥२५॥

भरतः पालयेद्राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा ।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥२६॥

परन्तु तू ऐसा करना जिससे भरत अच्छी तरह राज्य करे और पिता की सेवा शुश्रूषा करे। क्योंकि पुत्र के लिए यही सनातन धर्म है ॥२६॥

स रामस्य वचः श्रुत्वा भृशं दुःखहतः पिता ।
शोकादशक्नुवन्बाष्पं प्ररुरोद महास्वनम् ॥२७॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हुए। उनसे बोला तो कुछ गया नहीं, किन्तु शोक से अधीर हो, ढाड मार कर रोने लगे ॥२७।

वन्दित्वा चरणौ रामो विसंज्ञस्य पितुस्तदा ।
कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात[1] महाद्युतिः ॥२८॥

तब महाद्युतिमान श्रीरामचन्द्र जी ने मूर्छित पिता के व दुष्टा कैकेयी के चरणो मे प्रणाम किआ और वहाँ से चल दिए ॥२८॥

स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम् ।
निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मात्स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥२९॥

---

[1] निष्पपात—निर्जगाम । (गो०)

(चलने के पूर्व) श्रीरामचन्द्र जी ने उन दोनो की परिक्रमा भी की और तदनन्तर अन्त पुर से वाहिर निकल, अपने इष्टमित्रो को देखा ॥२९॥

तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनु जगाम ह ।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥३०॥

श्रीरामचन्द्र के पीछे पीछे नेत्रो मे आँसू भरे और अत्यन्त क्रुद्ध सुमित्रा के आनन्द को वढ़ाने वाले लक्ष्मण जी भी चले ॥३०॥

[टिप्पणी—टीकाकारों का मत है कि, लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के साथ अन्तःपुर मे गए थे और शयनागार के वाहिर खडे रह कर, उन्होंने वे सव वातें सुनी थी, जो वहाँ कैकेयी और श्रीरामचन्द्र के बीच हुई थी। मूल मे इसका उल्लेख कहीं भी नहीं है तो भी उक्त श्लोक से यह वात सिद्ध है।]

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम् ।
शनैर्जगाम सापेक्षो[1] दृष्टिं[2] तत्राविचालयन् ॥३१॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अभिषेक की सामग्री की प्रदक्षिणा की और प्रार्थना की कि, इससे भरत जी का अभिषेक हो तथा उसकी ओर से अपनी निरपेक्षता प्रकट करने को पुनः उसकी ओर न देख, वे वहाँ से धीरे धीरे रवाना हुए ॥३१॥

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति ।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षपा ॥३२॥

राज्याभिषेक न होने से श्रीरामचन्द्र की मुखद्युति मे तिल भर भी अन्तर न पड़ा। वह जैसे पूर्व थे वैसे ही कान्तिमान वने

१ सापेक्ष.—भरतस्यानेनाभिषेकोऽस्त्विति प्रार्थनासहितः। (गो०)
२ दृष्टिं तत्राविचालयन्—स्वयं तत्र निरपेक्ष इत्यर्थः। (गो०)

रहे। क्योंकि उनमें तो स्वाभाविक कान्ति थी। जैसे कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की कान्ति, नित्य क्षीण होने पर भी, नहीं घटती ॥३२॥

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव[1] लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥३३॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी अखिल पृथिवी का राज्य छोड़ कर, वन जा रहे थे, तथापि महायोगीश्वर की तरह, उनके मन में किसी प्रकार का विकार किसी को न देख पड़ा ॥३३॥

प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलङ्कृते।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस शुभ छत्र और बढ़िया चँवर वहीं छोड़े। फिर रथ को तथा अपने इष्टमित्रो, पुरवासियों एवं बाहिर के लोगो को भी वहीं से विदा कर ॥३४॥

धारयन्मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च।
प्रविवेशात्मवान्वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥३५॥

और उनके दुःख को अपने मन मे रख और अपनी इन्द्रियों, को अपने वश मे कर, वह अप्रिय सवाद सुनाने के लिए, अपनी माता के घर गए ॥३५॥

सर्वो ह्यभिजनः श्रीमान्[2] श्रीमतःसत्यवादिनः।
नालक्षयत रामस्य किञ्चिदाकारमानने ॥३६॥

श्रीरामचन्द्र जी के समीपस्थ लोगों ने भी, सत्यवादी श्रीरामचन्द्र के उस शारीरिक शृङ्गार मे जो उन्होने अभिषेकार्थ किया

१ सर्वलोकातिगस्य—तुल्यमानावमानस्य परम योगीश्वरस्येत्यर्थः। (गो०) २ श्रीमान्—रामाभिषेकार्थं कृतालङ्कारः। (गो०)

था, कुछ भी अन्तर न पाया और न उनके मन ही में किसी प्रकार की उदासी देख पड़ी ॥३६॥

उचितं[1] च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान् ।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रतेज इवात्मजम् ॥३७॥

जिस प्रकार शरद्कालीन चन्द्रमा अपनी प्रभा को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार महाबाहु श्रीरामचन्द्र ने अपने स्वाभाविक हर्ष को न छोड़ा ॥३७॥

वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम् ।
मातुः समीपं धर्मात्मा* प्रविवेश महायशाः ॥३८॥

जो लोग इधर उधर खड़े थे, उन सब का मधुरवाणी से सत्कार कर, महायशस्वी धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी माता कौसल्या के पास पहुँचे ॥३८॥

तं गुणैः[2] समतां[3] प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः ।
सौमित्रिरनुवव्राज धारयन्दुःखमात्मजम् ॥३९॥

महापराक्रमी लक्ष्मण जी भी, जो श्रीरामचन्द्र के सुख दुःख में उनके समान ही सुखी दुःखी होने वाले थे, भाई के दुःख को अपने मन में रखे हुए, उनके पीछे पीछे गए ॥३९॥

प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदाऽन्वितं
समीक्ष्य तां चार्थविपत्ति[4]मागतम् ।

---

१ उचितं—सहजं । (गो०) २ गुणैः—सुखदुःखादिभिः । (गो०) ३ समता प्राप्तः—समान सुख दुःखः । (गो०) ४ अर्थविपत्ति—अर्थनाश । (गो०) * पाठान्तरे " धीरात्मा । "

न चैव रामोत्र जगाम विक्रियां
सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया[1] ॥४०॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

अपनी माता के अर्थ और अपने सुहृज्जनों के प्राण के नाश ो आशंका उपस्थित होने पर भी, श्रीरामचन्द्र के मन मे जरा भी वकार उत्पन्न न हुआ। वे अत्यन्त प्रसन्न होते हुए, अपनी माता के घर पहुँचे ॥४०॥

अयोध्याकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—.०.—

विंशः सर्गः

—:०:—

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ।
आर्तशब्दो महाञ्जज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा ॥१॥

पुरुषव्याघ्र श्रीरामचन्द्र जी को विदा माँगने के लिए हाथ जोड़े हुए, महाराज के अन्तःपुर से बाहिर आते देख, रनवास की स्त्रियों में हाहाकार मच गया ॥१॥

कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च।
गतिर्यः शरणं चापि स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥२॥

वे रोरो कर कहने लगीं, श्रीरामचन्द्र पिता की प्रेरणा हुए विना ही दासों और दासियो समेत सब अन्तःपुरवासियो की सब

१ आत्मविपत्तिशङ्कया—प्राणनाशशङ्कया। (गो०)

अभिलाषाएँ पूरी कर दिया करते हैं और जो हम लोगों के एक मात्र अवलंब हैं—वे ही श्रीरामचन्द्र आज वन जा रहे हैं ॥२॥

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा ।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥३॥

जो श्रीरामचन्द्र, जन्म ही से अपनी जननी कौसल्या की तरह हम सब को मानते चले आते है ॥३॥

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥४॥

और जो कठोर वचन कहने पर भी कभी कुपित नहीं होते और न स्वयं किसी को कुपित करते है, प्रत्युत कुपित को भी प्रसन्न कर लिया करते हैं, वे ही श्रीरामचन्द्र आज वन जा रहे हैं ॥४॥

अबुद्धिर्बत नो राजा जीवलोकं चरत्ययम्[1] ।
यो गतिं सर्वलोकानां परित्यजति राघवम् ॥५॥

जो सब प्राणियो के एक मात्र सहारे है, उन्हीं श्रीरामचन्द्र को वनवास दे, महाराज एक अनाड़ी की तरह प्रजा का नाश करने पर उतारू हैं ॥५॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।
पतिमाचुक्रुशुश्चैव सस्वरं चापि चुक्रुशुः ॥६॥

इस प्रकार वे सब अन्तःपुरवासिनी महाराज दशरथ की रानियाँ वत्सरहित गौ की तरह, पति की निन्दा करती हुई उच्च स्वर से रोने लगीं ॥६॥

---

१ चरति—भक्षयति, नाशयतीति । (गो०)

स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तः श्रुत्वा व्यालीयता[1]सने ॥७॥

उस समय महाराज दशरथ, जो पहले ही पुत्रशोक से सन्तप्त रहे थे, रानियों के आर्तनाद को सुन लज्जा और दुःख के मारे लग पर गिर पड़े ॥७॥

रामस्तु भृशमायस्तो निश्वसन्निव कुञ्जरः ।
जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी ॥८॥

उधर जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्र जी स्वजनो को इस प्रकार दुःखी देख और स्वय दुःखी हो, हाथी की तरह फुँसकार मारते, लक्ष्मण सहित माता के भवन में पहुँचे ॥८॥

सोपश्यत्पुरुषं[2] तत्र वृद्धं परमपूजितम् ।
उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान्बहून् ॥९॥

उन्होंने पहिली ड्योढ़ी पर बैठे हुए आदरणीय वृद्ध द्वारपालाध्यक्ष को तथा उसके नीचे काम करने वाले अनेक और लोगों को भी वहाँ देखा ॥९॥

दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे सहसोत्थिताः ।
जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥१०॥

वे सब के सब श्रीरामचन्द्र जी को देख उठ खड़े हुए और जयजयकार कर उनको आशीर्वाद दिया ॥१०॥

---

१ व्यालीयत—लज्जा-दुःखभरेणशय्यायां विलीनोभूत् । (गो०)
२ पुरुषम्—द्वारपालाध्यक्षम् । (गो०)

प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः ।
ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् वृद्धान् राज्ञाभिसत्कृतान् ॥११॥

पहली ड्योढ़ी पार कर श्रीरामचन्द्र जी दूसरी ड्योढ़ी पर पहुँचे और वहाँ पर उन्होने उन वृद्ध ब्राह्मणों को देखा, जो वेदविद्या जानने वाले होने के कारण राजसन्मानित थे ॥११॥

प्रणम्य रामस्तान् वृद्धांस्तृतीयायां ददर्श सः ।
स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च द्वाररक्षणतत्पराः ॥१२॥

उन वृद्ध ब्राह्मणो को प्रणाम कर श्रीरामचन्द्रजी तीसरी ड्योढ़ी पर पहुँचे । तीसरी ड्योढ़ी पर देखा कि स्त्रियाँ, बूढ़े लोग और बालक पहरा दे रहे हैं ॥ १२ ॥

[टिप्पणी—तीसरी ड्योढी पर स्त्रियों वृद्धजनों तथा बालकों का पहरे पर नियुक्त किया जाना बड़ी दूरदर्शिता भरा काम था ।]

वर्धयित्वा[१] प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः ।
न्यवेदयन्त त्वरिता राममातुः प्रियं तदा ॥१३॥

वहाँ की स्त्रियो ने आशीर्वाद दिया और प्रसन्न हो तुरन्त भीतर जा कौसल्या जी को श्रीरामचन्द्र जी के आने का आनन्ददायी सवाद सुनाया ॥१३॥

कौसल्याऽपि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता ।
प्रभाते त्वकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ॥१४॥

उस समय महारानी कौसल्या जी, रात्रि भर नियमपूर्वक रह, प्रातःकाल पुत्र की हितकामना से विष्णु भगवान् का पूजन कर रही थीं ॥१४॥

---

१ वर्धयित्वा—जयाशिषैतिशेष. । (गो०)

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा ।
अग्निं जुहोति[1] स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला ॥१५॥

और वे रेशमी साड़ी पहिन, मङ्गलाचारपूर्वक हर्षित हो मंत्रों से हवन करवा रही थीं ॥१५॥

प्रविश्य च तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम् ।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ॥१६॥

उसी समय श्रीरामचन्द्र जी माता के पास पहुँच गए और उन्होंने देखा कि, वे हवन करवा रही हैं ॥१६॥

देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत्समुद्यतम् ।
दध्यक्षतं घृतं चैव मोदकान् हविषस्तथा ॥१७॥

श्रीरामचन्द्र जी ने यह भी देखा कि, देवताओं की पूजा के लिए दही चावल, घी, लड्डू, खीर तैयार है ॥१७॥

लाजान् माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं[2] तथा ।
समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥१८॥

और वहाँ लावा, सफेद पुष्पों की माला, तिल, चावल, (तिल और जौ की) खिचड़ी, खीर, समिधा और जल से भरे कलश रखे हैं ॥१८॥

तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्शिताम् ।
तर्पयन्तीं[3] ददर्शाद्भिर्देवतां देववर्णिनीम् ॥१९॥

---

१ जुहोति—हावयति । अतएव " हावयन्तीं " मितिवक्ष्यति । (गो०)
२ कृसरं—तिलोदनं । (गो०) ३ तर्पयन्तीं—प्रीणयन्तीं । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी ने सफेद वस्त्र पहिने हुए और बहुत दिनों से व्रत करने के कारण कृश शरीर, देवताओं को प्रसन्न करती हुई तथा गौराङ्गी कौसल्या को देखा ॥१९॥

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम् ।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं बडवा यथा ॥२०॥

वे बहुत काल बाद, पुत्र को अपने घर में आते देखते ही, छोटे बच्चे वाली घोड़ी की तरह हो, श्रीरामचन्द्र जी की ओर चली आई ॥२०॥

स मातरमभिक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः ॥२१॥
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामुपाघ्रातश्च मूर्धनि ।
तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः ॥२२॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जब उनको प्रणाम किया तब उन्होने उनके दोनो हाथ पकड़, उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और सिर सूँघा । तदनन्तर वे अपने दुराधर्ष पुत्र श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥२१॥२२॥

कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ।
वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम् ॥२३॥

कौसल्या ने पुत्रवत्सलता से प्रेरित हो, यह प्यारा और हितकर वचन कहा । हे बेटा ! तुम धर्मात्मा, वृद्ध, महात्मा राजर्षियों के समान ॥२३॥

प्राप्नुह्यायुश्च कीर्त्तिं च धर्मं चोपहितं कुले ।
सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव ॥२४॥

कुलोचित आयु, कीर्ति को प्राप्त हो और कुलोचित धर्म (कर्त्तव्य) पालन में सदा निरत रहो। हे राघव ! तुम अब सत्य-प्रतिज्ञ महाराज के (जाकर) दर्शन करो ॥२४॥

अद्यैव हि त्वां धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ।
दत्तमासनमालभ्य[1]भोजनेन निमन्त्रितः ॥२५॥

क्योंकि वे तुम्हारा आज यौवराज्यपद पर अभिषेक करेंगे। बैठकर भोजन करने के लिए जब कौसल्या जी ने आसन दिया, तब उसे छू कर ॥२५॥

मातरं राघवः किञ्चिद्व्रीडात्प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तदा नतः ॥२६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी मन में सकुचाते हुए हाथ जोड़ कर बोले। श्रीरामचन्द्र जी स्वभाव ही से विनम्र थे, तिस पर इस समय तो वे और भी अधिक नम्र हो माता के गौरव की रक्षा करते हुए बोले ॥२६॥

प्रस्थितो दण्डकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे ।
देवि नूनं न जानीषे महद्भयमुपस्थितम् ॥२७॥

हे देवि ! मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ सो जाने की आज्ञा माँगने आपके पास आया हूँ। हे माता ! निश्चय ही उपस्थित महाभय तुझे मालूम नहीं है ॥२७॥

इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च ।
गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे ॥२८॥

---

१ आलभ्य—स्पृष्ट्वा। (गो०)

यह तेरे लिए, वैदेही के लिए और लक्ष्मण के लिए दुःख-दायक समय आ पहुँचा है। मै अब दण्डकारण्य जा रहा हूँ—अतः अब इस आसन पर बैठ कर क्या करूँगा ? ॥२८॥

विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ।
चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ॥२९॥

अब तो मेरे लिए कुशासन पर बैठने का समय आ गया है। मुझे चौदह वर्षो तक घोर वन में वास करना पड़ेगा ॥२९॥

मधुमूलफलैर्जीवन्हित्वा मुनिवदामिषम् ।
भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति ॥३०॥

अब तो मुनिजन कथित (वर्णित) माँसादिक भोजन को छोड़ मधु कन्दमूल फल आदि मेरे भोजन के पदार्थ हैं। महाराज ने भरत जी को यौवराज्य पद दिआ है अथवा अब मुझे राजोचित राजस भोजन का परित्याग कर मुनिजनोचित कन्दमूल फल का भक्षण कर वन मे रहना होगा। यौवराज्यपद महाराज अब भरत को प्रदान करेगे ॥३०॥

मां पुनर्दण्डकारण्ये विवासयति तापसम् ।
स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ॥३१॥

और मुझे तपस्वी के भेष में वन मे रहने की आज्ञा दी है। अतः अब मै चौदह वर्षो तक विजन वन में जाकर रहूँगा ॥३१॥

आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ।
सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः[1] परशुना वने ॥३२॥

---

१ यष्टि—शाखा। (रा०)

और वहाँ जंगली कन्दमूल फल का सेवन कर अर्थात् खा कर, वास करूँगा। श्रीरामचन्द्रजी के इन वचनों को सुन, कुल्हाड़ी से काटी हुई साल वृक्ष की डाली की तरह ॥३२॥

पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ।
तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव ॥३३॥

देवी कौसल्या अचानक भूमि पर गिर पड़ी—मानो स्वर्ग से कोई देवता गिरा हो। केले के पेड़ की तरह जमीन पर पड़ी और दुःख सहने के लिए अनुपयुक्त ॥३३॥

रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम् ।
उपावृत्त्योत्थितां दीनां बडवामिव वाहिताम् ॥३४॥
पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना ।
सा राघवमुपासीन[1] मसुखार्ता सुखोचिता ॥३५॥

मूर्छित माता कौसल्या को श्रीरामचन्द्र जी ने झट उठाकर बैठाया। थकावट मिटाने के लिए जिस प्रकार घोड़ी जमीन पर लोटती है और उसके सारे शरीर मे धूल लग जाती है, उसी प्रकार कौसल्या जी के शरीर में भी धूल लग गई थी। श्रीरामचन्द्र जी ने उस धूल को अपने हाथ से पोंछा। जो कौसल्या सुख पाने के योग्य थीं, वे श्रीरामचन्द्र जी के पास बैठी हुई, दुःखित हो ॥३४॥ ३५॥

उवाच पुरुषव्याघ्रमुपशृण्वति लक्ष्मणे ।
यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव ॥३६॥

---

१ उपासीन—समीपस्थित। (वि०)

लक्ष्मण जी के सामने श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं—हे वत्स राम! यदि तुम मेरे गर्भ से उत्पन्न न हुए होते, तो सन्ततिहीन होने की ग्लानि ही मन में रहती, किन्तु यह दुःख तो मुझे न होता ॥३६॥

न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः।
एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः ॥३७॥

यदि मैं वन्ध्या रहती, तो उस दशा में मुझे इतने दुख न होते। क्योंकि वन्ध्या रहने पर मन मे केवल एक वन्ध्या होने ही का दुःख होता ॥३७॥

अप्रजाऽस्मीति सन्तापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते।
न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे ॥३८॥

उसे (वन्ध्या को) और दूसरा कोई दुःख नहीं होता। हे बेटा! पति के होने से सौभाग्यवती स्त्रियों को जो सुख हुआ करता है, मेरे भाग्य में वह भी नहीं रहा ॥३८॥

अपि पुत्रे तु पश्येयमिति रामास्थितं मया।
सा बहून्य[१] मनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ॥३९॥

किन्तु मुझे यह आशा थी कि, पुत्र होने पर मुझे सुख मिलेगा, सो वह भी पूरी न हुई, अब तो मुझे हृदयविदीर्ण करने वाले कठोर वचन, ॥३९॥

अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां वरा सती।
अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति ॥४०॥

---

१ अमनोज्ञानि—परुषाणि। (गो०) २ अवराणां—कनिष्ठानां। (गो०)

अपनी छोटी सौतों के सुनने पड़ेंगे और पटरानी होने पर भी, मुझे अनादर सहना पड़ेगा। स्त्रियो के लिए इससे बढ़ कर दुःख और कौनसा होगा? ॥४०॥

मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः[१]।
त्वयि सन्निहितेऽप्येवमहमासं निराकृता ॥४१॥

जैसा कि मेरे सामने इस समय यह अपार शोक और विलाप उपस्थित हुआ है। देखो न! तेरे रहते तो मेरा अपमान होता ही था ॥४१॥

किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव मे।
अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यममन्त्रिता* ॥४२॥

और जब तू वन चला जायगा, तब बेटा! अवश्य ही मेरा मरण होगा। पति की प्यारी होने से, मैंने कितनी ही लाञ्छनाएँ सही हैं ॥४२॥

परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवा वरा।
यो हि मां सेवते कश्चिदथवाप्यनुवर्तते ॥४३॥

कैकेयी की सेवा शुश्रूषा में उद्यत रहने पर भी, कैकेयी की दासी के बराबर भी तो मेरी पूँछ नहीं है। यही क्यो, मै तो उसकी दासी से भी गई बीती समझी जाती हूँ। इस समय जो लोग मेरे पक्ष मे हैं, या मेरी सेवा करते है ॥४३॥

कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते।
नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि[२] तत् ॥४४॥

---

१ अनन्तकः—दुष्पार। (गो०) २ खरवादि—परुषवचनशील। (गो०)
* पाठान्तरे—"असम्मता"

वे जब देखेंगे कि, कैकेयी के पुत्र भरत युवराज हैं, तब वे मुझ से बोलेंगे भी नहीं। क्योंकर सदा क्रोधयुक्त और कठोर वचन बोलने वाली ॥४४॥

कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता[१] ।
दश सप्त च वर्षाणि तव जातस्य[२] राघव ॥४५॥

कैकेयी का मुख मैं विपत की मारी देख सकूँगी। हे राम! यज्ञोपवीत हो चुकने के समय से आज १७ वर्ष बीते ॥४५॥

आसितानि प्रकाङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम् ।
तदक्षयं महद्दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरम् ॥४६॥

मैं इतने दिनों से यही आशा लगाए थी कि, जब तू राजगद्दी पर बैठेगा, तब मेरे दुःखो का अन्त होगा, किन्तु वह न हो कर अब मुझे अपार दुःखों का सामना करना पड़ेगा। अब मैं इस अक्षय्य दुःखो को बहुत दिनों तक न सह सकूँगी ॥४६॥

विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव ।
अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम् ॥४७॥
कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविकाम् ।
उपवासैश्च योगैश्च[३] बहुभिश्च परिश्रमैः[४] ।
दुःखं संवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया ॥४८॥

---

१ दुर्गता—दुर्दशामापन्ना। (रा०) २ जातस्य—उपनयनकृतंतदनन्तरसप्तदशवर्षाणिजातानि। (वि०) ३ योगैः—देवताध्यानैः। (गो०) ४ परिश्रमैः—व्रतैः (गो०)।

हे राम! मुझसे इस बुढापे में सौतो का अनादर न सहा जायगा। हे वत्स! पूर्णिमा के चन्द्र के समान तेरा मुखचन्द्र न देख, मैं दीन दुखिया किस प्रकार यह दीन जीवन बिताऊँगी। मैंने बड़े बड़े उपवास, देवताओं को मानमनौती और व्रत करके तुझको लालन पालन कर, इतना बड़ा किया है। सो मुझ अभागी का सब करना वृथा ही हुआ ॥४७॥४८॥

स्थिरं तु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते ।
प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा ॥५६॥

मेरा हृदय बड़ा कठोर है, जो (ऐसे दुःख से भी) नहीं फट जाता। जैसे वर्षाकाल में नदी का गर्भ (फॉट) नवीन जल से भरने पर भी नहीं फटता ॥४६॥

ममैव नूनं मरणं न विद्यते
न चावकाशोस्ति यमक्षये मम ।
यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति
प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव ॥५०॥

मैं समझती हूँ, मृत्यु मुझे भूल गई और यमराज के यहाँ भी मेरे लिए जगह नहीं रही। यदि ऐसा न होता तो, जिस प्रकार सिंह रोती हुई हिरनी को बरजोरी पकड़ ले जाता है, उसी प्रकार क्या यमराज मुझे भी पकड़ कर अभी न ले जाते ॥५०॥

स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं
न भिद्यते यद्भुवि नावदीर्यते ।
अनेन दुःखेन च देहमर्पितं
ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते ॥५१॥

अवश्य ही मेरा हृदय लोहे जैसा कठोर है, जो ऐसा दुःख पड़ने पर भी नहीं फटता और न पृथिवी ही फटती है, जिससे मैं उसमें समा जाऊँ। इससे जान पड़ता है कि, बिना मरने का समय आए, कोई मरना भी चाहे, तो मर नहीं सकता ॥५१॥

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे
व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि ।
तपश्च तप्तं यदपत्यकारणा-
त्सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे ॥५२॥

मेरे अनुष्ठित व्रत, दान, संयम और तपस्या—जो मैंने सन्तान के मङ्गल के लिए किए थे—उसी प्रकार निष्फल हो गए, जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोए हुए बीज व्यर्थ हो जाते हैं ॥५२॥

यदि ह्यकाले मरणं स्वयेच्छया
लभेत कश्चिद्गुरुदुःखकर्शितः ।
गताऽहमद्यैव परेतसंसदं[१]
विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ॥५३॥

महादुःख पड़ने पर यदि मुँहमाँगी मौत मिल जाती, तो मैं तेरे वियोग में बिना बछड़े की गौ की तरह—अपने प्राण दे कर, यमराज के घर पहुँच गई होती ॥५३॥

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा
त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः
सुदुर्बला वत्समिवानुकाङ्क्षया ॥५४॥

१ परेतसंसद—यमसभाम्। (रा०)

हे चन्द्रमुख बेटा! अब तो मेरा जीना ही वृथा है। जिस प्रकार दुर्बल गौ अपने बछड़े के साथ जाती है, उसी प्रकार मैं भी तेरे साथ वन चलूँगी ॥५४॥

भृशमसुखममर्षिता[1] तदा
बहु विललाप समीक्ष्य राघवम्।
व्यसनमुपनिशाम्य[2] सा मह-
त्सुतमिव बद्धमवेक्ष्य किन्नरी ॥५५॥

इति विंशः सर्गः ॥

महान् दुःख सहने में असमर्थ, रामजननी कौसल्या, श्रीराम को सत्य वचन मे बँधा हुआ देख और अपने को अभागिनी जान वैसे ही विलाप करने लगी, जैसे अपने पुत्र को बँधा देख, किन्नरी विलाप करती है ॥५५॥

अयोध्याकाण्ड का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

एकविंशः सर्गः

—:०:—

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम्।
उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः ॥१॥

इस प्रकार विलाप करती हुई कौसल्या जी से, लक्ष्मण जी दुःखी हो, समयोचित वचन बोले ॥१॥

---

१ अमर्षिता—सोढुमशक्ता। (गो०) २ उपनिशाम्य—आलोच्य। (गो०)

न रोचते ममाप्येतदार्ये यद्राघवो वनम् ।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत्स्त्रिया वाक्यवशं गतः ॥२॥

हे माता ! मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती कि, स्त्री के वशवर्ती महाराज के कहने से, राजलक्ष्मी को छोड़, श्रीरामचन्द्र जी वन में चले जाँय ॥२॥

विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः ।
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः ॥३॥

अति वृद्ध होने के कारण महाराज की बुद्धि बिगड़ गई है और इस बुढ़ापे में भी वे विषयवासना में ऐसे फँसे हैं, जिसक कुछ ठीक ठौर नहीं। वे काम के वशीभूत हो, जो न कहें सो थोड़ा है ॥३॥

नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम् ।
येन निर्वास्यते राष्ट्राद्वनवासाय राघवः ॥४॥

मुझे तो श्रीरामचन्द्र का कोई अपराध या दोष ऐसा नहीं देख पड़ता, जिसके कारण वे राज्य से वहिष्कृत किए जाने योग्य समझे जायँ ॥४॥

न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः ।
स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योऽस्य दोषमुदाहरेत् ॥५॥

ऐसा कोई मित्र या शत्रु भी मुझे नही देख पड़ता, जो पीछे भी श्रीरामचन्द्र जी को दोषयुक्त बतला सके ॥५॥

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम् ।
अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत्पुत्रमकारणात् ॥६॥

इस प्रकार के देवतुल्य, सीधे, संयमी और शत्रुओं पर भी कृपा करने वाले, पुत्र को पा कर अकारण कौन धर्मात्मा पिता त्यागेगा ॥६॥

तद्विदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः ।
पुत्रः को हृदये कुर्याद्राजवृत्त[1]मनुस्मरन् ॥७॥

ऐसी लड़कबुद्धि रखने वाले राजा का कहना, राजनीति जानने वाला कोई भी पुत्र कभी न मानेगा ॥७॥

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः ।
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम् ॥८॥

[तदनन्तर लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी को सम्बोधन कर यह कहा।]

हे भाई! लोगों में इस जनश्रुति के फैलने के पूर्व ही, आप इस राज्य को अपने अधीन कर लें। मैं इस काम में आपको सहायता दूँगा ॥८॥

मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव ।
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः ॥९॥

हे राघव! जब कि मैं काल की तरह हाथ में धनुष लिये हुए आपकी रक्षा करता हुआ, आपके निकट खड़ा हूँ, तब किस की मजाल है, जो आँख उठा कर भी आपकी ओर देख सके ॥९॥

निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये ॥१०॥

फिर एक दो की तो बिसात ही क्या, यदि सारे के सारे अयोध्यावासी मिल कर भी इस कार्य में विघ्न डालें, तो मैं

१—राजवृत्त—राजनीतिम्। (गो०)

अपने तीक्ष्ण बाणों से इस अयोध्या को मनुष्य शून्य कर दूँगा ॥१०॥

भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वाऽस्य हितमिच्छति ।
सर्वानेतान्वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते ॥११॥

भरत के पक्षपाती या उनके हितैषी जो होगे, उनमें से एक को भी जीता न छोड़ूँगा—सभी को मार डालूँगा। क्योंकि जो लोग सीधे होते हैं, लोग उन्हीं को दबाते हैं ॥११॥

प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या स दुष्टो यदि नः पिता ।
अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां वध्यतामपि ॥१२॥

यदि कैकेयी के उभाड़ने से हमारे दुष्ट पिता हमारे शत्रु बन जाँय, तो अवध्य होने पर भी, उनको निःशङ्क हो, मार डालना चाहिये ॥१२॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥१३॥

यदि गुरु भी करने अनकरने सभी काम कर उठे और अहङ्कार वश बुरे रास्ते पर चलने लगे, तो उसको भी दण्ड देना अनुचित नहीं है ॥१३॥

[टिप्पणी—क्रोधन स्वभाव लक्ष्मण के मुख से यह उक्ति क्रोध के आवेश में निकली थी। वास्तव में ऐसा कहना एक पिता के प्रति एक पुत्र को उचित नहीं है।]

बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषर्षभ ।
दातुमिच्छति कैकेय्यै राज्यं स्थितमिदं तव ॥१४॥

राजा किस बलबूते पर या किस हेतु से, ज्येष्ठा रानी के पुत्र के विद्यमान रहते, न्याय से तुम्हें प्राप्त यह राज्य, कैकेयी के पुत्र को दे सकते हैं? ॥१४॥

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमन ।
काऽस्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिनाशन ॥१५॥

हे शत्रुओं के मारने वाले ! आपसे या हमसे वैर कर, किसकी मजाल है, जो भरत को राज्य दे सके ॥१५॥

[लक्ष्मण जी पुनः कौसल्या जी से कहने लगे ।]

अनुरक्तोस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेन[1]ष्टेन[2] ते शपे ॥१६॥

हे देवि ! मैं सत्य की, धनुष की, अपने दान की तथा देवार्चनादि (करके जो पुण्य सञ्चय किया है उस) की शपथ खा कर, कहता हूँ कि, मैं श्रीरामचन्द्र के सब प्रकार से अधीन हूँ। अर्थात् मेरी उनसे सच्ची प्रीति है ॥ १६ ॥

दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।
प्रविष्ट तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥१७॥

हे देवि ! श्रीरामचन्द्र यदि जलती हुई आग में अथवा वन में, जहाँ कहीं भी प्रवेश करेंगे, वहाँ मुझे तू पहले ही से विद्यमान देखेगी ॥ १७ ॥

हरामि वीर्याद्दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः ।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥१८॥

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से अँधकार को नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार आप और भाई श्रीरामचन्द्र देखते रहैं, मैं आपके सारे दुखों को अपने पराक्रम से अभी नष्ट किए डालता हूँ ॥१८॥

---

१ दत्तेन—दानेन । २ इष्टेन—देवार्चनादिना । (गो०)

हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम् ।
कृपणं चास्थिरं *बालं वृद्धभावेन गर्हितम् ॥१९॥

कैकेयी के वशीभूत, वृद्ध, कृपण, चञ्चलचित्त, लड़कबुद्धि और अत्यन्त बुढाई के कारण जिनकी बुद्धि बिगड़ गई है, उन पिता को भी मैं मार डालूँगा ॥१९॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
उवाच रामं कौसल्या रुदन्ती शोकलालसा ॥२०॥

बड़े वीर लक्ष्मण जी की इन बातों को सुन, शोक से विकल और रोती हुई कौसल्या जी श्रीरामचन्द्र जी से बोली ॥२०॥

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया ।
यदत्रानन्तरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते ॥२१॥

हे वत्स ! तू अपने भाई की सलाह सुन चुका । अब इसके बाद तुझे जो अच्छा जान पड़े सो कर ॥२१॥

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम् ।
विहाय शोकसन्तप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥२२॥

तू सौत की अधर्ममूलक बात मान, मुझ शोकसन्तप्ता अपनी जननी को छोड़ यहाँ से मत जा ॥२२॥

धर्मज्ञ यदि धर्मिष्ठो धर्मं चरितुमिच्छसि ।
शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥२३॥

हे धर्मज्ञ ! यदि तू धर्मिष्ठ है और तुझे धर्माचरण ही करना है, तो यहाँ रह कर, मेरी शुश्रूषा कर के धर्माचरण कर । माता की सेवा से बढ़कर उत्तम और कौन धर्म है ॥२३॥

---

* पाठान्तरे बाल्ये ।

शुश्रूषुर्जननीं पुत्रः स्वगृहे नियतो वसन् ।
परेण तपसा युक्तः कश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥२४॥

हे वत्स! देख, कश्यप ऋषि को अपने घर में नियम और तपस्या युक्त रहने से और माता की सेवा करने से स्वर्गप्राप्त हुआ था ॥२४॥

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् ।
त्वां नाहमनुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥२५॥

जिस पूज्य भाव से महाराज तेरे पूज्य हैं, उसी भाव से मैं भी तेरी पूज्या हूँ। मैं तुझे वन जाने की अनुमति नहीं देती और कहती हूँ कि, वन मत जा ॥२५॥

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन वा ।
त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम् ॥२६॥

तेरे वियोग में न तो मुझे कुछ सुख है और न मुझे जीने ही की अभिलाषा है। अतः तेरे साथ तिनके खा कर रहने में भी मेरे लिए भलाई है ॥२६॥

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम् ।
अहं प्रायमिहासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥२७॥

यदि तू मुझ शोक सन्तप्ता को छोड़ कर, वन चला गया, तो मैं भोजन न करूँगी और बिना भोजन किए मेरा जीना असम्भव है। अर्थात् मैं मर जाऊँगी ॥२७॥

ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम् ।
ब्रह्महत्यामिवाधर्मात्समुद्रः सरितां पतिः ॥२८॥

मेरे आत्महत्या करने पर, हे पुत्र! जिस प्रकार समुद्र को (अपनी माता का कहना न मानने से) ब्रह्महत्या का पाप लगा था और उसे नरक जाना पड़ा था उसी प्रकार मेरा कहना न मानने से तुझको भी नरक में जाना पड़ेगा। इस बात को सब लोग जानते हैं ॥२८॥

विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः।
उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥२९॥

इस प्रकार दीन दुखियारी जननी को विलाप करते देख, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र उससे ये धर्मयुक्त वचन बोले ॥२९॥

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥३०॥

हे देवि! मुझमे इतनी सामर्थ्य नहीं है कि, मैं पिता की आज्ञा उल्लङ्घन करूँ। अतः मैं तुझे प्रणाम कर, तुझे प्रसन्न कर और तेरी अनुमति ले, वन जाना चाहता हूँ ॥३०॥

ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता व्रतचारिणा।
गौर्हता जानता धर्मं कण्डुनापि विपश्चिता ॥३१॥

देख, कण्डु मुनि ने जो व्रतचारी थे और बड़े पण्डित थे, अधर्म कार्य जान कर भी गौ मार डाली थी, किन्तु पिता की आज्ञा रहने के कारण उनको गोहत्या नहीं लगी ॥३१॥

अस्माकं च कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः।
खनद्भिः सागरैर्भूमिमवाप्तः सुमहान्वधः ॥३२॥

हमारे ही कुल में पहले जमाने में सगर की आज्ञा से उनके साठ हज़ार पुत्रों ने भूमि को खोदते हुए, अपनी जान गँवा दी थी ॥३२॥

जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् ।
कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारिणा ॥३३॥

और जमदग्न्य के पुत्र परशुराम ने वन में पिता की आज्ञा से अपनी माता रेणुका का सिर फरसे से काट डाला था ॥३३॥

एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम् ।
पितुर्वचनमक्लीवं[१] करिष्यामि पितुर्हितम् ॥३४॥

हे देवि ! इन लोगों ने तथा अन्य लोगों ने भी, जो देवतुल्य थे, दृढ़ता पूर्वक अपने पिता का कहा माना । अतएव जिस काम के करने से पिता की भलाई होती देख पड़ेगी, उस काम को मैं अकातर करूँगा ॥३४॥

न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम् ।
एतैरपि कृतं देवि ये मया तव कीर्तिताः ॥३५॥

हे माता ! केवल मैं ही पिता की आज्ञा मानता हूँ—सो बात नहीं है, किन्तु जिन महात्माओं के नाम मैंने गिनाए, वे सब लोग अपने पिता के आज्ञाकारी थे ॥३५॥

नाहं धर्ममपूर्वं[२] ते प्रतिकूलं[३] प्रवर्तये ।
पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥३६॥

---

१ अक्लीवं—अकातरम् । २ अपूर्वं—नवीनं । (शि०) प्रतिकूल—स्वकुलानुरूपम् । (शि०)

मै न तो किसी नवीन और न अपनी वंशपरम्परा के प्रतिकूल मार्ग पर ही चल रहा हूँ प्रत्युत मै तो उसी मार्ग का अनुसरण कर रहा हूँ, जिस पर पूर्वज चल चुके हैं। अर्थात् जिस बात को सब लोग आज तक मानते रहे है, वही मै भी मान रहा हूँ, कोई अनोखी बात नही मान रहा ॥३६॥

तदेतत्तु मयाकार्यं क्रियते भुवि नान्यथा।
पितुर्हि वचनं कुर्वन्न कश्चिन्नाम हीयते ॥३७॥

अतएव मै जो कर रहा हूँ, वह ऐसा काम नही है, जो संसार मे कहीं हुआ ही न हो। अर्थात् सारे भूतल पर लोग पिता की आज्ञा मानते है ऐसा कही नहीं होता कि, पिता की आज्ञा न मानी जाय। फिर जो पिता की आज्ञा के अनुसार काम करता है, वह कभी भी धर्मच्युत नहीं होता ॥३७॥

तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत्।
वाक्यं वाक्यविदांश्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥३८॥
तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥३९॥

वक्ताओ में श्रेष्ठ और धनुपधारियो मे लब्धकीर्ति श्रीरामचन्द्र जी, माता से इस प्रकार कह, फिर लक्ष्मण जी से बोले। हे लक्ष्मण! मै जानता हूँ कि, मुझमे तेरा बहुत अनुराग है। मुझे तेरा बल और पराक्रम मालूम है। मै जानता हूँ कि, तेरा तेज दूसरे नहीं सह सकते ॥३८॥३९॥

मम मातुर्महद्दुःखमतुलं शुभलक्षण।
अभिप्राय[1]मविज्ञाय सत्यस्य[2] च शमस्य च ॥४०॥

---

१ अभिप्रायं—रहस्यं। (गो०)। २ सत्यस्य—धर्मस्य। (गो०)

हे शुभलक्षणों वाले लक्ष्मण! मेरी माता तो धर्म और शम (आत्मसंयम) का रहस्य न जानने के कारण महाशोक से कातर हो रही है (किन्तु तू तो सब जानता है—अतः तू क्यों धर्मविरुद्ध बात अपने मुँह से निकाल माता की हाँ में हाँ मिलाता है) ॥४०॥

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमेतच्च पितुर्वचनमुत्तमम्[1] ॥४१॥

(क्या तू नहीं जानता कि,) संसार में यावत् पुरुषार्थों में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। क्योंकि धर्म का पर्यवसायी सत्य है। मेरे पिता जी की आज्ञा धर्मानुमोदित होने के कारण, माता की आज्ञा से उत्कृष्ट है। (अतः पितृआज्ञा मेरे लिए सर्वथा पालनीय है—माता की नहीं) ॥४१॥

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य[2] तिष्ठता ॥४२॥

हे वीर! पिता, माता अथवा ब्राह्मण से किसी काम के करने की प्रतिज्ञा करके, पीछे उसे न करना, धर्मरूपी फल की इच्छा रखने वालों का कर्त्तव्य नहीं है। अर्थात् जो धर्मात्मा हैं—उन्हें प्रतिज्ञा करके, फिर उसे न बदलना चाहिए और जो ऐसा करते हैं, वे अधर्म करते हैं ॥४२॥

सोऽहं न शक्ष्यामि पितुर्नियोग[3]मतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याऽहं प्रचोदितः ॥४३॥

---

१ उत्तमम्—मातृवचनपेक्षया उत्कृष्टं। (गो०) २ धर्ममाश्रित्यतिष्ठता—धर्मरूपफलेच्छुता। (गो०) ३ नियोग—आज्ञा। (गो०)

सो मैं पिता की आज्ञा को उल्लङ्घन नहीं कर सकता। हे वीर! पिता जी के कहने ही से कैकेयी ने मुझे प्रेरित किया है ॥४३॥

तदेनां विसृजानार्यां[1] क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥४४॥

अतएव हे लक्ष्मण! तू इस क्षात्र-धर्म का अनुगमन करने वाली इसी लिए दुष्ट (पिता को मार कर राज्य लेने की) और मार काट करने की बुद्धि को (सम्मति को) त्याग दे। उग्रता त्याग कर, धर्म का आश्रय ग्रहण कर और मेरी बुद्धि के अनुसार चल। (अर्थात् संसार में सर्वत्र केवल नीति (Diplomacy) ही से काम न लेना चाहिए, किन्तु लोक परलोक का विचार कर, धर्म का भी आश्रय लेना उचित है) ॥४४॥

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद्भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः।
उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः ॥४५॥

लक्ष्मण के बड़े भाई श्रीरामचन्द्र जी स्नेहपूर्वक लक्ष्मण को इस प्रकार समझा कर, तदनन्तर फिर हाथ जोड़ और सिर झुका कर कौसल्या जी से बोले ॥४५॥

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम्।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे ॥४६॥

हे देवि! अब मुझे यहाँ से वन जाने की आज्ञा दीजिए। आपसे तुझे मेरे प्राणों की शपथ है। अब तू वनवास में मेरे कुशल के हेतु स्वस्त्ययवाचनादि आवश्यक कर्म कर ॥४६॥

---

१ अनार्या—दुष्टा। (गो०)

तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात्पुनरेष्याम्यहं पुरीम् ।
ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥४७॥

मैं प्रतिज्ञा पूरी कर फिर यहीं लौट आऊँगा जैसे राजर्षि ययाति स्वर्ग से भूमि पर गिर, फिर स्वर्ग को लौट गए थे ॥४७॥

शोकः[1] सन्धार्यतां[2] मातर्हृदये साधु मा शुचः ।
वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥४८॥

हे माता! शोकातुर पिता जी को तू समझा बुझा कर, शान्त कर (यदि तू कहे कि मैं तो स्वयं शोकातुर हूँ—मैं भला क्या समझा सकती हूँ, तो कहते हैं।) तू भी किसी बात का अपने मन में सोच (चिन्ता) मत कर। क्योंकि मैं पिता जी की आज्ञा के अनुसार चौदह वर्ष वनवास कर, पुन. घर लौट आऊँगा ॥४८॥

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया ।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥४९॥

तुमको, मुझको, वैदेही को, लक्ष्मण को और सुमित्रा को पिता की आज्ञानुसार ही चलना चाहिए। क्योंकि सनातन से यही शिष्टाचार चला आता है ॥४९॥

अम्ब संहृत्य सम्भारान्दुःखं हृदि निगृह्य च ।
वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥५०॥

हे माता! अपने मन का दुःख दूर कर और यह अभिषेक के लिए जो सामान जोड़ा है इस सब को हटा दे और मेरे वन

---

१ शोकः—शोकविशिष्ट. पितेतिशेषः। (शि०) २ सन्धार्यताम्—बोध्यतामित्यर्थः। (शि०)

वास का औचित्य समझ, मेरे मत का समर्थन कर (अर्थात् जिस प्रकार धर्मतः वन जाना मैं उचित समझता हूँ—वैसे ही तू भी समझ) ॥५०॥

एतद्वचस्तस्य निशम्य माता
सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लवं च ।
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी
समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥५१॥

श्रीरामचन्द्र जी के धर्म एव धीरतायुक्त और कादरता रहित वचन सुन, कौसल्या जी, जो (कुछ समय के लिए) मृतकवत् हो गई थीं, सचेत हो, कुछ काल तक तो श्रीरामचन्द्र जी की ओर इकटक देखती रहीं, तदनन्तर वोलीं ॥५१॥

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं
गुरुः स्व[1]धर्मेण सुहृत्तया च ।
न त्वाऽनुजानामि न मां विहाय
सुदुःखितामर्हसि गन्तुमेवम् ॥५२॥

यदि तू अपने धर्म* पर दृष्टि रख और उपकारों† का विचार कर देखे, तो तेरे लिये जैसे तेरे पिता पूज्य हैं, वैसी ही मैं भी हूँ। मैं कहती हूँ कि, मुझ अभागिनी को छोड़, तू वन मत जा ॥५२॥

---

१ स्वस्य आत्मनः पुत्रस्येत्यर्थः। (शि०)

* अपने धर्म पर—अर्थात् पुत्रधर्म पर अथवा पिता माता के प्रति पुत्र के कर्त्तव्यों पर। † उपकारों—अर्थात् पिता माता के किये हुए उपकारों के प्रति।

किं जीवितेनेह विना त्वया मे
लोकेन वा किं स्वधया[1]ऽमृतेन[2] ।
श्रेयो मुहूर्तं तव सन्निधानं
ममेह कृत्स्नादपि जीवलोकात्[3] ॥५३॥

हे वत्स! तेरे बिना न तो मुझे अपने जीवन से, न इस लोक से, न पितृलोक से और न स्वर्गलोक से और न बड़ी कठिनता से प्राप्त जीवों के लिए परमानन्दप्रद महर्लोकादि ही से कुछ प्रयोजन है। मेरे लिए तो मुहूर्त्त भर भी तेरा मेरे पास रहना ही कल्याणदायी है ॥५३॥

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो[4]
महागजोऽध्वान[5]मनुप्रविष्टः ।
भूयः प्रजज्वाल विलापमेनं
निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥५४॥

माता का करुणयुक्त विलाप सुन, श्रीरामचन्द्र उसी प्रकार क्रोध और कुछ सन्ताप से क्षुब्ध हुए, जिस प्रकार रात्रि में हाथ में मशाल लिये हुए लोगों से मार्ग रोके जाने पर, कोई महागज अंधकार में पड़कर, क्रुद्ध और सन्तप्त हो, क्षुब्ध होता है ॥५४॥

स मातरं चैव विसंज्ञकल्पा-
मार्तं च सौमित्रिमभिप्रतप्तम् ।

---

१ स्वधया—पितृलोकप्राप्तसिद्धया। (गो०) २ अमृतेन—स्वर्गलोकप्राप्तिसिद्धेन। (गो०) ३ जीवलोकात्—आनन्दहेतुभूतमहर्लोकाद्युपरितन लोकान्तर्वर्तिजीववर्गात्। (गो०) ४ अपोह्यमानः—निवार्यमाणोपि। (गो०) ५ अध्वान—मार्गं। (गो०)

धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं
यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम् ॥५५॥

तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने, अपनी मूर्छितप्राय माता को और दुःखी एवं सन्तप्त लक्ष्मण को प्रबोध करने के लिए, ये धर्मयुक्त वचन, जो श्रीरामचन्द्र जी के ही मुख से निकलने योग्य थे, कहे ॥५५॥

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव
जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।
मम त्वभिप्रायमसन्निरीक्ष्य
मात्रा सहाभ्यर्दसि मां सुदुःखम् ॥५६॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे लक्ष्मण ! मुझमें तेरी जैसी भक्ति है और तू जैसा पराक्रमी है सो मैं भली भाँति जानता हूँ । परन्तु इस समय तुम मेरा अभिप्राय समझे बिना ही, मुझे उत्पीडित करने में माता के सहायक बने हुए हो । अर्थात् तुम व्यर्थ मुझे माता के साथ कष्ट दे रहे हो ॥५६॥

धर्मार्थकामाः किल तात लोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ते तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याऽभिमता सपुत्रा ॥५७॥

ई ! इस संसार मे धर्मफलोदय अर्थात् सुखप्राप्ति के लिए, धर्म अर्थ और काम तीन कारण हैं । निरसन्देह इन तीनों का सम्पादन सकल धर्माचरणो से वैसे ही हो सकता, है जैसे

अकेली भार्या पति की अनुगामिनी बन कर धर्म को, प्रिया हो कर काम को और पुत्रवती हो कर, अर्थ को सम्पादन करती है ॥५७॥

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा
धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥५८॥

अतएव जिस काम के करने से ये तीनों प्राप्त न हो सके, उसको तो छोड़ ही देना चाहिए और जिससे धर्म का लाभ हो उस काम को आरम्भ करना चाहिए। क्योंकि इस ससार में जो मनुष्य केवल अर्थतत्पर होता है, उसका मित्र कोई भी नहीं होता, प्रत्युत उसके सब वैरी हो जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के लिए काम में तत्परता भी (किसी भी धर्मरहित कार्य में तत्परता)— सर्वथा निन्द्य है ॥५८॥

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात्प्रहर्षाद्यदि वापि कामात् ।
यद्व्यादिशेत्कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥५९॥

देखो, प्रथम तो महाराज हमारे गुरु हैं, दूसरे वे हमारे पिता हैं और तीसरे वृद्ध हैं। वे क्रुद्ध हों, प्रसन्न हों अथवा काम के वशवर्ती हो मुझे जो आज्ञा दें, उसका पालन करना मेरा धर्म है—अथवा धर्म की दृष्टि से मुझे उचित है। ऐसा कौन क्रूर स्वभाव पुत्र होगा, जो अपने पिता का कहना न माने ॥५९॥

स वै न शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञा-
मिमामकर्तुं सकलां यथावत्।
स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे
देव्याश्च भर्ता स गतिः स धर्मः ॥६०॥

मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि, पिता की समस्त आज्ञा को यथोचितरीत्या पूरी न कर, उसे टाल दूँ। क्योंकि वे मेरे पिता हैं, उनको मेरे ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त है और वे देवी कौसल्या के भी पति हैं। वे ही इनके लिए धर्म और वे ही इनकी गति हैं। अर्थात् जिस प्रकार पुत्र पर पिता का पूर्ण अधिकार है उसी प्रकार अपनी पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार है। दोनो का यह धर्म है कि, पुत्र पिता का और पत्नी अपने पति का कहना माने ॥६०॥

तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे
विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने।
देवि मया सार्धमितोपगच्छे-
त्कथं स्विदन्या विधवेव नारी ॥६१॥

फिर माता कौसल्या, ऐसे धर्मराज महाराज के जीवित रहते और राजकाज करते हुए महाराज को छोड़, विधवा स्त्री की तरह मेरे साथ कैसे चल सकती है ॥६१॥

सा माऽनुमन्यस्व वनं व्रजन्तं
कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि।
यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं
यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः ॥६२॥

हे देवि! मुझे वन जाने की अनुमति दे और मेरे लिए स्वस्त्य

वाचनादि कर, जिससे मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर, वैसे ही लौट कर यहाँ आ जाऊँ, जैसे सत्य के बल महाराज ययाति पुनः स्वर्ग को लौट गए थे ॥६२॥

यशो ह्यहं केवलराज्यकारणा-
न्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।
अदीर्घकाले न तु देवि जीविते
वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ॥६३॥

मैं केवल राज्यप्राप्ति के लिए पिता की आज्ञा पालन रूपी महायश की ओर से पीठ नहीं फेर सकता अथवा अपना मुँह नहीं मोड़ सकता। हे माता! थोड़े दिनों के जीवन के लिए मैं अधर्म द्वारा, इस पृथिवी का राज्य लेना नहीं चाहता ॥६३॥

प्रसादयन्नरवृषभः स्वमातरं
पराक्रमा[1]ज्जिगमिषुरेव दण्डकाम् ।
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं[2]
चकार तां हृदि[3] जननीं प्रदक्षिणम् ॥६४॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने अपनी जननी को मनाया और कैकेयी की प्रेरणा से दण्डकवन में जाना चाहा। तथा लक्ष्मण जी को अपना मत समझा कर, माता की प्रदक्षिणा करने का अपने मन में सङ्कल्प किया ॥६४॥

अयोध्याकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:०—

१ पराक्रमात्—कैकेयी, प्रेरणात्। (गो०) २ दर्शनम्—स्वमत। (गो०) ३ हृदिप्रदक्षिणं चकार—प्रदक्षिणं कर्तुं सङ्कल्पितवान्। (गो०)

द्वाविंशः सर्गः

—:o:—

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम् ।
श्वसन्तमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र, अपने वनगमन से लक्ष्मण को अति दुखी और उस दुःख को सहने में असमर्थ तथा कैकेयी पर क्रुद्ध हो, हाथी की तरह फुँसकारते और आँखे फाड़े देख कर, ॥१॥

आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम् ।
उवाचेदं स धैर्येण धारयन् सत्त्वमात्मवान् ॥२॥

और उन्हें अपना प्यारा भाई और हितैपी मित्र समझ, बड़े धैर्य से अपनी चिन्ता को मन ही में दबा कर, लक्ष्मण से यह बोले ॥२॥

निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम् ।
अवमानं निरस्येमं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम् ॥३॥

हे भाई ! अब तुम क्रोध और शोक को त्याग कर, धैर्य धारण करो और इस अनादर का जरा भी विचार न कर अथवा इस अनादर को भूल कर प्रसन्न हो जाओ । अर्थात् कैकेयी पर क्रुद्ध मत हो, राज्य न मिलने के लिए शोक मत करो और राज्य की अप्राप्ति के अपमान को भी भूल जाओ । प्रत्युत इस बात पर प्रसन्न हो कि, मै पिता की आज्ञा का पालन करता हूँ ॥३॥

उपक्लृप्तं हि यत्किञ्चिदभिषेकार्थमद्य मे ।
सर्वं विसर्जय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरत्ययम् ॥४॥

क्योंकि जहाँ तक मुझे स्मरण है मैंने आज तक कभी भी जानबूझ कर या अनजाने पिता माता का कोई साधारण सा भी अपराध नहीं किया ॥८॥

सत्यः सत्याभिसन्धश्च नित्यं सत्यपराक्रमः[१] ।
परलोक भयाद्भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम ॥९॥

सदा सत्यप्रतिज्ञा और परलोक बिगड़ जाने के भय से त्रस्त, तथा अमोघ पराक्रमी मेरे पिता महाराज दशरथ निर्भय हों। (हे लक्ष्मण! मुझको और तुमको ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिये) ॥९॥

तस्यापि भवेदस्मिन् कर्मण्यप्रतिसंहृते ।
सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम् ॥१०॥

यदि मैं अपने अभिषेक की कामना त्याग न दूँगा, तो महाराज के मन में, अपने वरदान के पूरे होने न होने की चिन्ता से, जो सन्ताप हो रहा है, वह सन्ताप मुझे भी सन्तप्त करेगा ॥१०॥

अभिषेकविधानं तु तस्मात्संहृत्य लक्ष्मण ।
अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुनः ॥११॥

अतएव हे लक्ष्मण! इस राज्याभिषेक के विधान को परित्याग कर, मैं शीघ्र ही यहाँ से वन जाना चाहता हूँ ॥११॥

मम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मज ।
सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयिता ततः ॥१२॥

क्योंकि आज मेरे वन जाने ही से कैकेयी कृतकार्य हो अपने पुत्र भरत को बुला और सुचित हो, उसको राज्य दे सकेगी ॥ १२ ॥

---

१ सत्यपराक्रमः—अमोघपराक्रम । (गो०)

मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि ।
गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम् ॥१३॥

जब मै चीर और मृगचर्म धारण कर और सिर पर जटा बाँध, वन को चला जाऊँगा, तब ही कैकेयी के मन मे प्रसन्नता होगी। अर्थात् जब तक मै यहाँ हूँ, तब तक कैकेयी प्रसन्न नही हो सकती ॥ १३ ॥

बुद्धिः[१] प्रणीता[२] येनेयं मनश्च सुसमाहितम्[३] ।
तं तु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि मा चिरम् ॥१४॥

जिसने मुझे वनवास की यह शिक्षा दी और वन जाने के लिए मेरा मन पोढ़ा किया, उसे मै क्लेश देना नही चाहता। अत. मै वन जाऊँगा। अब जिससे विलम्ब न हो, सो करो ॥१४॥

कृतान्तस्त्वेव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने ।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने ॥१५॥
कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम पीडने ।
यदि भावो न दैवोऽयं कृतान्त[५]विहितो भवेत् ॥१६।

हे लक्ष्मण ! राज्य का मिलना न मिलना दैवाधीन है, इसमें किसी का कुछ वस नहीं। क्योकि यदि दैव मेरे प्रतिकूल न होता, तो मुझे पीड़ा देने के लिए केकेयी की बुद्धि कभी ऐसी न होती अर्थात् वह मुझे वन भेजने का दुराग्रह न करती ॥१५॥१६॥

---

१ इयबुद्धिः—वनवासबुद्धि । (गो०) २ प्रणीता—शिक्षिता । (गो०) ३ मनश्च सुसमाहित—स्थिरीकृतं । (गो०) ४ प्रतिपत्तिः—बुद्धि । (गो०) ५ कृतान्तः—दैव. । (गो०)

जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम् ।
भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा ॥१७॥

हे सौम्य! यह तो तुम जानते ही हो कि, मैंने माताओं में कभी भेददृष्टि नहीं रखी और न कैकेयी ही ने आज तक मुझमें और भरत में कुछ भी अन्तर माना ॥१७॥

सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः ।
उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद्दैवात्समर्थये ॥१८॥

किन्तु आज उसी कैकेयी ने मेरा अभिषेक रोकने और मुझे वन भेजने के लिए कैसे कैसे उग्र और बुरे वचन कहे। सो इसका कारण दैव को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं है ॥१८॥

कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथागुणा ।
ब्रूयात्सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीडां भर्तृसन्निधौ ॥१९॥

यदि यह बात न होती, तो ऐसे सुन्दर स्वभाव वाली और गुणवती कैकेयी, राजपुत्री हो कर, नीच गँवारों की तरह, पति के सामने मुझे मर्माहत करने को क्यों ऐसी बातें कहती ॥१९॥

यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते ।
व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥२०॥

जो समझ के बाहिर हो, उसका नाम दैव अथवा भाग्य है। भाग्य की रेख को ब्रह्मा जी भी नहीं मिटा सकते। उसी दुर्निवार्य दैव ने मुझमें और कैकेयी में इतना भेदभाव उत्पन्न कर दिया ॥२०॥

*कश्चिद्दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान् ।
यस्य न ग्रहणं किञ्चित्कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते ॥२१॥

* पाठान्तरे—"कश्च"

हे लक्ष्मण! कर्मफल भोगने के सिवाय, जिसके जानने का अन्य कोई साधन ही नहीं है उस दैव अथवा भाग्य से लड़ने का कौन पुरुष साहस कर सकता है ॥२१॥

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ[1]।
यच्च किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥२२॥

देखो सुख दुःख भय क्रोध, लाभ हानि और जीवन मरण तथा अन्य बातें जो उन्हींके समान हैं वे सब दैव ही के कृत्य हैं अर्थात् ये सब बातें भाग्याधीन हैं ॥२२॥

["हानि लाभ जीवन मरण
जस अपजस विधि हाथ।" गो० तुलसीदास]

ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रपीडिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः ॥२३॥

बड़े बड़े कठोर तप करने वाले तपस्वी लोग भी भाग्य के द्वारा सताए जाने पर, अपने उग्र नियमों का परित्याग कर, काम और क्रोध से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥२३॥

असङ्कल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते।
निवर्त्यारम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥२४॥

जिसे करने के लिए कभी विचार भी न किया हो और वह अचानक हो जाय और जिस काम को विचार कर करो वह न हो, बस इसी को दैव का कर्म समझना चाहिए ॥२४॥

एतया तत्त्वया[2] बुद्ध्या संस्तभ्यात्मान[3]मात्मना[4]।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते ॥२५॥

---

१ भवाभवौ—उत्पत्तिविनाशौ। (गो०) २ तत्त्वया—अबाधितया (गो०) ३ आत्मान—अन्तःकरणं। (गो०) ४ आत्मना—स्वयमेव। (गो०)

ऐसी अबाधित बुद्धि से अपने अन्तःकरण को निश्चल कर के. स्वयमेव अभिषेक के कार्य के स्थगित होने का, मुझे ज़रा भी पश्चात्ताप नहीं ॥२५॥

तस्मादपरितापः सन्स्त्वमप्यनुविधाय माम् ।
प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकींक्रियाम्[1] ॥२६॥

अतएव तुम भी, मेरे कहने से सन्ताप का त्याग कर, मेरा अनुसरण करो और इस अभिषेक की सजावट को बंद करवा दो ॥२६॥

एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसंभृतैः ।
मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति ॥२७॥

हे लक्ष्मण! ये घड़े जो मेरे अभिषेक के लिए भरे हुए धरे हैं उनसे अब मेरा तापस व्रत-स्नान होगा ॥२७॥

अथवा किं ममैतेन राजद्रव्यमतेन तु ।
उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति ॥२८॥

अथवा अब मुझे इन अभिषेकार्थ लाए हुए तीर्थ के जलो से भरे घटो से क्या काम ? मै तो अब अपने हाथ से कुएँ का जल भर कर. व्रताधिकार पूरा कर, लूँगा ॥२८॥

मा च लक्ष्मण सन्तापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये ।
राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥२९॥

हे लक्ष्मण! मुझको राज्याधिकार न मिलने के लिए तुम सन्ताप मत करो। क्योंकि विवेचन करने से राज्य और अरण्य-

१ अभिषेचनिकींक्रिया—अलङ्करणादि। (गो०)

वास मे कुछ भी अन्तर नहीं, प्रत्युत मेरे लिए तो अरण्यवास ही महाफलप्रद है। (क्योंकि राज्य करने मे बड़े भारी झंझट होते हैं और वनवास मे ऋषियों महात्माओं के दर्शन से बड़ा पुण्य होता है) ॥२९॥

न लक्ष्मणास्मिन् खलु कर्मविघ्ने
माता यवीयस्यतिशङ्कनीया।
दैवाभिपन्ना हि वदत्यनिष्टं
जानासि दैवं च तथाप्रभावम् ॥३०॥

॥ इति द्वाविंश. सर्गः ॥

हे लक्ष्मण! राज्य मिलने मे विघ्न पड़ने का कारण मेरी छोटी माता कैकेयी है, ऐसी शङ्का अपने मन मे तुम कभी मत करना। क्योंकि दैव के वशवर्ती हो कर ही लोग अनिष्ट बाते कह डाला करते हैं। दैव का प्रभाव तो तुमको मालूम ही है ॥३०॥

अयोध्याकाण्ड का बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—०—

त्रयोविंशः सर्गः

—:०:—

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽधःशिरा मुहुः।
श्रुत्वा मध्यं जगामेव मनसा दुःखहर्षयोः ॥१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के समझाने पर नीचे सिर झुकाये हुए लक्ष्मण जी मन ही मन दुःखी और हर्षित हुए (दुःखी तो

इस लिए कि भाई को राज्य नहीं मिला और हर्षित इसी लिए कि धर्म का मर्म भाई को समझा दिया) ॥१॥

तदा तु बद्धा भ्रुकुटी भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः ।
निशश्वास महासर्पो विलस्थ इव रोषितः ॥२॥

परन्तु कुछ ही देर बाद भौंहें टेढ़ी कर मारे क्रोध के बिल में बैठे हुए क्रुद्ध सर्प की तरह वे नरश्रेष्ठ (लक्ष्मण) दीर्घ नि.श्वास त्यागने लगे ॥२॥

तस्य दुष्प्रतिवीक्षं तद्भ्रुकुटीसहितं तदा ।
बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥३॥

उस समय भौंहें टेढ़ी करने से उनका मुख, क्रुद्ध सिंह की तरह भयानक हो गया ॥३॥

अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्तिहस्तमिवात्मनः ।
तिर्यगूर्ध्वं[१] शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥४॥

हाथी जिस प्रकार अपनी सूँड़ इधर-उधर घुमाता है, उसी प्रकार लक्ष्मण जी अपने हाथ कँपा और मारे क्रोध के अपना सिर धुन कर ॥४॥

अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत् ।
अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥५॥

और तिरछी नजर से भाई को देख कर बोले—हे भाई ! बुरे समय में तुमको यह बड़ा भ्रम हो गया है ॥५॥

धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया ।
कथंह्येतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥६॥

---

१ 'तिर्यगित्यादि—क्रोधातिशयेन विविध शिरो धूनन कृत्वा । (रा०)

आपका यह समझना कि, पिता की आज्ञा का पालन न करने से धर्म की हानि होगी और लोग बुरा कहेंगे अथवा आप यदि पिता की आज्ञा का पालन न करेंगे तो अन्य लोग भी ऐसा न करेंगे और सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो जायगी—सो आपका ऐसी शङ्का करना बड़े भ्रम की बात है। आप जैसे निर्भ्रान्त पुरुष को तो ऐसा कहना भी न चाहिए ॥६॥

यथा दैवमशौण्डीरं शौण्डीर क्षत्रियर्षभ ।
किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि ॥७॥

आप क्षत्रियश्रेष्ठ और दैव का सामना करने में समर्थ हो कर भी, एक असमर्थ पुरुष की तरह, अशक्त और दीन हो, दैव की प्रशंसा कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते ।
सन्ति धर्मोपधाः श्लक्ष्णा धर्मात्मन्किं न बुध्यसे ॥८॥

क्या आपको उन पापियों के बारे में शङ्का नहीं होती। हे धर्मात्मा! क्या आपको यह नहीं मालूम कि, इस संसार में धर्म-छलिया भी अनेक लोग हैं ॥८॥

तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात्परिजिहीर्षतोः ।
यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राघव ॥९॥

देखिए स्वार्थ में पड़ कर, महाराज और कैकेयी शठता पूर्वक आपको वनवास देते हैं। यदि ऐसा न होता तो, हे राघव! वे आपके अभिषेक में ऐसा विघ्न उठा कर खड़ा न कर देते। (रा०) ॥९॥

तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद्वरः प्रकृतश्च सः ।
लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम् ॥१०॥

यदि वर देने की बात ठीक होती तो अभिषेक की तैयारी आरम्भ होने के पूर्व ही वरदान देने की सूचना क्यो नही दी गई! यदि कहा जाय कि, महाराज ने यह काम भूल से किआ है, तो भी इस भूल से बड़ी भारी हानि है । क्योंकि इससे लोगो में विद्वेष फैलेगा । फिर यह सरासर अनुचित भी है कि, बड़े के रहते छोटा राज्य पावे ॥१०॥

नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ।
येनेयमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते ॥११॥

अतः मै तो यह नहीं सह सकता । हे वीर ! इसके लिए आप मुझे क्षमा करे । हे महामते ! जिस धर्म के द्वारा आपकी बुद्धि इस प्रकार की हो गई है ॥११॥

स हि धर्मो मम द्वेष्यः प्रसङ्गाद्यस्य मुह्यसि ।
कथं त्वं कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः ॥१२॥

यह भी मुझे मान्य नही—क्योंकि उसीसे तो आपको मोह प्राप्त हुआ है । आप किस प्रकार सामर्थ्यवान हो कर भी, कैकेयी के वशवर्ती ॥१२॥

करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ।
यद्ययं किल्बिषा[1]द्भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते ॥१३॥

पिता की उस आज्ञा का, जो अधर्मयुक्त और निन्दित है, पालन करेगे ? वरदान का बहाना बतला आपके अभिषेक में बाधा डालने को, आप कपट नही समझते ॥१३॥

---

१ किल्बिषात्—मृषावरकल्पनात् । (गो०)

जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्गश्च गर्हितः ।
मनसाऽपि कथं कामं कुर्यास्त्वं कामवृत्तयोः ॥१४॥

इसका मुझे दुःख है । मैं तो ऐसी धर्म की आसक्ति को निन्द्य समझता हूँ । क्योंकि आपको छोड़ ऐसा दूसरा कौन होगा, जो उन दोनो का, जो कामी हैं, ॥१४॥

तयोस्त्वहितयोर्नित्यं शत्र्वोः पित्रभिधानयोः ।
यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम् ॥१५॥

तुम्हारा सदा अहित चाहने वाले हैं और माता पिता हो कर भी शत्रुता कर रहे हैं, कहना मन से भी मानेगा । यद्यपि आपका मत है कि, उन दोनो ने जो कुछ अहित किया है, उसका कारण दैव है ॥१५॥

तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ।
विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ॥१६॥

तथापि मुझे तो आपका यह मत अच्छा नहीं लगता । क्योंकि दैव का क्या भरोसा । कातर और वीर्यहीन पुरुष ही लोग दैव को मानते हैं ॥१६॥

वीराः सम्भाविताऽत्मानो न दैवं पर्युपासते ।
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्[२] ॥१७॥

किन्तु वीर और धीर दैव को नहीं मानते । जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से दैव को अपने अधीन कर सकता है ॥१७॥

न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ।
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ॥१८॥

---

१ सम्भाविता—सम्यक् प्रापितः दृढयावात् । (गो०) २ प्रबाधितुम्—अतिक्रम्यवर्तितु । (गो०)

उसका दैव न तो कुछ बिगाड़ सकता है और न वह कर्म दुःखी होता है। आज लोग दैव और पुरुष के (भाग्य और पुरुषार्थ के) बल और पौरुष को देखें कि इन दोनो में कौन प्रबल है ॥१८॥

दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता[1] व्यक्तिर्[2]भविष्यति ।
अद्य मत्पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः ॥१९॥

दैव (भाग्य) बलवान है अथवा पुरुष (पुरुषार्थ) इसका विवेचन आज ही स्पष्ट प्रकट हो जायगा। आज मेरे पौरुष द्वारा मारे गए दैव को, वे लोग देखेंगे ॥१९॥

यद्दैवादाहतं[3] तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम् ।
अत्यङ्कुशमिवोद्दामं[4] गजं मदबलोद्धतम्[5] ॥२०॥

जिन्होने दैवद्वारा तुम्हारे राज्याभिषेक में विघ्न पड़ता हुआ देखा है। मैं आज उस दैव रूपी हाथी को, जो अङ्कुश को कुछ भी नहीं समझता, जिसने पैर की बेड़ियाँ तोड़ डाली हैं और जो मद और बल से गर्वीला होकर, ॥२०॥

प्रधावित[6]महं दैवं पौरुषेण निवर्तये ।
लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम् ॥२१॥

बेरोकटोक इधर उधर दौड़ रहा है, अपने पौरुष से निवृत्त करता हूँ। जब आपके राज्याभिषेक को समस्त लोकपाल ॥२१॥

---

१ व्यक्ता—स्फुटा। (गो०) २ व्यक्तिः—प्रबलदुर्बलविवेकः। (गो०) ३ आहत—विघत। (गो०) ४ उद्दाम—छिन्ननिगल। (गो०) ५ मदबलोद्धतम्—मदबलाभ्यामुगर्विष्टम्। ६ प्रधावित—दुर्निवारं। स्वच्छन्द गमनम्। (गो०)

न च कृत्स्ना[1]स्त्रयो लोका विहन्युः किं पुनः पिता ।
यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन् समर्थितः ॥२२॥

और तीनो लोकों के समस्त निवासी अन्यथा नहीं कर सकते तब अकेले पिता की क्या सामर्थ्य है, जो राज्याभिषेक न होने दे। जिन लोगों ने आपके वन जाने का समर्थन किया है, हे राजन्! ॥२२॥

अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ।
अहं तदाशां छेत्स्यामि पितुस्तस्याश्च या तव ॥२३॥
अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ।
मद्बलेन विरुद्धाय न स्याद्दैवबलं तथा ॥२४॥

वे ही लोग चौदह वर्षों तक वन मे रहेंगे। मै उस पिता और माता की आशा पर, जो आपको राज्य न दे कर, भरत को देना चाहती है, पानी फेर दूँगा। मेरे बल के, जो लोग विरुद्ध हैं, उनको दैवबल ॥२३॥२४॥

प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ।
ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम् ॥२५॥

उतना दुःखदायी न होगा, जितना कि, मेरा उग्र पौरुष दुःख देने वाला होगा। हज़ार वर्ष राज्य कर चुकने के अनन्तर, ॥२५॥

आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ।
पूर्वराजर्षिवृत्त्या हि वनवासो विधीयते ॥२६॥

आप वन जाना और तब आपके पुत्र राज्य करेंगे। वन ही मे रहना है, तो हमारे पूर्वज राजा लोग जिस प्रकार वृद्धा-

---

१ कृत्स्नाः—अन्यूनाः। (गो०)

वस्था में वनवास करते थे, उस प्रकार आप भी वनवास कीजिये ॥२६॥

प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत्परिपालने ।
स चेद्राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया ॥२७॥
नैवमिच्छसि धर्मात्मन् राज्यं राम त्वमात्मनि ।
प्रतिजाने च ते वीर मा भूवं वीरलोकभाक् ॥२८॥

पूर्ववर्ती राजा लोग (वृद्धावस्था में) प्रजा को पुत्र के समान पालन करने का भार अपने पुत्रों को सौंप, आप वन में जा, तप किया करते थे। हे आर्य ! यदि आप यह समझते हों कि, महाराज की आज्ञा के विरुद्ध राज्य लेने में गड़बड़ी मच जाने की शङ्का है और इसलिए आप राज्य लेना नहीं चाहते तो मैं प्रतिज्ञा कर के कहता हूँ कि, मुझे वीरगति प्राप्त न हो ॥२७॥२८॥

राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ।
मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो[1] भव ॥२९॥

मैं तुम्हारे राज्य की रक्षा उसी प्रकार करूँगा, जिस प्रकार समुद्रतट की भूमि, समुद्र से पृथ्वी की रक्षा करती है। अब आप मङ्गलाचार पूर्वक अपना राज्याभिषेक करवाने की ओर मन लगाइए ॥२९॥

अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ।
न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे ॥३०॥

मैं अकेला ही उन सब राजाओं को, जो इस कार्य में बाधा डालने को अग्रसर होंगे, अपने पराक्रम से हटाने को पर्याप्त

१ व्यापृतोभव—आसक्तचित्तोभव। (गो०)

(काफी) हूँ। मेरी ये दोनो बाहें शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं हैं और न मेरा यह धनुष श्रृङ्गार करने के लिए कोई आभूषण ही है ॥३०॥

मासिरावन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः[1] ।
अमित्रदमनार्थं मे सर्वमेतच्चतुष्टयम् ॥३१॥

न खड्ग केवल कमर मे लटकाने के लिए है और न बाण केवल तरकस मे पड़े रहने के लिए हैं । मेरी ये चारो चीजे तो शत्रु का दमन करने के लिए ही हैं ॥३१॥

न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्मतो मम ।
असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा ॥३२॥

जो मेरा शत्रु बन कर रहना चाहता है, उसका अस्तित्व मुझे सह्य नहीं। (राजाओ की तो बात ही क्या) मै अपनी तेज धार वाली और बिजली की तरह चमचमाती तलवार से ॥३२॥

प्रगृहीतेन वै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये ।
खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा च मे ॥३३॥
हस्त्यश्वनरहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही ।
खड्गधाराहता मेऽद्य दीप्यमाना इवाद्रयः ॥३४॥

यदि इन्द्र भी शत्रु बन कर मेरे सामने आवे, तो उनके भी टुकड़े टुकड़े कर डालूँगा। इस तलवार के वार से काटे हुए हाथी घोड़े और मनुष्यों के हाथों पैरों और सिरों से भूमि पर ढेर लगा दूँगा, जिससे आने जाने का रास्ता तक न रहेगा। अर्थात् रणभूमि को मुर्दो से भर कर बड़ा भयङ्कर बना दूँगा। मेरी तलवार से कटे प्रदीप्त पर्वत की तरह ॥३३॥३४॥

---

१ स्तम्भहेतवः—तूण्या स्थापन हेतवः। (गो०)

पतिष्यन्ति द्विषा भूमौ मेघा इव सविद्युतः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने ॥३५॥

शत्रु लोग उस प्रकार ज़मीन पर गिरेंगे, जिस प्रकार बिजली सहित मेघ गिरते हैं। जब मैं गोह की खाल के बने दस्ताने पहिन हाथ में धनुष लूँगा ॥३५॥

कथं पुरुषमानी स्यात्पुरुषाणां मयि स्थिते ।
बहुभिश्चैकमत्यस्यन्नैकेने* च बहूञ्जनान् ॥३६॥

तब मैं देखूँगा कि, वह कौनसा शूराभिमानी वीर है, जो मेरा सामना करता है। मै बहुत से बाण चला कर, एक शत्रु को एक ही बाण से अनेक शत्रुओं को ॥३६॥

विनियोक्ष्याम्यहं बाणान्नृवाजिगजमर्मसु ।
अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य[1] प्रभावः[2] प्रभविष्यति ॥३७॥
राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ।
अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च ।
वसूनां[3] च विमोक्षस्य[4] सुहृदां पालनस्य च ॥३८॥

विनाश कर, सैनिकों, घोड़ों और हाथियों के मर्मस्थानों को बाणों से छेद डालूँगा। आज महाराज की प्रभुता मिटाने और आपकी प्रभुता जमाने में मेरे अस्त्रों के माहात्म्य का प्रताप भी प्रकट हो जायगा। हे राम! आज मेरी ये दोनों बाहें जो चन्दन-लेप, आभूषण धारण और द्रव्य दान देने तथा शत्रुओं से हितैषियों की रक्षा करने योग्य हैं ॥३७॥३८॥

---

१ अस्त्रप्रभावस्य—अस्त्रमाहात्म्यस्य। (गो०) २ प्रभावः—प्रतापः। (गो०) ३ वसूना—धनानां। (गो०) ४ विमोक्षस्य—त्यागस्य। (गो०) * पाठान्तरे—"न्नेकेन"।

अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः ।
अभिषेचनविघ्नस्य कर्तृणां ते निवारणे ॥३६॥

वे तुम्हारे अभिषेक में विघ्न डालने वालों के निवारण में अपने अनुरूप काम करेंगी ॥३६॥

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत्प्राणयशः सुहृज्जनैः ।
यथा तवेयं वसुधा वशे भवे-
त्तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः ॥४०॥

हे रामचन्द्र! मै तुम्हारा दास हूँ। मुझे तुम अपने शत्रु को बतलाओ और आज्ञा दो, जिससे मैं अभी उसे उसके प्राण यश और हितैषियो से अलग कर दूँ और इस पृथिवी का राज्य तुम्हारे हस्तगत हो जाय ॥४०॥

विमृज्य बाष्पं परिसान्त्व्य चासकृ-
त्स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः ।
उवाच पित्र्ये वचने व्यवस्थितं
निबोध मामेव हि सौम्य सत्पथे ॥४१॥

॥ इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

रघुकुल के बढाने वाले श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण की इन बातों को सुन और उनके आँसू पोछ बारंबार उनको समझाने लगे और कहने लगे—हे सौम्य! मुझे तो तुम पिता की आज्ञा मानने में अटल सत्पथगामी समझो। अथवा मैं पिता की आज्ञा मानूँगा,

क्योंकि पिता की आज्ञा मानना मानों सत्पथ पर चलना है अर्थात् सत्पुरुषों के लिए यही करणीय भी है ॥४१॥

अयोध्याकाण्ड का तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

चतुर्विंशः सर्गः

—:०:—

तं समीक्ष्य त्ववहितं पितुर्निर्देशपालने ।
कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत् ॥१॥

तदनन्तर जब कौसल्या जी ने देखा कि, धर्मिष्ठ श्रीरामचन्द्र पिता की आज्ञा मानने के लिए तत्पर हैं; तब वे आँखों में आँसू भर गद्गद कण्ठ से बोली ॥१॥

अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ।
मयि जातो दशरथात्कथमुञ्छेन वर्तयेत् ॥२॥

हे राम ! जिसने कभी दुःख नहीं सहा और जो धर्म में सदा तत्पर रहने वाला एवं सब से प्रिय वचन बोलने वाला है और जो महाराज दशरथ के औरस से मेरे गर्भ में उत्पन्न हुआ है, वह वन में किस प्रकार ऋषिवृत्ति से निर्वाह कर सकेगा ॥२॥

यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते ।
कथं स भोक्ष्यते नाथो वने मूलफलान्ययम् ॥३॥

जिसके नौकर चाकर मिठाई खाया करते हैं, वह मेरा राम किस प्रकार वन मे कन्दमूल फल खायगा ॥३॥

क एतच्छ्रद्दधेच्छ्रुत्वा कस्य वा न भवेद्भयम् ।
गुणवान् दयितो राज्ञा राघवो यद्विवास्यते ॥४॥

महाराज दशरथ अपने गुणवान् प्यारे पुत्र को देशनिकाला दे रहे हैं, यह बात सुन कर, इस पर कौन विश्वास करेगा और इस पर किसको भय न होगा। (जो कोई यह बात सुनेगा वही अपने पिता की ओर से भयभीत हो जायगा कि, जब महाराज जैसे श्रेष्ठ जन ने अपने निरपराध गुणी प्यारे पुत्र को निकाल दिया, तब हमारे पिता तो हमें क्यों घर मे रहने देंगे) ॥४॥

नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशन्[1] ।
लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि ॥५॥

जब सब लोगो के प्यारे तुम (श्रीरामचन्द्र) वन को जाओगे, तब सुख दुःख के नियमन-कर्त्ता दैव ही को निस्सन्देह सब से बड़ा मानना पड़ेगा ॥५॥

अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः ।
विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः ॥६॥

चिन्ताबाष्पमहाधूमस्तवादर्शनचित्तजः ।
कर्शयित्वा भृशं पुत्र निःश्वासायाससम्भवः ॥७॥

त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान् ।
प्रधक्ष्यति यथा कक्षं चित्रभानुर्[2]हिमात्यये ॥८॥

हे वत्स! मेरे मन की यह शोकरूपी आँच, जो तुम्हारे अदर्शन रूपी हवा से प्रज्वलित और विलाप एवं दुःख रूपी ईंधन

१ सर्व—सुखदुःखादिकं । (रा०) २ चित्रभानुः—वन्योग्निरिव । (गो०)

तथा आँसू रूपी घी के पड़ने से धधकेगी और जिससे चिन्ता रूपी धूआँ निकलेगा—वह मुझे सुखा कर उसी प्रकार भस्म कर डालेगी, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु के बीतने पर, दावानल (वन की आग) वन के घासफूस और लतागुल्मों को भस्म कर डालता है ॥६॥७॥८॥

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तं नानुगच्छति ।
अहं त्वानुऽगमिष्यामि पुत्र यत्र गमिष्यसि ॥९॥

हे वत्स ! जैसे गाय अपने बछड़े के पीछे दौड़ कर जाती है, उसी प्रकार मैं भी तेरे पीछे पीछे जहाँ कहीं तू जायगा—वहीं चलूँगी ॥९॥

तथा निगदितं मात्रा तद्वाक्यं पुरुषर्षभः ।
श्रुत्वा रामोऽब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥१०॥

जब कौसल्या ने श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार कहा, तब श्री-रामचन्द्र जी ने अत्यन्त दुखिनी अपनी माता से यह कहा ॥१०॥

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते ।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति ॥११॥

हे माता ! महाराज को कैकेयी ने धोखा दे कर, अत्यन्त क्लेशित कर दिआ है, मैं भी इस समय महाराज से बिछुड़ कर, वन जा रहा हूँ, तिस पर यदि तुम भी मेरे साथ चल दी तो, महाराज कभी जीवित न बचेगे ॥११॥

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः ।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसाऽपि विगर्हितः ॥१२॥

स्त्री के लिए सब से बढ़ कर निष्ठुर काम केवल पतिपरित्याग ही है। सो ऐसे निन्द्य कार्य की कल्पना भी तुझे अपने मन में न करनी चाहिए ॥१२॥

यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः ।
शुश्रूषा क्रियतां तावत्स हि धर्मः सनातनः ॥१३॥

जब तक मेरे पिता महाराज दशरथ जीवित हैं, तब तक तुम उनकी सेवा करो, तुम्हारे लिए यही सनातन धर्म है ॥१३॥

एवमुक्ता तु रामेण कौसल्या शुभदर्शना[1] ।
तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम् ॥१४॥

बड़े से बड़े कठिन कार्य को सहज में करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार समझाने पर, धर्मबुद्धि वाली महारानी कौसल्या मान गई और प्रसन्न हो कर बोलीं, (बेटा!) तुम ठीक कहते हो ॥१४॥

एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतांवरः ।
भूयस्तामब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥१५॥

धर्मात्माओं मे श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी, माता की स्वीकारोक्ति सुन अपनी अत्यन्त दुःखिनी माता से फिर बोले ॥१५॥

मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः ।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥१६॥

हे देवि! मुझे और तुम्हें पिता की आज्ञा अवश्य माननी चाहिए। क्योंकि महाराज एक तो तुम्हारे पति हैं दूसरे मेरे गुरु हैं, तीसरे पिता हैं और चौथे सब के पालन पोषण करने वाले स्वामी और प्रभु हैं ॥१६॥

---

१ शुभदर्शना—धर्मबुद्धिरित्यर्थः । (गो०)

इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च ।
वर्षाणि परमप्रीतः स्थास्यामि वचने तव ॥१७॥

मैं चौदह वर्षों को हँसी खुशी में बिता, तुरन्त लौट कर आता हूँ। तब तू जो कहेगी वही मैं करूँगा ॥१७॥

एवमुक्त्वा प्रियं पुत्रं वाष्पपूर्णानना तदा ।
दुःखान्यसहमाना सा कौसल्या राममब्रवीत्* ॥१८॥

प्रिय पुत्र की इन बातों को सुन, छलछल बहने वाले आँसुओं से भरे नेत्रों वाली और सर्वप्रकार के दुःखो को सहने में असमर्थ, महारानी कौसल्या जी, श्रीरामचन्द्र से बोलीं ॥१८॥

आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम् ।
नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीं यथा† ।
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया[1] ॥१९॥

हे काकुत्स्थ ! मैं यहाँ सौतों के बीच रहने में असमर्थ हूँ, अतः यदि तुमने पिता की आज्ञा से वन जाने ही का निश्चय कर लिआ है तो, मुझे भी बनैली हिरनी की तरह अपने साथ ही लेता चल ॥१९॥

[टिप्पणी—बनैली हिरनी के साथ उपमा देने का भाव यह है कि जिस प्रकार वन की हिरनी वन में प्रसन्न रहती है—वैसे ही मैं भी वहाँ प्रसन्न रहूँगी और तुम्हें किसी बात के लिए कष्ट न दूँगी। (गो०)]

तां तथा रुदतीं रामो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥२०॥

इस प्रकार विलाप करती हुई माता से, श्रीरामचन्द्र जी रो कर कहने लगे ॥२०॥

---

१ पितुरपेक्षया—पितुरिच्छया । (गो०) * पाठान्तरे—"एवं परमार्ता तु कौसल्या पुत्रवत्सला ।" † पाठान्तरे—"मृगीमिव" ।

जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च ।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥२१॥

जब तक स्त्री जिए, तब तक उसे उचित है, कि वह अपने पति ही को अपना देवता और मालिक माने । अतः इस समय आपके और मेरे मालिक महाराज ही हैं ॥२१॥

न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता ।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥२२॥

लोकनाथ और बुद्धिमान महाराज के रहते हम लोग अनाथ नहीं हो सकते (कौसल्या ने जो कहा कि मैं सौत के साथ नहीं रह सकूँगी इस बात के उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं) भरत भी धर्मात्मा हैं और सब से प्रिय बोलने वाले अर्थात् सज्जन हैं ॥२२॥

भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा ।
यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः ॥२३॥

वे सब प्रकार तुम्हारा मन रखेंगे और तुम जो कहोगी वही वे करेंगे। मेरे वन जाने पर, मेरे वियोग में, जिससे महाराज को ॥२३॥

श्रमं नावाप्नुयात्किञ्चिदप्रमत्ता तथा कुरु ।
दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥२४॥

जरा भी कष्ट न हो सो काम बड़ी सावधानी से करती रहना। इस दारुण शोक से वे मरने न पावें ॥२४॥

राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता ।
व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥२५॥

महाराज की अब वृद्धावस्था है, अतः बड़ी सावधानी से उनके हित में तत्पर रहना। क्योंकि जो परमोत्तम स्त्री व्रतोपवास तो किआ करती है ॥२५॥

भर्तारं नानुवर्तेत सा तु पापगतिर्भवेत् ।
भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥२६॥

किन्तु अपने पति की सेवा नहीं करती, वह पापियों की गति को प्राप्त होती है अर्थात् नरक में डाली जाती है और जो स्त्री (व्रतोपवास न कर) अपने पति (ही) की सेवा शुश्रूषा में लगी रहती है, उसे स्वर्ग मिलता है ॥२६॥

अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।
शुश्रूषा मेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥२७॥

भले ही वह स्त्री किसी देवी देवता की पूजा न करे, किन्तु यदि वह पति की सेवा ही करती हुई, सदा पति की भलाई करने में तत्पर रहे तो, उसे निश्चय ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥२७॥

एष धर्मः पुरादृष्टो[1] लोके वेदे श्रुतः[2] स्मृतः ।
अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥२८॥

स्त्रियों के लिए पतिसेवा ही प्राचीन-लोकाचार-सिद्ध, वेद और स्मृत्यनुकूल धर्म है। हे देवि! शान्तिक पौष्टिक कर्म कर के पुष्पादि से देवताओं का पूजन और ॥२८॥

पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सुव्रताः ।
एवं कालं प्रतीक्षस्व मामागमनकाङ्क्षिणी ॥२९॥

---

१ पुरादृष्टः—पुरातनलोकाचारसिद्ध. । (गो०) २ वेदे श्रुतः—वेदावगत । (गो०)

सुव्रती ब्राह्मणों का सत्कार, मेरे मङ्गल के लिए करती रहना और यह अनुष्ठान करती हुई, मेरे लौटने की प्रतीक्षा करना ॥२६॥

नियता[1] नियताहारा[2] भर्तृशुश्रूषणे रता ।
प्राप्स्यसे परमं कामं मयि प्रत्यागते सति ॥३०॥
यदि धर्मभृतां श्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम् ।
एवमुक्ता तु रामेण बाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥३१॥

स्नानादि कर और मधु मांसादि छोड़ कर, शुद्धाहार कर, तू महाराज की सेवा करना। मेरे लौटने तक यदि धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महाराज जीवित रहें, तो तेरा बड़ा मनोरथ पूर्ण होगा। जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार (महाराज की सेवा करने को अयोध्या ही मे रहने के लिए) समझाया, तब आँखों में आँसू भर ॥३०॥३१॥

कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत् ।
गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक ॥३२॥

पुत्रवियोग के शोक से आर्त, कौसल्या जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा। हे वत्स! जब तू वन जाने की अपने मन मे ठान ही चुका, तब मुझमे शक्ति नहीं कि तुझे ॥३२॥

विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः ।
गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥३३॥

मैं रोक सकूँ। हे वीर! सचमुच काल दुर्लंघ्य है। अर्थात् भावी को कोई नहीं रोक सकता। अतः हे पुत्र! तू एकाग्र मन

---

१ नियता—स्नानादिनियमयुक्ता। (गो०) २ नियताहारा—मधुमांसादिवर्जनेन शुद्धाहारा। (गो०)

से अर्थात् सावधानता पूर्वक वन जा। तेरा सदा कल्याण हो ॥३३॥

पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा[१]।
प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते ॥३४॥
पितुरानृण्यतां प्राप्ते त्वयि लप्स्ये परं सुखम्।
कृतान्तस्य गतिः पुत्र दुर्विभाव्या सदा भुवि ॥३५॥

तेरे लौट आने पर ही मेरा क्लेश दूर होगा। हे महाभाग! जब तू लौट आवेगा, जब तेरा यह व्रत पूरा हो जायगा और जब तू पिता को इस ऋण से उऋण हो जायगा (पिता की आज्ञा पालन कर चुकेगा), तब मुझे बड़ा आनन्द होगा। इस संसार में भाग्य की गति कभी समझ नहीं पड़ती ॥३४॥३५॥

यस्त्वां सञ्चोदयति मे वच आच्छिद्य राघव।
गच्छेदानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः।
नन्दयिष्यसि मां पुत्र साम्ना शुद्धेन चेतसा* ॥३६॥

क्योंकि यह भाग्य ही की गति है, जो मेरे कथन के प्रतिकूल तुमको प्रेरणा कर रही है। हे राघव! तुम अब जाओ और कुशल पूर्वक लौट कर आ जाओ और शुद्ध चित्त से मुझे हर्षित करो ॥३६॥

अपीदानीं स कालः स्याद्वनात्प्रत्यागतं पुनः।
यत्त्वां पुत्रक पश्येयं जटावल्कलधारिणम् ॥३७॥

---

१ गतक्लमा—गतक्लेशा। (गो०) * पाठान्तरे—"वाक्येन चारुणा"॥

. हे वत्स ! मैं तो चाहती हूँ कि वह समय शीघ्र आवे, जब मैं तुम्हें वन से लौटे हुए और जटा वल्कल धारण किए हुए देखूँ ॥३७॥

तथा हि रामं वनवासनिश्चितं
समीक्ष्य देवी परमेण[1] चेतसा ।
उवाच रामं शुभलक्षणं वचो
बभूव च स्वस्त्ययनाभिकाङ्क्षिणी ॥३८॥

इति चतुर्विंशः सर्ग. ॥

उस समय महारानी कौसल्या जी श्रीरामचन्द्र जी को परम-आदर पूर्वक वन जाने के लिए निश्चय किए हुए जान, स्वस्ति-वाचन करने की इच्छा से, उनसे शुभवचन बोलीं ॥३८॥

अयोध्याकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

पञ्चविंशः सर्गः

—:o:—

साऽपनीय तमायासमुपस्पृश्य जलं शुचि ।
चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी ॥१॥

शोक को त्याग कौसल्या जी ने जल से आचमन किआ और पवित्र हो, वे श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिए मङ्गलाचार करने लगीं ॥१॥

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम ।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे ॥२॥

---

१ परमेणचेतसा—आदरेणेति । (गो०)

हे रघुवंशियों में उत्तम ! मैं अब तुझको नहीं रोक सकती। अब तू जा और शीघ्र ही वहाँ से लौट कर, सज्जनों के अनुसरण किए हुए मार्ग का अनुसरण कर ॥२॥

यं पालयसि धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च ।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥३॥

हे राघवशार्दूल ! जिस धर्म को तू धैर्य और नियमित रूप से पाल रही है, वही धर्म तेरी रक्षा करे ॥३॥

येभ्यः प्रणमसे पुत्र चैत्येष्वायतनेषु च ।
ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः ॥४॥

जिन देवताओं को तू चौराहों और देवमन्दिरों में प्रणाम किआ करता है, वे महर्षियो सहित वन में तेरी रक्षा करे ॥४॥

यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता ।
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं[1] सदा ॥५॥

बुद्धिमान विश्वामित्र जी ने तुझे जितने अस्त्र दिए हैं, वे सब श्रेष्ठ गुणयुक्त अस्त्र तेरी रक्षा करे ॥५॥

पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा ।
सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः ॥६॥

हे महाबाहो ! पिता की सेवा (के फल) से और माता की सेवा (के फल) से तथा सत्य की रक्षा (के फल) से रक्षित, तू बहुत दिनो जी ॥६॥

---

१ समुदितं—श्रेष्ठं (गो०)

समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च ।
स्थण्डिलानि[1] विचित्राणि शैला वृक्षाः क्षुपा[2] हृदाः ॥७॥

हे नरोत्तम ! समिधा, कुश, कुश की बनी पवित्री, वेदियाँ, देवमन्दिर, चित्रविचित्र देवपूजास्थल, पर्वत, छोटे बड़े वृक्ष, जलाशय ॥७॥

पतङ्गाः पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम ।
स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षयः ॥८॥

पक्षी, सर्प और सिंह तेरी रक्षा करें । साध्यगण, विश्वेदेव, उनचास पवन, सब महर्षि तेरा मङ्गल करें ॥८॥

स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा ।
लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा ॥९॥

धाता, विधाता, पूषा, अर्यमा इन्द्रादि लोकपाल; तेरा मङ्गल करें ॥९॥

ऋतवश्चैव पक्षाश्च मासाः संवत्सराः क्षपाः ।
दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा ॥१०॥

छः ऋतुएँ, दोनों पक्ष, बारहों मास, सब सवत्सर, रात दिन, तथा मुहूर्त्त, तेरी रक्षा करें ॥१०॥

स्मृति[3]र्धृतिश्च[4] धर्मश्च[5] पातु त्वां पुत्र सर्वतः ।
स्कन्दश्च[6] भगवान्देवः[7] सोमश्च[8] सबृहस्पतिः ॥११॥

---

१ स्थण्डिलानि—देवपूजास्थलानि । (गो०) २ क्षुपाः—ह्रस्वशाखास्तरवः । (रा०) ३ स्मृतिः—ध्यान । (गो०) ४ धृतिः—ऐकाग्र्य । (गो०) ५ धर्मः—श्रुतिस्मृत्युदितः । (गो०) ६ स्कन्दः—सनत्कुमारः । कुमारो वा । (गो०) ७ भगवान्देवः—देवो महादेवः । (शि०) ८ सोमः—उमासहितः । (शि०)

हे वत्स ! ध्यान, एकाग्रता (अर्थात् निष्पन्न योग) और श्रुति स्मृति-उक्त धर्म सर्वत्र तेरी रक्षा करे। भगवान् सनत्कुमार, उमा सहित श्रीमहादेव जी, (अथवा महादेव और चन्द्रमा) बृहस्पति ॥११॥

सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः ।
ये चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः ॥१२॥

सप्तर्षि और नारद जी सदैव तेरी रक्षा करें । जो और सिद्ध लोग और सब दिशाओं के स्वामी हैं ॥१२॥

स्तुता मया वने तस्मिन्पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः ।
शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च ॥१३॥

हे पुत्र ! उन सब की मैं स्तुति करती हूँ कि, वे सब नित्य तेरी रक्षा करें। सब पर्वत, सब समुद्र, राजा वरुण ॥१३॥

द्यौरन्तरिक्ष पृथिवी नद्यः सर्वास्तथैव च ॥१४॥
नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सहदेवताः ॥१४॥

आकाश, अन्तरिक्ष, पृथिवी सब नदी, सब नक्षत्र, देवताओं सहित सब ग्रह ॥१४॥

अहोरात्रे तथा सन्ध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम् ।
ऋतवश्चैव षट् पुण्या मासाः संवत्सरास्तथा ॥१५॥

दिन रात और दोनों सन्ध्याएँ, वन में तेरी रक्षा करें। छहो ऋतुएँ, बारहों मास, सब संवत्सर, ॥१५॥

[टिप्पणी—१० वें श्लोक में भी छः ऋतुएँ आदि वर्णित हो चुकीं हैं। इसी प्रकार आगे भी कौसल्या जी के कथन में पुनरुक्ति पाई जाती है। इन पुनरुक्तियों का कारण केवल यह है कि, भावी पुत्रवियोग के कारण कौशल्या जी का मन स्थिर नहीं है।]

कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म[1] दिशन्तु ते ।
महावने विचरतो मुनिवेषस्य धीमतः ॥१६॥

कला, काष्ठा, तुमको सुख दे । बुद्धिमान् एवं मुनिवेष धारण कर, वन मे विचरते हुए ॥१५॥

तवादित्याश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा ।
राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ॥१७॥

तेरे लिए आदित्यादि देवता और दैत्य सदा सुखदायी हों। राक्षस, पिशाच तथा भयङ्कर एवं क्रूर कर्म करने वाले जितने जीव हैं ॥१७॥

क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत्पुत्रक ते भयम् ।
प्लवगा[2] वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने ॥१८॥

और जितने मॉसभक्षी जीव हैं, उन सब से तुझे वन में भय न हो । वानर, बीछी, डॉस, मच्छर ॥१८॥

सरीसृपाश्च कीटाश्च मा भूवन्गहने तव ।
महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा ऋक्षाश्च दंष्ट्रिणः ॥१९॥

पहाड़ी सर्प, कीड़े, ये भी तुझे वन में दुःखदायी न हो । मतवाले हाथी, सिंह, बाघ, रीछ आदि भयङ्कर दॉतों वाले जानवर ॥१९॥

महिषा शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुह्यन्तु पुत्रक ।
नृमांसभोजिनो रौद्रा ये चान्ये सत्त्वजातयः[3] ॥२०॥

---

१ शर्म—सुख । (गो०) २ प्लवगाः—वानराः (ग०) ३ सत्त्वजातयः—क्रूरजन्तवः । (गो०)

जंगली भैंसे, जिनके सींग बड़े भयङ्कर हैं, हे पुत्र ! तुझसे द्रोह न करे। अन्यायी क्रूर जन्तु, जो मनुष्यमाँसभक्षी और भयङ्कर हैं ॥२॥

मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र मया सम्पूजितास्त्विह ।
आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः ॥२१॥

उन सब की मैं यहाँ आराधना करती हूँ कि, वन में वे तेरी हानि न करें। तेरा मार्ग मङ्गल रूप हो और तेरा पराक्रम सिद्ध हो ॥२१॥

[टिप्पणी—शिरोमणिटीकाकार ने "आगम" का अर्थ किआ है, आगमनानुकूल व्यापार—अर्थात् वेदविहित जितने कर्म हैं वे सब मङ्गलविशिष्ट हों अर्थात् निर्विघ्न पूरे होते रहें।]

सर्वसम्पत्तये[1] राम स्वस्तिमान्गच्छ पुत्रक ।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः ॥२२॥

हे पुत्र ! वन के फल मूलादि, तुझे मिलते रहें और तू निर्विघ्न वन में विचरता रहे। आकाश और पृथिवी के पदार्थों से वार बार तेरी रक्षा हो ॥२२॥

सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः[2] ।
शक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा ॥२३॥

सब देवताओं से तथा उन सब से जो तेरे शत्रु हों, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, कुवेर और यम ॥२३॥

---

१ सर्वसम्पत्तये—वन्य फल मूलादि सम्पत्तये। (गो०) २ परिपन्थिनः—शत्रवः (गो०)।

पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ।
अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखाच्च्युताः[१] ॥२४॥

ये सब तुमसे पूजित हो कर, दण्डकवन में तेरी रक्षा करें। अग्नि, वायु, धूम और ऋषियों के बतलाए मन्त्र ॥२४॥

उपस्पर्शनकाले[२] तु पान्तु त्वां रघुनन्दन ।
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतभर्ता[३] तथर्षयः ॥२५॥

'हे रघुनन्दन! अछूतों के छूते समय अथवा अस्पृश्य पदार्थों को छूने के समय, तेरी रक्षा करें। सब लोकों के स्वामी ब्रह्मा, प्राणिमात्र का पालन करने वाले भगवान् विष्णु, ऋषि ॥२५॥

ये च शेषाः सुरास्ते त्वां रक्षन्तु वनवासिनम् ।
इति माल्यैः सुरगणान्गन्धैश्चापि यशस्विनी ॥२६॥

तथा अन्य देवता, जो मुझसे छूट गए हों, वे सब वन में तेरी रक्षा करें। इस प्रकार यशस्विनी माता कौसल्या ने फूल चन्दन से देवताओं की पूजा ॥२६॥

स्तुतिभिश्चानु*रूपाभिरानर्चायतलोचना ।
ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना ॥२७॥

और उनकी यथायोग्य स्तुति की। तदनन्तर अग्नि प्रज्ज्वलित करवा, विधि विधान जानने वाले विद्वान ब्राह्मण द्वारा ॥२७॥

---

१ मुखाच्च्युता—निर्गताः, त्वयागृहीता (वि०) २ उपस्पर्शनकाले—अस्पृश्यस्पर्शनसमये। (शि०) ३ भूतभर्ता—नारायण। (गो०)

* पाठान्तरे "अनुकूलाभिः"।

हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् ।
घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधः श्वेतसर्षपान् ॥२८॥

श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिए विधिपूर्वक हवन करवाया। घी, सफेद फूल, समिधा और सफेद सरसों ॥२८॥

उपसम्पादयामास कौसल्या परमाङ्गना ।
उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्ति[1]मनामयम्[2] ॥२९॥

आदि हवन का सामान कौसल्या जी ने एकत्र कर, वेदी के पास रख दिआ। तब हवन करने वाले ब्राह्मण ने, सर्वोपद्रव शान्ति के लिए तथा श्रीरामचन्द्र जी की आरोग्यता के उद्देश्य से, हवन किआ ॥२९॥

हुतहव्यावशेषेण बाह्यं[3] बलिमकल्पयत् ।
मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्य द्विजांस्ततः ॥३०॥

तदनन्तर हवन से बचे हुए साकल्य से होमस्थान के बाहिर स्थल पर लोकपालो को बलि दी और शहत, दही, अक्षत, घी द्वारा ब्राह्मणों से ॥३०॥

वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाः ।
ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी ॥३१॥

वन में, श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिए, स्वस्तिवाचन कर्म करवाया। तदनन्तर इस कर्म कराने वालो में मुख्य जो ब्राह्मण था, उसको श्रीरामचन्द्र जी की यशस्विनी माता कौसल्या जी ने ॥३१॥

---

१ शान्ति—सर्वोपद्रव शान्ति। (गो०) २ अनामयम्—आरोग्यं। (गो०) ३ बाह्यं—होमस्थानाद्बहिर्भव। (गो०)

दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् ।
यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ॥३२॥

मुँहमाँगी दक्षिणा दी और श्रीरामचन्द्र जी से कहा। हे राम ! जैसा मङ्गल सब देवताओं से नमस्कृत इन्द्र का ॥३२॥

वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताऽकल्पयत्पुरा ॥३३॥

वृत्रासुर के नाश के समय हुआ था, वैसा ही मङ्गल तेरा हो। जैसा मङ्गल पूर्वकाल मे विनता की प्रार्थना से गरुड़ जी का, ॥३३॥

अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ॥३४॥

जब वे अमृत लेने गए थे, हुआ था, वैसा ही मङ्गल तेरा हो। समुद्र से अमृत निकालने के समय वज्रधारी इन्द्र, जब दैत्यो को मारने के लिए प्रवृत्त हुए ॥३४॥

अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ॥३५॥

तब उनकी माता अदिति ने उनका जैसा मङ्गल किआ था, वैसा ही तेरा भी हो। अतुल तेजधारी त्रिविक्रम भगवान का, जो तीन पाद से तीनो लोक नाप रहे थे ॥३५॥

यदासीन् मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ॥३६॥

जैसा मङ्गल हुआ था, हे राम! वैसा ही मङ्गल तेरा हो। ऋतुएँ, समुद्र, द्वीप, वेद, लोक और दिशाएँ तेरा, ॥३६॥

मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमङ्गलाः ।
इति पुत्रस्य शेषांश्च[1] कृत्वा शिरसि भामिनी ॥३७॥

हे महाबाहो! शुभ मङ्गल करें। इस प्रकार मङ्गलपाठ पढ़, पुत्र के मस्तक पर कौसल्या जी ने अक्षत चढ़ाए ॥३७॥

गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना ।
ओषधीं चापि सिद्धार्थां[2] विशल्यकरणीं शुभाम् ॥३८॥

और फिर विशालाक्षी कौसल्या ने श्रीराम जी के मस्तक पर चन्दन लगाया और प्रत्यक्ष फल देने वाली शुभ विशल्यकरिणी* नाम की रूखरी भी रखी ॥३८॥

चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च ।
उवाचातिप्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी ॥३९॥

तदनन्तर कौसल्या ने श्रीरामचन्द्र की रक्षा के लिए मंत्र जपे। यद्यपि श्रीराममाता उस समय अत्यन्त दुखी थीं, तथापि (यात्रा के समय दुःखी होने का शास्त्रीय निषेध होने के कारण) हर्षित हो, बोलीं ॥३९॥

वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया ।
आनम्य मूर्ध्नि चाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनी ॥४०॥

---

१ शेषान्—अक्षतानि। (गो०) २ सिद्धार्था—इष्टफला। (गो०)

* "विशल्यकरिणी" का गुण यह है कि, इसके लगाते ही शरीर में घुसा हुआ बाण या काँटा, अपने आप बाहिर निकल आता है और उसका घाव भी अपने आप तुरन्त पुर जाता है।

किन्तु बोलते ही मारे प्रेम के कौसल्या की वाणी गद्गद् हो गई। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी को हृदय से लगा कर, उनका सिर सूँघा ॥४०॥

अवदत्पुत्र सिद्धार्थो गच्छ राम यथासुखम्।
अरोग सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ॥४१॥

और बोलीं, हे बेटा! अब जहाँ तेरी इच्छा हो, वहाँ चला जा और तू रोगरहित शरीर से, पिता की आज्ञा का पालन कर और फिर अयोध्या को लौट आ ॥४१॥

पश्यामि त्वां सुखं वत्स सुस्थितं[1] राजवर्त्मनि।
प्रनष्टदुःखसङ्कल्पा[2] हर्षविद्योतितानना ॥४२॥

हे वत्स! जब तू (वन से लौट कर) राजा होगा और मैं जब तुझको मन भर कर देखूँगी, मुझे तभी आनन्द प्राप्त होगा। उस समय मेरे मन की सब चिन्ताएँ नष्ट हो जायँगी। मुझे प्रसन्नता होगी और मेरे मन की उमग पूरी होगी ॥४२॥

द्रक्ष्यामि त्वां वनात्प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवोदितम्।
भद्रासनगतं भद्रं वनवासादिहागतम् ॥४३॥

वन से लौट कर आए हुए और पूर्णमासी के पूर्ण चन्द्रमा की तरह उदित और भद्रासन पर बैठे हुए तेरे मङ्गल रूप को देख, मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी ॥४३॥

---

१ सुस्थितंराजवर्त्मनि—प्राप्तराज्यमितियावत्। (रा०) २ प्रनष्टदुःख सङ्कल्पा—सङ्कल्पः मानसकर्म—वनेरामस्यकिंभविष्यतीति चिन्तात्मक इत्यर्थः। (गो०)

द्रक्ष्यामि *त्वामहं पुत्र तीर्णवन्तं पितुर्वचः ।
मङ्गलैरुपसम्पन्नो[1]वनवासादिहागतम् ।†
वध्वा[2] मम च नित्यं त्वं कामान्संवर्धयाहि भो ॥४४॥

हे पुत्र! जब मैं देखूँगी कि, तू पिता की आज्ञा पालन कर चुका है और वन से लौट कर राजोचित वस्त्र तथा आभूषण धारण किए हुए है, मुझे तो तभी प्रसन्नता होगी। हे राघव! अब तू गमन कर और सीता के तथा मेरे मनोरथों को सदा पूर्ण कर ॥४४॥

मयाऽर्चिता देवगणाः शिवादयो
महर्षयो भूतमहासुरोरगाः ।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते
हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥४५॥

हे राघव! मैंने जिन शिवादि देवताओं की, महर्षियो की, भूतगण की और दिव्य सर्पो की आज तक पूजा की है, वे सब तथा सब दिग्पाल, चिरकाल पर्यन्त, वनयात्रा में तेरा मङ्गल करते रहें ॥४५॥

इतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना
समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं
पुनः पुनश्चापि निपीड्य सस्वजे ॥४६॥

---

१ मङ्गलैरुपसम्पन्नो—राजोचितवस्त्राभरणैः । (रा०) २ वध्वाः—सीतायाः; । (रा०)

* पाठान्तरे—"च पुनस्त्वा तु ।" † पाठान्तरे—"इहागतः ।"

इस प्रकार आशीर्वाद दे, कौसल्या जी ने स्वस्तिवाचन कर्म यथाविधि पूरा किआ और आँखों मे आँसू भर, श्रीरामचन्द्र की प्रदक्षिणा की और उनको वार वार हृदय से लगा, वे उनके मुख की ओर एकटक निहारती रहीं ॥४६॥

तथा तु देव्या स कृतप्रदक्षिणो
निपीड्य[1] मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
जगाम सीतानिलयं महायशाः
स राघवः प्रज्वलितः स्वया[2] श्रिया ॥४७॥

॥ इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

जब देवी कौसल्या वारंवार श्रीरामचन्द्र जी की प्रदक्षिणा कर चुकीं, तब श्रीरामचन्द्र जी ने भी वारंवार उनके चरण छुए। फिर महायशस्वी श्रीरामचन्द्र स्वत.सिद्ध शोभा से दीप्तिमान् सीता के घर चले गए ॥४७॥

अयोध्याकाण्ड का पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०·—

षड्विंशः सर्गः

—·०:—

कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे[3] वर्त्मनि स्थितः ॥१॥
अभिवाद्य च कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।

---

१ निपीड्य—नमस्कृत्य । (रा०) २ स्वया—स्वतः सिद्धया । (गो०)
३ धर्मिष्ठे—अतिशयित धर्मे । (गो०)

स्वस्तिवाचन हो जाने पर, अतिशय धर्म में स्थित धर्मात्मा, श्रीरामचन्द्र जी माता के चरणों को प्रणाम कर, वन जाने को तैयार हुए ॥१॥

विराजयन्राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम् ।
हृदयान्याममन्थेव जनस्य गुणवत्तया ॥२॥

श्रीरामचन्द्र जी लोगों (की भीड़) से भरे हुए राजमार्ग को सुशोभित करते एवं अपने गुणों के प्रभाव से सब लोगों के मनों को मथन करते हुए, चले जाने लगे ॥२॥

वैदेही चापि तत्सर्वं न शुश्राव तपस्विनी ।
तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥३॥

अभी तक यह सारा वृत्तान्त तपस्विनी सीता जी ने नहीं सुना था। उनके मन में उस समय श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक ही की बात थी ॥३॥

देवकार्यं स्वयं कृत्वा कृतज्ञा[1] हृष्टचेतना ।
अभिज्ञा राजधर्माणां[2] राजपुत्रं प्रतीक्षते ॥४॥

अतः उस समय स्वयं देवपूजादि कर्म समाप्त कर, राजचिह्नों को जानने वाली सीता जी, अभिषिक्त हुए श्रीरामचन्द्र जी की अभ्यर्थना करने के लिए प्रसन्न हो, प्रतीक्षा कर रही थी ॥४॥

---

१ कृतज्ञा—अभिषिक्तभर्तृविषयेपटमहिषीभिः गन्धपुष्पादिनाकृत पादार्चनादिसमाचारज्ञेत्यर्थः। (गो०) २ राजधर्माणामभिज्ञा—अभिषिक्त-राजा साधारण लक्षणानि श्वेतच्छत्रचामर पुरस्कृत भद्रासनादीनिज्ञात, वती। (गो०)

प्रविशन्नेव*रामस्तु स्वं वेश्म सुविभूषितम् ।
प्रहृष्टजनसम्पूर्णं ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ॥५॥

इतने ही मे श्रीरामचन्द्र जी लज्जा से मुख नीचे किए हुए, भली भाँति सजे हुए और प्रसन्न मनुष्यो से भरे हुए अपने घर मे गए ॥५॥

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम् ।
अपश्यच्छोकसन्तप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥६॥

सीता जी, शोक और चिन्ता से विकल श्रीरामचन्द्र जी को देख, काँपती हुई आसन से उठ खड़ी हुई ॥६॥

तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् ।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ॥७॥
विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम् ।
आह दुःखाभिसन्तप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥८॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता को देख, अपने मानसिक शोक के वेग को न रोक सके। पति का उतरा चेहरा, उनको प्रस्वेद (पसीना) युक्त और अत्यन्त शोकान्वित देख, स्वयं दुःखसन्तप्त हो कर, सीता जी ने श्रीरामचन्द्र जी से पूछा—हे प्रभो! यह क्या हुआ? ॥७॥८॥

अद्य बार्हस्पतः श्रीमानुक्तः पुष्यो नु राघव ।
प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥९॥

आज तो चन्द्रमा के सहित पुष्य नक्षत्र का योग है और लग्न में बृहस्पति जी बैठे हुए हैं। विद्वान ज्योतिर्विद् ब्राह्मणों के मता-

---

*पाठान्तरे—"प्रविवेशाथ"।

नुसार आज का दिन राज्याभिषेक के लिए अच्छा है। सो तुम ऐसे उदास क्यों हो रहे हो ? ॥९॥

न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च।
आवृतं वदनं वल्गु *च्छत्रेणापि विराजते ॥१०॥

सौ कीलियों का बना हुआ जलफेन के समान सफेद छत्र तुम्हारे ऊपर तना हुआ मैं नहीं देखती ॥१०॥

व्यंजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम्।
चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥११॥

और क्या कारण हैं जो चन्द्रमा और हंस के समान सफेद चॅवर तुम्हारे चेहरे पर नहीं ढुर रहे हैं ॥११॥

वाग्मिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ।
स्तुवन्तो नात्र दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः ॥१२॥

हे नरश्रेष्ठ ! आज वाग्मी बन्दीजन प्रसन्न हो, तुम्हारी स्तुति नहीं करते और न सूत और मागध ही मङ्गल पाठ पढ़ते हैं ॥१२॥

न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः।
मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य दधति स्म विधानतः ॥१३॥

राज्याभिषिक्त तुम्हारे सिर पर वेदज्ञ ब्राह्मणों ने शहद और दही यथाविधि क्यों नहीं छिड़का ॥१३॥

न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा ॥१४॥

---

* पाठान्तरे—"छत्रेणापि"।

फिर मंत्री, पुरवासी, राज्यनिवासी तथा दरबारी लोग अनेक प्रकार के बढ़िया कपड़े और गहने पहन कर क्यों आपके पीछे चलना नहीं चाहते ॥१४॥

चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषितैः* ।
मुख्यः पुष्यरथो[1] युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः ॥१५॥

आज बड़े वेग वाले और सोने के आभूषणों से सजे हुए चार उत्तम घोड़ों से युक्त उत्सवरथ तुम्हारे आगे क्यों नहीं चलता ॥१५॥

न हस्ती चाग्रतः श्रीमांस्तव लक्षणपूजितः ।
प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः ॥१६॥

सुलक्षणों से युक्त काले मेघ के समान रंग वाला और पर्वत के समान ऊँचा हाथी तुम्हारे प्रयाण (जलूस) में क्यों नहीं देख पड़ता ॥१६॥

न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन ।
भद्रासनं पुरस्कृत्य यातं वीरपुरस्कृतम् ॥१७॥

हे वीर ! आज सोने का बना हुआ और अति सुन्दर तुम्हारा भद्रासन, जिसे नौकर आगे ले कर चलता था, क्यों दिखलाई नहीं पड़ता ॥१७॥

अभिषेको †यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव ।
अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते ॥१८॥

---

१ पुष्यरथः—उत्सवायकल्पितरथ इत्यर्थः । (गो०)

* पाठान्तरे—"भूषणैः" । † पाठान्तरे—"यथा" ।

जब कि अभिषेक की सभी तैयारियाँ हो चुकी हैं तब फिर आपके चेहरे का रंग ऐसा अपूर्व क्यों हो रहा है। चेहरे पर प्रसन्नता की रेख तक न देख पड़ने का कारण क्या है ॥१८॥

इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः ।
सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम् ॥१९॥

सीता जी के ऐसे दुःख भरे वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे सीते! पूज्य पिता जी ने मुझे वन जाने की आज्ञा दी है ॥१९॥

कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि ।
शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाभ्यागतं मम ॥२०॥

हे बड़े कुल में उत्पन्न, धर्म जानने वाली और धर्म करने वाली जानकी! सुन, जिस प्रकार मुझे यह वनवास की आज्ञा मिली है, उसे बतलाता हूँ ॥२०॥

राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन च ।
कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तौ महावरौ ॥२१॥

सत्यप्रतिज्ञ मेरे पिता महाराज दशरथ ने, मेरी माता कैकेयी को पूर्व काल में (आज से बहुत दिनों पहले) दो वर दिए थे ॥२१॥

तयाऽद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते ।
प्रचोदितः ससमयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः ॥२२॥

सो कैकेयी ने, महाराज को, मेरा राज्याभिषेक करने में उद्यत देख, उस समय के वरों की बात उठा कर, सत्यद्वारा महाराज को अपने वश में कर लिया ॥२२॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया ।
पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः ॥२३॥

(उन दो वरों के अनुसार अब) मुझको चौदह वर्षों तक दण्डकवन में रहना पड़ेगा और भरत का युवराजपद पर अभिषेक होगा ॥२३॥

सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम् ।
भरतस्य समीपे तु नाहं कथ्यः कदाचन ॥२४॥

तुझे देखने के लिए मैं यहाँ आता हूँ। क्योंकि मैं तो अब वन जा रहा हूँ। देखना भरत के सामने मेरी प्रशंसा मत करना ॥२४॥

ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम् ।
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम ॥२५॥

क्योंकि समृद्धिवान् पुरुषों को दूसरों की प्रशंसा सह्य नहीं होती। अतः तू भरत के सामने मेरी बड़ाई मत करना ॥२५॥

नापि त्वं तेन भर्तव्या विशेषेण कदाचन ।
अनुकूलतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम् ॥२६॥

नहीं तो भरत विशेषरूप से तेरा भरण पोषण न करेंगे। यदि तू भरत जी की इच्छा के अनुकूल चली, तो ही तेरा यहाँ निर्वाह हो सकेगा ॥२६॥

तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम् ।
स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः ॥२७॥

भरत को महाराज ने सनातन (सदा के लिए) यौवराज्य दिया है। अतः तुझको उचित है कि, इस तरह रहना जिससे वे तुझ पर प्रसन्न बने रहें। क्योंकि राजा को प्रसन्न रखना ही चाहिए ॥२७॥

अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन् ।
वनमद्यैव यास्यामि स्थिरा भव मनस्विनि ॥२८॥

अब मैं पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए अभी वन जाता हूँ । सो हे मनस्विनी ! तू स्थिरचित्त हो कर रह ॥२८॥

याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम् ।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥२६॥

हे अनघे ! जब मैं मुनिवेषधारी हो वन को चला जाऊँ, तब तू व्रतोपवास करना अर्थात् जब मैं वन में मुनिवेष धारण कर रहूँगा, तब तुझे भी यहाँ शृंगारादि से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥२६॥

[टिप्पणी—यह उपदेश धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखता है । याज्ञवल्क्य महर्षि ने लिखा है कि, "हास्यं परगृहे पानं त्यजेत् प्रोषित भर्तृका ।"]

काल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि ।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम नरेश्वरः ॥३०॥

प्रातःकाल उठ देवताओं का यथाविधि पूजन करना । फिर मेरे पिता महाराज दशरथ जी को प्रणाम करना ॥३०॥

माता च मम कौसल्या वृद्धा सन्तापकर्शिता ।
१धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥३१॥

मेरी माता कौसल्या एक तो वृद्धा हैं, दूसरे मेरे वन जाने के सन्ताप से पीड़ित है ; अतः उनका सम्मान करना तू अपना धर्म समझना ॥३१॥

---

१ धर्ममेवाग्रतः कृत्वा—धर्मएव तत्फल मुख्यं बुद्धौ कृत्वा तत्सम्मानः कार्य इतिभावः । (

१ ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।
सम्भोगैः[3] समा हि मम मातरः ॥३२॥

ाताएँ हैं, उनको भी नित्य प्रणाम करना ।
ीति और उनका सौहार्द वैसा ही है, जैसा
और उन्होंने भी मेरा पालन पोषण वैसे ही
, माता कौशल्या ने । अतः वे माता कौसल्या
से, किसी प्रकार कम पूज्य नहीं हैं ॥३२॥

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥३३॥

भाई भरत और शत्रुघ्न को, जो मुझे अपने प्राणों से भी बढ़ कर प्रिय हैं, अपने भाई और पुत्र की तरह देखना । अर्थात् भरत को जो बड़े हैं भाई की तरह और शत्रुघ्न को जो तुमसे छोटे हैं पुत्र वत् मानना ॥३३॥

विप्रियं न च कर्तव्यं भरतस्य कदाचन ।
स हि राजा प्रभुश्चैव देशस्य च कुलस्य च ॥३४॥

भरत के साथ कभी बिगाड़ मत करना—क्योंकि वे देश के राजा और कुल के मालिक हैं ॥३४॥

आराधिता हि शीलेन[4] प्रयत्नैश्चोपसेविताः ।
राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥३५॥

---

१ स्नेह.—प्रीतिः । २ प्रणयः—सौहृद । (गो०) ३ सम्भोगः—सेवा अन्नपानादि विशेष प्रदानम् । ४ शीलेन—अकुटिलवृत्त्या । (गो०)

देखो, शील से अर्थात् अकुटिल भाव से सेवा करने तथा प्रयत्न पूर्वक सेवन करने से राजा लोग प्रसन्न होते हैं और इसके प्रतिकूल करने से वे क्रुद्ध होते हैं ॥३५॥

औरसानपि पुत्रान्हि त्यजन्त्यहितकारिणः ।
समर्थान्संप्रगृह्णन्ति परानपि नराधिपाः ॥३६॥

राजा लोग अहित करने वाले अपने औरस पुत्रों को भी त्याग देते हैं और हित करने वाले लोगों को, भले ही वे दूसरे ही लोग क्यों न हों—(अर्थात् अपने सम्बन्धी न भी हों तो भी) ग्रहण करते हैं ॥३६॥

सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी ।
भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रत[१]परायणा ॥३७॥

हे कल्याणि! तू राजा भरत की आज्ञा में रह कर तथा उनकी हितैषिणी बन कर एवं अमोघव्रत धारण कर यहीं रह ॥३७॥

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि ।
यथा व्यलीकं[२] कुरुषे न कस्यचि-
त्तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम ॥३८॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

हे भामिनि! मैं तो वन जाता हूँ। तुझको यहीं रहना चाहिए। मेरी तुझको यही शिक्षा है कि, ऐसा बर्ताव करना, जिससे तुझसे कोई बुरा न माने ॥३८॥

अयोध्याकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

१ सत्यव्रतं—अमोघव्रत। (गो०) २ व्यलीक—अप्रियं। (गो०)

सप्तत्रिंशः सर्गः

—·०·—

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी ।
प्रणयादेव[1] संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥१॥

प्रिय बोलने वाली और प्रीति की पात्र वैदेही से जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा (अयोध्या ही मे रहने को कहा), तब जानकी जी प्रीतियुक्त (किन्तु ऊपर से) क्रोध प्रदर्शित कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥१॥

किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम् ।
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरात्मज ॥२॥

हे राम ! तुम यह कैसी हल्की बात कहते हो। इसे सुन कर तो, हे राजकुमार ! मुझे हँसी आती है ॥२॥

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥३॥

हे आर्यपुत्र ! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये सब अपने अपने पुण्यो को भोगते हुए, अपने अपने भाग्य के भरोसे रहते है ॥३॥

भर्तुर्भाग्यं तु भार्यैका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥४॥

---

१ प्रणयादेव—सौहृदादेव नतुवैरात् । (गो०)

किन्तु स्त्री (अर्द्धाङ्गिनी होने के कारण) अपने पति के भाग्य का फल भोगती है। इसलिए मुझे भी महाराज की आज्ञा वन जाने की हो चुकी ॥४॥

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥५॥

स्त्री के मरने पर, परलोक में उसके पति को छोड, पिता, पुत्र, भाईबन्धु, माता, सखीसहेलियों में से कोई भी उसके काम नहीं आता। स्त्री के लिए क्या इस लोक मे और क्या परलोक मे पति ही सब कुछ है ॥५॥

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान् ॥६॥

यदि तुम आज ही वन को जा रहे हो तो, मै तुम्हारे आगे ।गे कुश और काँटो को हटा, रास्ता साफ करती, पैदल ही लूँगी ॥६॥

ईर्ष्यारोषौ बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्।
नय मां वीर विस्रब्धः[१] पापं मयि न विद्यते ॥७॥

हे वीर! ईर्ष्या और रोप को त्याग कर, निःशङ्क हो, मुझे अपने साथ ले चलो। क्योकि मुझमे कोई ऐसा पाप नहीं है, जो मेरे यहाँ छोड़ने के लिए पर्याप्त कारण कहा जा सके ॥७॥

प्रसादाग्रैर्विमानैर्वा वैहायसगतेन[२] वा।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया[३] विशिष्यते ॥८॥

---

१ विस्रब्ध.—निःशङ्कः। (गो०) २ वैहायसगतेन—अणिमाद्यष्टैश्वर्य सिद्धि सम्पन्नोचितविहायस्सम्बन्धि गमनाद्वा। (गो०) ३ पादच्छाया—पाद सेवा। (गो०)

चक्रवर्ती राजाओं के महलों में वास करने से अथवा स्वर्ग के विमानों में रहने से अथवा आठों प्रकार के अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति से जो सुख प्राप्त होता है, उससे कहीं अधिक सुख स्त्री को पति की सेवा करने में प्राप्त होता है ॥८॥

अनुशिष्टाऽस्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्[१] ।
नास्मि सम्प्रतिवक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥९॥

स्त्री को अपने पति के प्रति किस प्रकार से व्यवहार करना चाहिए—यह बात मुझे मेरे माता पिता ने अनेक प्रकार से समझा दी है। अत. इस विषय में मुझे अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं है ॥९॥

अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलवृकसेवितम् ॥१०॥

मैं निश्चय ही तुम्हारे साथ उस निर्जन वन में चलूँगी जो नाना भाँति के वनैले जीवों से पूर्ण और शार्दूल एव वृकादि (भेड़ियों) से सेवित है ॥१०॥

सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः ।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥११॥

हे स्वामिन्! मैं वन में बड़े सुख से वैसी ही रहूँगी, जैसे मैं अपने पिता के घर में सुख से रहती थी। वहाँ मुझे केवल पतिसेवा ही की चिन्ता रहेगी। मैं तीनों लोकों के सुख की कभी कल्पना भी अपने मन में उदय न होने दूँगी ॥११॥

---

१ विविधाश्रयम्—विविधप्रकारं । (गो०)

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी[1] ।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥१२॥

हे वीर! मैं नित्य नियमपूर्वक, काम-भोग-विवर्जिता हो, आपके साथ उन मधुर गन्धयुक्त वनों में विचरूँगी ॥१२॥

त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम सम्परिपालनम् ।
अन्यस्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद ॥१३॥

हे प्राणनाथ! जब तुम वन में असंख्य मनुष्यों का भरण पोषण करने का भार उठा सकते हो, तब क्या आप मुझ अकेली की रक्षा न कर सकोगे? ॥१३॥

सह त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः ।
नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता ॥१४॥

हे महाभाग! मैं भी आज अवश्य तुम्हारे साथ वन चलूँगी। तुम मेरे इस उत्साह को भंग नहीं कर सकते। अथवा अब तुम निषेध न करो ॥१४॥

फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः ।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती सह त्वया ॥१५॥

मैं वन में उत्पन्न फल मूलों ही से नित्य अपना निर्वाह कर, तुम्हारे साथ वन में रहूँगी और तुमको कष्ट न दूँगी ॥१५॥

इच्छामि सरितः शैलान्पल्वलानि वनानि च ।
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता ॥१६॥

---

१ ब्रह्मचारिणी—कामभोगविवर्जिता । (गो०)

मैं तुम जैसे बुद्धिमान् प्राणनाथ से रक्षिता हो कर झीलों, पहाड़ो, तालाओं और वन को निःशङ्क हो देखना चाहती हूँ ॥१६॥

हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः ।
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण सङ्गता ॥१७॥

मैं चाहती हूँ कि, तुम जैसे वीर के साथ, हंस और कारण्डव पक्षियो से सेवित और सुन्दर फूली हुई कमलिनियो से युक्त तड़ागो को सुखपूर्वक अर्थात् भली भाँति देखूँ ॥१७॥

अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यं यतव्रता ।
सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी ॥१८॥

हे विशालाक्ष ! उनमे मैं नित्य तुम्हारे साथ स्नान करूँगी और परम आनन्द के साथ जलक्रीडा भी करूँगी ॥१८॥

एवं वर्षसहस्राणां शतं वाऽहं त्वया सह ।
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि न हि मे मतः ॥१९॥

इस प्रकार तुम्हारे साथ चाहें हजार वर्षो भी क्यो न व्यतीत हो जाँय, मुझे न जान पड़ेगे। तुम्हारे साथ रहने के सुख के सामने स्वर्गसुख भी मुझे पसन्द नहीं है ॥१९॥

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।
त्वया मम नरव्याघ्र नाहं तमपि रोचये ॥२०॥

हे राघव ! यदि तुम्हारे विना मुझे स्वर्ग में रहना पड़े, तो हे नरव्याघ्र मुझे वह भी पसन्द नहीं है ॥२०॥

अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं
मृगायुतं वानरवारणैर्युतम् ।

वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे
तवैव पादावुपगृह्य संयता ॥२१॥

मैं तो तुम्हारे साथ उस दुर्गम वन में चलूँगी, जो हिरनों से युक्त और बंदरों तथा हाथियों से सेवित है। तुम्हारी चरणसेवा करती हुई, मैं वहाँ उसी प्रकार सुखपूर्वक रहूँगी, जिस प्रकार मैं अपने पिता के घर में सुख से रहती थी ॥२१॥

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं
त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम्।
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां
न ते मयाऽतो गुरुता भविष्यति ॥२२॥

मैं तो तुमको छोड़ अन्य किसी को नहीं जानती। मेरा मन तुम्हीं में अनुरक्त है। अतः यदि तुमसे विछोह हुआ, तो मैं अपने प्राण त्यागने को तैयार हूँ। हे नाथ! मेरी प्रार्थना स्वीकार कर, मुझे अपने साथ लेते चलें। मेरा कुछ भी भार तुमको उठाना न पड़ेगा ॥२२॥

तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलो[1]
न च स्म सीतां नृवरो निनीषति[2]।
उवाच चैनां बहु सन्निवर्तने
वने निवासस्य च दुःखितां प्रति ॥२३॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

---

१ धर्मवत्सलः—कान्ताक्लेशासहिष्णु.। (गो०) २ निनीषति—नेतुमिच्छति। (गो०)

सीता जी के इस प्रकार अनुनय विनय पूर्वक प्रार्थना करने पर भी, सीता जी को कष्टित देखने में असमर्थ श्रीरामचन्द्र जी, जानकी जी को अपने साथ वन मे ले जाने को राजी न हुए। प्रत्युत वनवास के अनेक कष्टो का वर्णन कर, जिससे जानकी जी वन जाने का विचार छोड़ दे, बोले ॥२३॥

अयोध्याकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

अष्टाविंशः सर्गः

—:०:—

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञो धर्मवत्सलः।
न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन् ॥१॥

धर्मज्ञ और धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी वन के कष्टों को स्मरण कर, सीता जी के बहुत कहने पर भी, उनको अपने साथ वन ले जाने को राजी न हुए ॥१॥

सान्त्वयित्वा पुनस्तां तु *बाष्पपर्याकुलेक्षणाम्।
निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥२॥

रोती हुई जानकी जी को उन्होंने फिर समझाया और धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वन न जाने के लिए सीता से यह कहा ॥२॥

साते महाकुलीनाऽसि धर्मे च निरता सदा।
इहाचरस्व धर्मं त्वं मा यथा मनसः सुखम् ॥३॥

* पाठान्तरे—"बाष्पदूषितलोचनाम्।"

हे सीते तू बड़ी कुलीन घर की लड़की है और सदा धर्मपालन में निरत रहती है। अतः यहीं रह कर धर्माचरण कर, जिससे मेरा मन सुखी हो ॥३॥

सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाऽबले ।
वने दोषा हि बहवो वसतस्तान्निबोध मे ॥४॥

हे अबले सीते! मै जो कहता हूँ तू वही कर। वनवास में बड़े बड़े कष्ट होते हैं। मैं बतलाता हूँ तू उन्हें सुन ॥४॥

सीते विमुच्यतामेषा वनवास कृता मतिः ।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥५॥

हे सीते तू अपने वन जाने के विचार को त्याग दे। क्योंकि वनवास मे बड़े बड़े कष्ट हैं। वन को कान्तार इसी लिए कहते हैं कि, वह जाने के योग्य नही है ॥५॥

हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते ।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥६॥

मै तेरी भलाई के लिए ही कहता हूँ। वन में कभी कुछ भी सुख नहीं है। प्रत्युत वहाँ सदा कष्ट ही कष्ट है ॥६॥

गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिकन्दरवासिनाम् ।
सिंहानां निनदा दुःखाः[१] श्रोतुं दुःखमतो वनम् ॥७॥

क्योंकि पर्वतो से निकली हुई नदियो को पार करना, महाकष्टदायी है, फिर पहाड़ो की गुफाओ में रहने वाले सिहो की दहाड़ सुनने से बड़ा कष्ट होता है। अतः वन में कष्ट ही कष्ट हैं ॥७॥

१ दुःखाः—दुःखकराः। (गो०)

क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये महामृगाः ।
दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम् ॥८॥

हे सीते ! निर्जन वन मे निःशङ्क हो क्रीड़ा करने वाले अनेक वनजन्तु, मनुष्य को देखते ही मार डालने के लिए आक्रमण करते हैं, अत. वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥८॥

सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यश्च दुस्तराः ।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥९॥

फिर नदियो मे मगर घड़ियाल रहते हैं और उनमें दलदल रहने से उनको पार करना भी बड़ा कठिन है। इन दलदलो में यदि फँस जाय, तो हाथी का भी निकलना असम्भव है। फिर वन में बड़े बड़े मत्त गज भी घूमा करते है। अतः वनवास बड़ा कष्ट-दायी है ॥९॥

लताकण्टकसङ्कीर्णाः कृकवाकूपनादिताः ।
निरपाश्च सुदुर्गाश्च मार्गा दुःखमतो वनम् ॥१०॥

प्रायः वनो के मार्ग पैर मे लिपट जाने वाली बेलो और पैर में चुभ जाने वाले काटो से पूर्ण रहते हैं और वहाँ वनकुक्कुट (वन मुर्ग) बोला करते हैं। रास्तो मे दूर तक पीने को जल भी नहीं मिलता। वन के रास्ते बड़े भयङ्कर होते हैं। अतः वन मे बड़े क्लेश होते हैं ॥१०॥

सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयं भग्नासु भूतले ।
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद्दुःखतरं वनम् ॥११॥

दिन भर के थके माँदे वनवासी को रात के समय, सोने के लिए कोमल गद्दे तकिये नहीं, किन्तु अपने आप सूख कर गिरी

हुई पत्तियाँ बिछा कर उन पर सोना पड़ता है। उसे वहाँ पलग नहीं मिलता प्रत्युत जमीन ही पर लेटना पड़ता है। अतएव वनवास बड़ा कष्टप्रद है ॥११॥

अहोरात्रं[1] च सन्तोषः कर्तव्यो नियतात्मना[2]।
फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम् ॥१२॥

हे सीते! भोजन की अन्य वस्तुओं पर मन न चला, सायं प्रातः वृक्षों से गिरे हुए फल खा कर ही सन्तोष करना पड़ता है। अतः वन में कष्ट ही कष्ट हैं ॥१२॥

उपवासश्च कर्तव्यो यथाप्राणेन[3] मैथिलि।
जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारिणा ॥१३॥

हे मैथिलि! वन में यथाशक्ति उपवास भी करना पड़ता है और वृक्ष की छाल, वस्त्रों की जगह पहननी पड़ती है ॥१३॥

देवतानां पितॄणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम्।
प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम् ॥१४॥

वहाँ देवताओ और पितरों तथा समय पर आए हुए अतिथियो का विधिपूर्वक नित्य पूजन करना पड़ता है ॥१४॥

कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः।
चरता नियमेनैव तस्माद्दुःखतरं वनम् ॥१५॥

नियम पूर्वक रहने वालो को नित्य (किसी ऋतु विशेष में नहीं) समय समय पर तीन वार स्नान करने पड़ते हैं। अतः वन में बड़ा क्लेश है ॥१५॥

---

१ अहोरात्रं—सायंप्रातश्च। (गो०) २ नियतात्मना—नियतमनस्केन। इतरानभिलाषिणेत्यर्थः। (गो०) ३ यथाप्राणेन—यथाशक्त्या। (गो०)

उपाहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः ।
आर्षेण विधिना वेद्यां बाले दुःखमतो वनम् ॥१६॥

हे बाले ! वन मे अपने हाथ से फूल तोड़ कर, ऋषियों की बतलाई हुई विधि से, वेदी की पूजा करनी पड़ती है, इस लिए वन में क्लेश ही क्लेश हैं ॥१६॥

यथालब्धेन सन्तोषः कर्तव्यस्तेन मैथिलि ।
यताहारैर्वनचरैर्नित्यं दुःखमतो वनम् ॥१७॥

वनवासी को जो कुछ और जितना भोजन के लिए मिले उसे उतने ही नित्य नियत आहार से उसको सन्तोष करना पड़ता है। अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥१७॥

अतीव वातास्तिमिरं बुभुक्षा चात्र नित्यशः ।
भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम् ॥१८॥

वनों में बड़ी आँधी चला करती है, अँधेरा भी छा जाता है, नित्य ही भूख भी बहुत अधिक लगती है और वहाँ और भी अनेक भय के कारण उपस्थित रहते हैं। अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥१८॥

सरीसृपाश्च[1] बहवो बहुरूपाश्च[2] भामिनि ।
चरन्ति पृथिवीं दर्पात्ततो दुःखतरं वनम् ॥१९॥

हे भामिनि ! वन मे बड़े मोटे मोटे पहाड़ी साँप या अजगर बड़े दर्प के साथ घूमा करते हैं। अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥१९॥

---

१ सरीसृपाः—गिरिसर्पाः । (गो०) २ बहुरूपाः—पृथुशरीराः (गो०) ।

नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः ।
तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानं ततो दुःखतरं वनम् ॥२०॥

'वहाँ नदियों मे रहने वाले साँप जो नदी ही की तरह टेढ़ी मेढ़ी चाल से चला करते हैं, मार्ग रोक कर, सामने खड़े हो जाते हैं। अतएव वनवास बड़ा दुःखदायी है ॥२०॥

पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह ।
बाधन्ते नित्यमबले तस्माद्दुःखतरं वनम् ॥२१॥

हे अबले! वहाँ फतगे, विच्छू, कीडे, बनैले, मक्खियाँ, मच्छर आदि नित्य ही सताया करते हैं। अतएव वनबास बड़ा क्लेश-कारक है ॥२१॥

द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशकाशाश्च[१] भामिनि ।
वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखतरं वनम् ॥२२॥

हे भामिनी! काँटे और कुशकाश की तरह पत्तों और बनैले वृक्षों से सारा वन भरा हुआ है। अतः वनबास बड़ा कष्टकारक है ॥२२॥

कायक्लेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च ।
अरण्यवासे वसतो दुखमेव ततो वनम् ॥२३॥

फिर वन में रहने से अनेक शारीरिक क्लेश होते हैं और नाना प्रकार के भय उत्पन्न हुआ करते हैं। अतएव वनवास बड़ा दुःखदायी है ॥२३॥

क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः ।
न भेतव्यं च भेतव्ये नित्यं दुःखमतो वनम् ॥२४॥

सत्यव्रतं—अमोघव्रतं। (गो०) २ व्यलीकं—अप्रिय। (गो०)

हे सीते! वन मे, क्रोध और लोभ को त्याग कर तप में मन लगाना पडता है। डरने योग्य वस्तुओं से भी डरना नहीं होता— अतः वनवास दुःखप्रद है ॥२४॥

तदलं ते वनं गत्वा क्षमं न हि वनं तव।
विमृशन्निह पश्यामि बहुदोषतरं वनम् ॥२५॥

अत. तू वन जाने की इच्छा मत कर, क्योंकि तेरे बसने योग्य वन नहीं है। मैं जब विचार करता हूँ, तब मुझे वनवास में कष्ट ही कष्ट दिखलाई पड़ते है ॥२५॥

वनं तु नेतुं न कृता मतिस्तदा
बभूव रामेण यदा महात्मना।
न तस्य सीता वचनं चकार त-
त्ततोऽब्रवीद्राममिदं सुदुःखिता ॥२६॥

इति अष्टविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार जब सीता जी को श्रीरामचन्द्र जी ने वन मे ले जाना न चाहा, तब सीता जी उनकी इस बात को न मान कर और अत्यन्त दुःखी हो, यह बोलीं ॥२६॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।



एकोनत्रिंशः सर्गः

—:o:—

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सीता रामस्य दुःखिता ।
प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार के वचन सुन सीता जी दुःखी हुई और रो कर, धीरे धीरे कहने लगीं ॥१॥

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति ।
गुणानित्येव तान्वीक्षे* तव स्नेहपुरस्कृतान् ॥२॥

हे राम! वनवास के जो दोष तुमने बतलाए, वे सब तुम्हारे स्नेह के सामने मुझे गुण दिखलाई पड़ते हैं ॥२॥

मृगाः सिंहा गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा[1] ।
पक्षिणः सृमराश्चैव ये चान्ये वनचारिणः ॥३॥

मृग, सिंह, गज, शार्दूल, शरभ (आठ पैर का एक वनजन्तु विशेष) पक्षी और नील गाएँ तथा अन्य वन में रहने वाले जीव जन्तु ॥३॥

अदृष्टपूर्वरूपत्वात्सर्वे ते तव राघव ।
रूपं दृष्ट्वाऽपसर्पेयुर्भये सर्वे हि बिभ्यति ॥४॥

स्वयं ही, हे राघव! तुम्हारे इस अपूर्व रूप को देख और भयभीत हो, भाग जायँगे। क्योंकि तुमसे तो सब ही डरते हैं ॥४॥

---

१ शरभाः—अष्टपादमृगाः। (गो०) सृमराः गवयाः। (गो०)
* पाठान्तरे "तान्विद्धि"; "तान्मन्ये"।

त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया ।
त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम् ॥५॥

मुझको बड़े लोगो का यह आदेश है कि, मुझे सदा तुम्हारे साथ अवश्य चलना चाहिए। नहीं तो मुझे तुम्हारे वियोग में प्राण-त्याग देना पड़ेगा ॥५॥

न च मां त्वत्समीपस्थामपि शक्नोति राघव ।
सुराणामीश्वरः शक्रः प्रधर्षयितुमोजसा ॥६॥

जब कि मै तुम्हारे साथ रहूँगी, तब देवताओं के स्वामी इन्द्र भी अपने पराक्रम से मेरा कुछ नहीं कर सकते ॥६॥

पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितम् ।
काममेवंविधं राम त्वया मम विदर्शितम् ॥७॥

हे राम ! तुम्हींने तो मुझे यह बात बतलाई है कि, पतिव्रता स्त्री; पति बिना नहीं जी सकती ॥७॥

अथ वापि महाप्राज्ञ ब्राह्मणानां मया श्रुतम् ।
पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने ॥८॥

हे महाप्राज्ञ ! पिता के घर रहते समय ज्योतिषी ब्राह्मणों से मैंने यह बात सुनी थी कि, मुझे वन मे निश्चय ही रहना पड़ेगा ॥८॥

लक्षणिभ्यो[1] द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं पुरा ।
वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल ॥९॥

---

१ लक्षणिभ्यः—सामुद्रिकलक्षणज्ञेभ्यः । (गो०)

हे महाबलवान् ! सामुद्रिक जानने वाले ब्राह्मणों को कहते मैं पहले ही यह सुन चुकी हूँ । अतः वन जाने का मेरा उत्साह तभी से है ॥९॥

आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल ।
सा त्वया सह तत्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा ॥१०॥

सो वनवास की आज्ञा मुझे अवश्य लेनी ही चाहिए । अतः हे प्रिय ! मैं तुम्हारे साथ चलूँगी । इसके विपरीत नहीं हो सकता ॥१०॥

कृतादेशा भविष्यामि गमिष्यामि सह त्वया ।
कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवाग्भवतु द्विजः ॥११॥

तुम्हारे साथ वन जाने ही से मैं गुरुजनों की आज्ञापालन करने वाली हो सकूँगी । ब्राह्मणों की भविष्यद्वाणी के सत्य होने का यह समय भी उपस्थित हो गया है ॥११॥

वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल ।
प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः[1] ॥१२॥

हे वीर ! यह मुझे मालूम है कि; वनवास में बड़े बड़े कष्ट होते हैं; किन्तु ये दुःख होते उन्हींको हैं जो अजितेन्द्रिय हैं । (न कि तुम सरीखे पुरुषों के साथ) ॥१२॥

कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया ।
भिक्षिण्याः[2] *साधुवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः ॥१३॥

---

१ अकृतात्मभि.—अशिक्षितमनस्कैः । (गो०) २ भिक्षिण्याः—तापस्याः । (गो०) * पाठान्तरे—"शमवृत्तायाः" ।

जब मैं पिता के घर थी; तब मैंने एक साधुवृत्ति वाली तपस्विनी के मुख से; माता के सामने अपने इस वनवास की बात सुनी थी ॥१३॥

प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं वै बहुविधं प्रभो ।
गमनं वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया ॥१४॥

हे प्रभो! कई बार वनक्रीडा के लिए मैं तुमसे प्रार्थना भी कर चुकी हूँ, सो अब वह अवसर (अपने आप) आया है; अत मेरी प्रार्थना मान, मुझे अपने साथ वन ले चलिए ॥१४॥

कृतक्षणाऽहं[1] भद्रं ते गमनं प्रति राघव ।
वनवासस्य शूरस्य[2] चर्या हि मम रोचते ॥१५॥

हे राघव! तुम्हारा मङ्गल हो। सो (अब) तुम्हारे साथ वन जाने का अवसर प्राप्त हुआ है और वनवास में तुम्हारी सेवा भी करना मुझे बहुत रुचता है ॥१५॥

शुद्धात्मन्[3] प्रेमभावाद्धि[4] भविष्यामि विकल्मषा ।
भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि[5] मम दैवतम् ॥१६॥

हे ईर्ष्यादि रहित स्वामिन्! अपने प्रीतियुक्त स्वभाव से तुम्हारे पीछे गमन करती हुई, मैं पापरहित हो जाऊँगी। क्योंकि यह प्रसिद्ध बात है कि, मेरे लिए तुम ही मेरे देवता हो ॥१६॥

प्रेत्यभावेऽपि कल्याणः[6] सङ्गमो मे सह त्वया ।
श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां तपस्विनाम्* ॥१७॥

---

१ कृतक्षणा—प्राप्तावसरा। (रा०) २ शूरस्य—तव। ३ शुद्धात्मन्—ईर्ष्यादिरहित (गो०) ४ प्रेमभावात्—प्रेमस्वभावात्। (गो०) ५ हिः—प्रसिद्धौ। (गो०) ६ कल्याण.—शोभन.। (गो०) * पाठान्तरे—"यशस्विनाम्"।

(इस लोक का तो कहना ही क्या है) परलोक में भी मैं तुम्हारे ही साथ रह कर, शोभा को प्राप्त होऊँगी। यह बात मैंने यशस्वी पवित्र ब्राह्मणों के मुख से सुनी है ॥१७॥

इह लोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महामते।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण[1] प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥१८॥

इस लोक में विवाहों की विधि के अनुसार पिता जिस स्त्री को जिस पुरुष को दे देता है, परलोक में भी वही स्त्री उस पुरुष की होती है ॥१८॥

एवमस्मात्स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम्।
नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना ॥१९॥

अतः अपनी सदाचारिणी पतिव्रता स्त्री मुझको अपने साथ ले चलना आपको क्यों नहीं रुचता? इसका कारण क्या है? ॥१९॥

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम् ॥२०॥

हे काकुत्स्थ! तुममें पूर्ण भक्ति रखने वाली, दीन, सुख दुःख में समान रहने वाली और तुम्हारे सुख में सुखी तथा तुम्हारे दुःख से दुःखी मुझको तुम अपने साथ ले चलो ॥२०॥

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतु न चेच्छसि।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात् ॥२१॥

---

१ स्वधर्मेण—स्वस्ववर्णोक्तब्राह्मादिविवाहविधिना। (गो०)

यदि तुम मुझ दुःखिनी को अपने साथ वन न ले चलोगे, तो मैं विष खा कर या अग्नि में जल कर अथवा पानी में डूब कर, प्राण दे दूँगी ॥२१॥

एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति ।
नानुमेने महाबाहुस्तां नेतुं विजनं वनम् ॥२२॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन जाने के लिए सीता जी बहुत प्रार्थना करती थी, परन्तु श्रीरामचन्द्र उनको अपने साथ विजन वन में ले जाने को राजी नहीं होते थे ॥२२॥

एवमुक्ता तु सा चिन्तां मैथिली समुपागता ।
स्नापयन्ती गामुष्णैरश्रुभिर्नयनच्युतैः ॥२३॥

तब सीता जी श्रीरामचन्द्र जी को असम्मत देख, अत्यन्त चिन्तित हुई और उनके नेत्रों से निकली हुई गरम गरम अश्रुधारा पृथिवी को तर करने लगी—अर्थात् उनके आँसुओं से वहाँ की जमीन तर हो गई ॥२३॥

चिन्तयन्तीं तथा तां तु निवर्तयितुमात्मवान् ।
क्रोधाविष्टां च ताम्रोष्ठीं काकुत्स्थो बह्वसान्त्वयत् ॥२४॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

सीता जी को चिन्तित और मारे क्रोध के लाल लाल ओठ किए देख श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी को बहुत समझाया, जिससे वे उनके साथ वन न जाँय ॥२४॥

अयोध्याकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

— ० —

१ गा—भुव । (गो०) * पाठान्तरे—"कुचावुष्णैः" ।

त्रिंशः सर्गः

सान्त्वमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा ।
वनवासनिमित्ताय भर्तारमिदमब्रवीत् ॥१॥

साथ वन न चलने के लिए सीता को श्रीरामचन्द्र जी ने बहुत तरह से समझाया, किन्तु सीता ने उनके साथ वन जाने के लिए फिर अपने पति से यह कहा ॥१॥

सा तमुत्तमसंविग्ना[1] सीता विपुलवक्षसम्[2] ।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप[3] राघवम् ॥२॥

वीरवर श्रीरामचन्द्र जी से डर के मारे काँपती हुई जानकी ने, प्रेम और अभिमान के साथ, उपहास पूर्ण (ये) वचन कहे ॥२॥

किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥३॥

हे राम ! यदि मेरे पिता मिथिलेश यह जानते कि तुम आकार मात्र के पुरुष हो व्यवहार में स्त्री हो, तो वे कभी मेरा विवाह तुम्हारे साथ कर तुमको कभी अपना दामाद न बनाते। (अर्थात् तुम पुरुष हो कर वन में मेरी रक्षा न कर सकोगे—यह कहना तुम जैसे वीरवर पुरुष को शोभा नहीं देता ।) ॥३॥

अनृतं वत लोकोऽयमज्ञानाद्यद्धि वक्ष्यति ।
तेजो नास्ति परं राम तपतीव दिवाकरे ॥४॥

---

१ उत्तमसंविग्ना—अत्यन्तं कम्पमाना । (गो०) २ विपुलवक्षसम्—शूरमिति यावत् । (गो०) ३ परिचिक्षेप—सोपहासवचनमुक्तवती । (रा०)

खेद की बात है। लोग अज्ञान वश कहने लगे कि, राम सूर्य के समान तेजस्वी देख पड़ते हैं, किन्तु इनमें वास्तव में तेज है नहीं ॥४॥

किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते ।
यत्परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम् ॥५॥

हे राम! तुम किस लिए इतने उदास हो रहे हो अथवा तुम किस बात के लिए इतने डर रहे हो कि, जो मुझ जैसी अपनी अनन्य भक्ता को यहाँ छोड़ कर, वन जाना चाहते हो ॥५॥

द्युमत्सेनसुतं वीर सत्यवन्तमनुव्रताम् ।
सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्तिनीम् ॥६॥

वीरवर राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान में सावित्री के तुल्य मुझे भी अपने वश में जानो। अर्थात् द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान के पीछे पीछे सावित्री जैसे वन को गई थी, वैसे ही मैं भी तुम्हारे पीछे पीछे चलूँगी ॥६॥

न त्वहं मनसाऽप्यन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ ।
त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी ॥७॥

हे अनघ! मैंने तुमको छोड़, परपुरुष को देखने की कभी मन मे कल्पना भी नहीं की। जैसी कि कुलकलङ्किनी स्त्रियाँ परपुरुपरत होती है, वैसी मै नहीं हूँ। अत. मै तुम्हारे साथ चलूँगी ॥७॥

स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम् ।
शैलूष[1] इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥८॥

---

[1] शैलूष—जायाजीव। (गो०)

हे राम। बहुत दिनों से तुम्हारे पास रहने वाली, कौमारावस्था ही मे तुम्हारे साथ विवाहित, मुझ सती—पतिव्रता को, नट की तरह भिन्नपुरुष (अर्थात् भरत) के पास छोड़ना क्यो चाहते हो? ॥८॥

यस्य पथ्यं च रामात्थ यस्य चार्थेऽवरुध्यसे ।
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदाऽनघ ॥९॥

हे अनघ! तुम जिसका हित चाहते हो और जिसके कारण तुम्हारे राज्याभिषेक में बाधा पड़ी है (अर्थात् कैकेयी और भरत) उसके वश मे और उसके आज्ञाकारी तुम्हीं बनो। मैं उसके वश मे होना अथवा उसकी आज्ञानुवर्तिनी बन कर (यहाँ) रहना नहीं चाहती ॥९॥

स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थातुमर्हसि ।
तपो वा यदि वाऽरण्यं स्वर्गो वा स्यात्त्वया सह ॥१०॥

अतः तुम मुझे अपने साथ ही बन मे ले चलो। चाहे तुम तप करो, चाहे तुम वनवास करो और चाहे स्वर्गवास—मुझे तो तुम्हारे साथ ही रहना उचित है ॥१०॥

न च मे भविता तत्र कश्चित्पथि परिश्रमः ।
पृष्ठतस्तव गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव[1] ॥११॥

मुझे मार्ग चलने में कुछ भी परिश्रम न होगा। प्रत्युत तुम्हारे पीछे पीछे चलने में मुझे ऐसा सुख जान पड़ेगा जैसा कि बागों में घूमने फिरने में अथवा तुम्हारे साथ शयन करने से प्राप्त होता है ॥११॥

---

१ विहारशयनेष्विव—विहारः परिक्रमः, उद्यानसञ्चार इति। "विहारस्तु परिक्रमः" इत्यमरः। (गो०)

कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः ।
तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया ॥१२॥

हे राम! कुशकाश, सरपत, मूँज तथा अन्य और भी जो कटीले वृक्ष हैं, वे तुम्हारे साथ रास्ता चलने पर मुझे रुई और मृगचर्म की तरह कोमल जान पड़ेंगे ॥१२॥

महावातसमुद्धूतं यन्मामपकरिष्यति ।
रजो रमण तन्मन्ये परार्ध्यमिव चन्दनम् ॥१३॥

हे राम! आँधी से उड़ कर जो धूल मेरे शरीर पर आ कर पड़ेगी, उसे मैं तुम्हारे साथ रह कर, उत्तम चन्दन के समान समझूँगी ॥१३॥

शाद्वलेषु यथा शिश्ये वनान्ते वनगोचर ।
कुथास्तरणतल्पेषु किं स्यात्सुखतरं ततः ॥१४॥

मैं जब तुम्हारे साथ हरी हरी घास के बिछौने पर सोऊँगी, तब मुझे पलग पर बिछे हुए, मुलायम गलीचे पर सोने जैसा सुख प्राप्त होगा ॥१४॥

पत्रं मूलं फलं यत्त्वमल्पं वा यदि वा बहु ।
दास्यसि स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥१५॥

जो कुछ थोड़े अथवा बहुत शाक या फल तुम स्वयं ला दिआ करोगे, वे ही मुझे अमृत जैसे स्वादिष्ट जान पड़ेंगे ॥१५॥

न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः ।
[1]आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च ॥१६॥

---

१ आर्तवानि—तत्तदृतुसमुत्पन्नानि । (गो०)

वन में ऋतुफलों का और ऋतुपुष्पों का उपभोग करती हुई मैं न तो मा की, न बाप की और न घर ही की याद करूँगी ॥१६॥

न च तत्र गतः किञ्चिद्द्रष्टुमर्हसि विप्रियम्।
मत्कृते न च ते शोको न भविष्यति दुर्भरा ॥१७॥

मेरे कारण वन में तुमको न तो कुछ भी क्लेश होगा और न तुमको शोच ही बाधा देगा और न मुझे खिलाने पिलाने की चिन्ता ही तुमको करनी पड़ेगी ॥१७॥

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना।
इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह ॥१८॥

बहुत कहाँ तक कहूँ। तुम्हारे साथ रहने में मुझे सर्वत्र स्वर्ग के समान सुख है और तुम्हारे विना सब जगह नरक के समान दुःख है। बस तुम यही विचार कर और प्रसन्नता पूर्वक मुझे अपने साथ वन मे ले चलो।।१८॥

अथ मामेवमव्यग्रां[1] वन नैव नयिष्यसि।
विषमद्यैव पास्यामि मा विशं द्विषतां वशम् ॥१९॥

यदि तुम मुझे, जिसे वन सम्बन्धी किसी भी बात का भय नहीं है, अपने साथ ले चलने को राजी न हुए, तो मै तुम्हारा ही सामने विष पी कर प्राण त्याग दूँगी—किन्तु वैरियो की हो कर, मै यहाँ न रहूँगी ॥१९॥

पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम्।
उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम् ॥२०॥

---

१ अव्यग्रा—वनगमनविषयभीतिरहिताम्। (गो०)

हे नाथ! तुम्हारे जाने के बाद भी तो दुःख से मुझे मरना ही है। तुम्हारे द्वारा परित्यक्ता, मुझ जैसी के लिए तो मरना ही अच्छा है ॥२०॥

इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता ॥२१॥

मैं तुम्हारे वियोग के शोक को मुहूर्त्त भर भी नहीं सह सकती, तब चौदह वर्षों के वियोगजन्य दुःख को, मैं क्यों कर सह सकूँगी ॥२१॥

इति सा शोकसन्तप्ता विलप्य करुणं बहु।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम् ॥२२॥

सीता जी शोक से सन्तप्त हो, बारंबार करुणापूर्ण विलाप कर और श्रीरामचन्द्र जी को आलिङ्गन कर, उच्च स्वर से रुदन करने लगीं ॥२२॥

सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव[1] गजाङ्गना।
चिरसन्नियतं बाष्पं मुमोचाग्निमिवारणिः ॥२३॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के वचनों से, विष में बुझे बाण से विद्ध हथिनी की तरह जानकी के बहुत काल से रुके हुए आँसू वैसे ही प्रकट हुए, जैसे अरणी से आग प्रकट होती है ॥२३॥

तस्याः स्फटिकसङ्काशं वारि सन्तापसम्भवम्।
नेत्राभ्यां परिसुस्राव पङ्कजाभ्यामिवोदकम् ॥२४॥

---

१ दिग्धैः—विषलिप्तैर्बाणैः। (गो०)

जानकी के नेत्रों से स्फटिक पत्थर जैसे सफेद आँसुओं की बूँदे वैसे ही गिरी, जैसे कमलों से पानी की बूँदे टपकती हैं ॥२४॥

तच्चैवामलचन्द्राभं मुखमायतलोचनम् ।
पर्यशुष्यत बाष्पेण जलोद्धृतमिवाम्बुजम् ॥२५॥

उस समय प्रबल शोक की आग से पूर्णिमा के चन्द्र के समान चमचमाता हुआ सीता का मुखमण्डल, जल से निकाले हुए कमल की तरह; मुरझा गया ॥२५॥

तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम् ।
उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा ॥२६॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने मूर्छितप्राय और शोकविकल जानकी जी को, अपनी दोनो भुजाओ से आलिङ्गन कर, उनको विश्वास दिलाते हुए कहा, ॥२६॥

न देवि तव दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये ।
न हि मेऽस्ति भयं किञ्चित्स्वयंभोरिव सर्वतः ॥२७॥

हे देवि ! तुझे कष्ट दे कर मुझे स्वर्ग की भी चाहना नहीं है। (तू जो यह कहती है कि, डर के मारे मै तुझे वन नहीं ले जाना चाहता—सो ठीक नहीं, क्योंकि) मुझे कुछ भी भय नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मा जी किसी से नहीं डरते वैसे ही मै भी सब से निर्भय हूँ ॥२७॥

तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने ।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे ॥२८॥

(तेरा यह कहना भी ठीक नहीं कि तुम हजारो का पालन और रक्षा कर सकते हो, तब क्या वन में मुझ अकेली की रक्षा औरपालन न कर सकोगे—क्योंकि) मै सब भाँति तेरी रक्षा कर सकता हूँ किन्तु मुझे तेरे मन का अभिप्राय मालूम नहीं था, इसी लिए मुझे तेरा वन में रहना पसन्द नहीं था ॥२८॥

यत्सृष्टाऽसि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि ।
न विहातुं मया शक्या कीर्त्तिरात्मवता[1] यथा ॥२६॥

यदि तुम मेरे साथ वनवास के ही लिए बनाई गई हो—अथवा तेरे भाग्य में यदि मेरे साथ वनवास ही लिखा है; तो मैं तुझे छोड़ कर वैसे ही नहीं जा सकता जैसे शीलवान् अपनी कीर्ति नहीं छोड़ सकता ॥२६॥

धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा ।
तं चाहमनुवर्तेऽद्य यथा सूर्यं सुवर्चला ॥३०॥

हे गजनासोरु ! पहले के सज्जन लोग जैसा धर्माचरण कर चुके हैं, उसीका अनुसरण मैं भी करूँगा और तू भी कर। जैसे सुवर्चला देवी सूर्य भगवान का अनुसरण करती है वैसे ही तू भी मेरा अनुसरण कर ॥३०॥

न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि ।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम् ॥३१॥

हे जनकनन्दिनी ! मै अपनी इच्छा से वन नहीं जा रहा हूँ। किन्तु सत्य के पाश में बँधे हुए पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए मुझे वन जाना पड रहा है ॥३१॥

---

१ आत्मवता—शीलवता। (गो०)

एष धर्मस्तु सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता ।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे ॥३२॥

हे सुश्रोणि ! पिता और माता का कहना मानना ही पुत्र के
।७५ धर्म है । पिता माता की आज्ञा को उल्लङ्घन कर मैं जीना भी नही चाहता ॥३२॥

[1]स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ।
[2]अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैराभिराध्यते ॥३३॥

जो दैव अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है उसके ऊपर भरोसा कोई कैसे कर सकता है, किन्तु माता पिता और गुरु तो प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं अतः इनकी आज्ञा का उल्लङ्घन करना सर्वथा अनुचित कार्य है ॥३३।

यत्रयं तत्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि ।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥३४॥

जिनकी (अर्थात् माता पिता और गुरुजनो की) आराधना करने से अर्थ धर्म और काम—इन तीनो लोकों की प्राप्ति होती है और जिनकी आराधना करने से तीनों लोको की आराधना हो जाती हैं उनकी आराधना से बढ़ कर पवित्र कार्य इस पृथिवी तल पर दूसरा कोई नहीं है; इसी लिए मैं इनकी आराधना करता हूँ ॥३४॥

न सत्यं दानमानौ वा न यज्ञाश्चाप्तदक्षिणाः ।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्हिता[3] ॥३५॥

---

१ स्वाधीनं—प्रत्यक्षतया नियोजयन्तम् । (गो०)
२—अस्वाधीनं-प्रत्यक्ष तया अनजापयत् । (गो०)
३ हिता—हितकारी । (गो०) * पाठान्तरे—"अतश्च तं ।"

हे सीते ! सत्य, दान, मान और दक्षिणा सहित यज्ञ, परलोक-प्राप्ति के लिए उतने हितकर नहीं हैं, जितनी कि पिता आदि गुरु जनो की सेवा है। अर्थात् पितादि गुरुजनो की सेवा करने से परलोक मे जो फल प्राप्त होता है, वह फल सत्य बोलने, दान मानादि करने से अथवा दक्षिणा सहित यज्ञ करने से प्राप्त नहीं होता ॥३५॥

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्याः पुत्राः सुखानि च ।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥३६॥

जो लोग पिता मातादि गुरुजनों की सेवा किआ करते हैं, उनके लिए, केवल स्वर्गादि लोक, धन धान्य, विद्या, सन्तानादि के सुख ही नहीं, किन्तु उनको कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥३६॥

देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथा नराः ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥३७॥

जो महात्मा लोग माता पिता की सेवा किआ करते हैं, उनको देवलोक, गन्धर्वलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकों की भी प्राप्ति होती है ॥३७॥

स मां* पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः ।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः ॥३८॥

अत. सत्यमार्ग में स्थित मेरे पिता मुझे जो आज्ञा दे, मुझे तदनुसार ही करना चाहिए। यही सनातन धर्म है ॥३८॥

मम सन्ना[1] मतिः सीते त्वां नेतुं दण्डकावनम् ।
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता ॥३९॥

---

१ सन्ना—तद्भावपरिज्ञानात्क्षीणा । (गो०) * पाठान्तरे "मा ।"

हे सीता प्रथम तो. तेरे मन का अभिप्राय न जानने के कारण मेरी इच्छा तुझे अपने साथ वन में ले चलने की न थी, किन्तु अब मैंने तेरी दृढ़ता देख—तुझे अपने साथ दण्डकवन में ले चलने का भली भाँति निश्चय कर लिआ है ॥३९॥

सा हि सृष्टाऽनवद्याङ्गी वनाय मदिरेक्षणे
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव ॥४०॥

क्योकि जब तू वन जाने ही के लिए बनाई गई है, तब हे मदिरेक्षणे! (लाल लाल नेत्रो वाली!) तू मेरे साथ वन को चल और मेरे धर्मानुष्ठान में तू योग दे ॥४०॥

सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च।
व्यवसायमतिक्रान्ता सीते त्वमतिशोभनम् ॥४१॥

हे सीते! तूने जो मेरे साथ वन में चलना विचारा है, सो यह बहुत ही अच्छी बात है और तेरा मेरे साथ चलना मेरे और मेरे कुल के सर्वथा अनुरूप कार्य है ॥४१॥

आरभस्व *गुरुश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते ॥४२॥

हे गुरुश्रोणि! अब वनवास की तैयारी कर। इस समय तेरे विना मुझे स्वर्ग भी नहीं रुचता ॥४२॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम्।
देहि चाशंसमानेभ्यः सन्त्वरस्व च मा चिरम् ॥४३॥

अतः ब्राह्मणों को सब रत्न दान कर और भिक्षुकों को भोजन दे कर, चलने की जल्दी तैयारी कर। देर न होने पावे ॥४३॥

* पाठान्तरे—शुभ।

भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च ।
रमणीयाश्च ये केचित्क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः ॥४४॥

अपने बहुमूल्य भूषण और अनेक प्रकार के श्रेष्ठ वस्त्र तथा अन्य जो कुछ तेरे और मेरे विनोद का सामान है, वह सब ॥४४॥

शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च ।
देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम् ॥४५॥

और मेरे और अपने ओढ़ने बिछौने, सवारी आदि ब्राह्मणों को दे कर, जो बचें—उन्हें नौकरों चाकरों को दे दे ॥४५॥

अनुकूलं तु सा भर्तुर्ज्ञात्वा गमनमात्मनः ।
क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेवोपचक्रमे ॥४६॥

श्रीरामचन्द्र जी को अपने अनुकूल देख और उनके साथ अपना वनगमन निश्चय जान, सीता प्रसन्न हुई और (पति की आज्ञा के अनुसार) सब वस्तुएँ देने लगी ॥४६॥

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा[1]
यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम् ।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना
प्रचक्रमे धर्मभृतां[2] मनस्विनी ॥४७॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

१—प्रतिपूर्णमानसा—निश्चिन्तेत्यर्थः । (गो०)

२—धर्मभृता—धर्मभृद्वय: । (गो०)

यशस्विनी सीता, पति को अपने अनुकूल बोलते देख, प्रसन्न और निश्चिन्त हो गई। मनस्विनी जानकी धर्मात्मा ब्राह्मणों को धन, रत्नादि अपनी सब वस्तुएँ दान करने लगी ॥४७॥

अयोध्याकाण्ड का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ

—❀—

एकत्रिंशः सर्गः

—:❀:—

एवं श्रुत्वा तु संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः।
बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी और सीता जी की इस प्रकार आपस में बातचीत आरम्भ होने के पूर्व ही लक्ष्मण वहाँ पहुँच गए थे। इस बातचीत को सुन, मारे दुःख के लक्ष्मण की आँखों से अश्रु की धाराएँ बहने लगीं। वे इस समय शोक के वेग को रोकने में असमर्थ थे ॥१॥

स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम् ॥२॥

लक्ष्मण ने भाई के चरणों में प्रणाम कर, महायशस्विनी जानकी जी और महाव्रतधारी श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥२॥

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वाऽनुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥३॥

यदि मृगों और गजों से भरे हुए वन में जाने का तुम निश्चय कर चुके हो तो मैं तुम्हारे आगे धनुष पर बाण चढ़ाए चलूँगा ॥३॥

मया समेतोऽरण्यानि बहूनि विचरिष्यसि ।
पक्षिभिर्मृगयूथैश्च संघुष्टानि समन्ततः ॥४॥

मेरे साथ तुम उन रमणीय वनों में, जिनमे पक्षी और हिरनों के झुंड चारों ओर नाना प्रकार के शब्द किया करते हैं, घूमना ॥४॥

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे ।
ऐश्वर्यं वाऽपि लोकानां कामये न त्वया विना ॥५॥

हे श्रीरामचन्द्र ! तुमको छोड़, न तो मुझे देवलोक की, न अमरत्व की और न अन्य लोकों के ऐश्वर्य की चाहना है ॥५॥

एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः ।
रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत् ॥६॥

श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर और उनको वन मे जाने को उद्यत देख, बहुत प्रकार से समझाया और वन में चलने को वर्जा। तब लक्ष्मण फिर बोले ॥६॥

अनुज्ञातश्च भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम् ।
किमिदानीं पुनरिदं क्रियते मे निवारणम् ॥७॥

भाई ! पहिले आपने मुझे जो आज्ञा दी थी, उसका निषेध अब आप क्यो करते हैं। अर्थात् आप पहले मुझसे कह चुके हैं कि, वन मे चलना, अब आप अपने साथ मुझे ले चलने के लिए मना क्यों करते हैं ? ॥७॥

[टिप्पणी—इस श्लोक में श्रीराम के प्रति 'भवता'—आप शब्द आया है। अन्य पूर्व के श्लोकों में त्वं का प्रयोग किया गया है।]

यदर्थं प्रतिषेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ ॥८॥

जिस कारण से आप मुझे वन जाने से रोकते हैं, हे अनघ! वह मैं जानना चाहता हूँ। क्योंकि इस निषेध को सुन, मेरे मन में बड़ा सन्देह उत्पन्न हो गया है ॥८॥

ततोऽब्रवीन् महातेजा रामो लक्ष्मणमग्रतः।
स्थितं प्राग्गामिनं वीरं याचमानं कृताञ्जलिम् ॥९॥

हाथ जोड़ कर, वन जाने के लिए याचना करते हुए और पहिले यात्रा करने के लिए सामने तैयार खड़े हुए लक्ष्मण के इन वचनों को सुन, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र बोले ॥९॥

स्निग्धो[1] धर्मरतो वीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो[2] भ्राता चापि सखा च मे ॥१०॥

हे लक्ष्मण! तुम मेरे स्नेही, धर्म में रत, शूर, सदैव सन्मार्ग पर चलने वाले, प्राण के समान प्रिय, मेरे दास, छोटे भाई और मित्र भी हो ॥१०॥

मयाऽद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम्।
को भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥११॥

(अतः तुम्हारे मेरे साथ चलने से मुझे सब प्रकार का सुपास होगा, किन्तु) यदि आज तुम मेरे साथ वन चल दिए, तो अवश्य ही यशस्विनी माता कौसल्या और सुमित्रा की देख-भाल कौन करेगा? ॥११॥

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥१२॥

---

१. स्निग्धः—मद्विषयकस्नेहवान्। (शि०) २ इतरेषामवश्यः ममतु विधेयः किङ्करः। (रा०)

देखो जो महातेजस्वी महाराज, सब के मनोरथों को उसी प्रकार पूर्ण करते थे, जिस प्रकार मेघ पृथिवी के सब मनोरथों को पूर्ण करते हैं, वे तो कामवश हो रहे हैं ॥१२॥

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता ।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥१३॥

अश्वपति की बेटी कैकेयी जब राजमाता होगी, तब वह अपनी दुःखिनी सौतो के प्रति अच्छा बर्ताव न करेगी ॥१३॥

न स्मरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् ।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥१४॥

वह न तो कौसल्या का और न सुमित्रा ही का ध्यान रखेगी। भरत जी (भी) राज्य पा कर, कैकेयी ही के आज्ञानुसार काम करेंगे ॥१४॥

तमार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा ।
सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थमिमं चर ॥१५॥

अत: हे लक्ष्मण ! तुम यहीं रह कर, स्वयं अथवा राजा के अनुग्रह को प्राप्त कर, अथवा जैसे हो वैसे, कौसल्यादि का भरण पोषण करो। यह मेरा उचित कथन तुमको पूरा करना चाहिए ॥१५॥

एवं मम च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता ।
धर्मज्ञ गुरुपूजायां[1] धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥१६॥

हे धर्मज्ञ ! इस प्रकार कार्य करने से, मेरे में तेरी परम भक्ति प्रदर्शित होगी और साथ ही माताओं की सेवा से तुमको बड़ा भारी पुण्य भी प्राप्त होगा ॥१६॥

---

१ गुरुपूजा—मातृशुश्रूषण। (गो०)

एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन ।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत्सुखम् ॥१७॥

हे लक्ष्मण ! मेरा कहना मान कर, तुम ऐसा ही करो । क्योंकि हम दोनों के यहाँ न रहने पर, हमारी माताएँ सुखी न रह सकेंगी ॥१७॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्ष्णया गिरा ।
प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥१८॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र ने जब कहा, तब लक्ष्मण ने वाक्य-विशारद श्रीरामचन्द्र को मधुर वचनों से (यह) उत्तर दिया ॥१८॥

तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति ।
कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नात्र संशयः ॥१९॥

हे वीर ! आपके प्रताप से भरत जी कौसल्या और सुमित्रा का प्रतिपालन करेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥१९॥

[यदि दुष्टो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम् ।
प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेषतः ॥२०॥

हे वीर! और यदि दुष्ट भरत इस उत्तम राज्य को पा कर, दुष्टता से और विशेष कर गर्व से, माताओ की रक्षा न करेगा, ॥२०॥

तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः ।
तत्पक्ष्यानपि तान्सर्वांस्त्रैलोक्यमपि किं नु सा ॥२१॥

तो मै उस नीच और नृशंस को मार डालूँगा—इसमें भी सन्देह नहीं है । उसकी हिमायत मे भले [illegible] तीनो लो[illegible] यें

न खड़े हों—मैं उसके सब हिमायतियों अथवा पक्षपातियों का संहार करूँगा ॥२१॥

कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रामपि मद्विधान्।
यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम्* ॥२२॥

हे आर्य! माता कौसल्या तो मुझ जैसे हजारों का स्वयं भरण पोषण कर सकती हैं, क्योंकि जिसके नेगी सहस्रों गाँवो के मालिक हैं ॥२२॥

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च।
पर्याप्त मद्विधानां च भरणाय यशस्विनी ॥२३॥

वह यशस्विनी माता कौसल्या अवश्य ही अपना और मेरी माता का अथवा मुझ जैसे (हजारों) का पालन भली भाँति कर सकती है ॥२३॥

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्पते ॥२४॥

अतएव तुम मुझे अपना अनुचर बनाओ। मेरे वन चलने में कुछ भी अधर्म न होगा। प्रत्युत मैं तो कृतार्थ हो जाऊँगा और तुम्हारा भी काम निकलेगा ॥२४॥

धनुरादाय सशरं खनित्रपिटकाधरः।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानमनुदर्शयन् ॥२५॥

(काम क्या निकलेगा? यही) मैं तीरो सहित धनुष, खंता (जमीन से कदमूल खोदने का औजार) और बाँस की बनी फल फूल रखने की कडी लिए हुए, तुम्हारे आगे आगे माग बतलाता हुआ चलूँगा ॥२५॥

---

* पाठान्तरे "जीवनम्।"

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च ।
वन्यानि यानि चान्यानि स्वाहाराणि[1] तपस्विनाम् ॥२६॥

और कन्दमूल तथा फल तथा तपस्वियों के भोजन करने योग्य वन में उत्पन्न होने वाले शाकपातादि तथा अन्य वस्तुएँ भी नित्य ला दिया करूँगा ॥२६॥

भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते ।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः[2] स्वपतश्च ते ॥२७॥

आप वैदेही सहित पर्वतों के शिखरों पर विहार कीजिएगा । मैं सोते जागते अर्थात् हर समय आपके सब कामो को कर दिया करूँगा ॥२७॥

रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम् ।
व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम् ॥२८॥

श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण के इन वचनो को सुन, अति प्रसन्न हो उनसे बोले—हे लक्ष्मण ! तुम माता सुमित्रा और अपने (आप) सब सुहृज्जनों से मेरे साथ वन चलने की आज्ञा ले आओ ॥२८॥

ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम् ।
जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने ॥२९॥

और वरुण देव ने स्वयं राजर्षि जनक के, उनके महायज्ञ में जो रौद्र रूप दो धनुष ॥२९॥

*अभेद्यकवचे दिव्ये तूणी चाक्षयसायकौ ।
आदित्यविमलौ चोभौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ ॥३०॥

---

१ स्वाहाराणि—सुखेननाहर्तुं भोक्तुयोग्यानि (गो०) २ जाग्रतः स्वपतश्चेत्यनेन स्वस्थ निद्रा वशीकरण सामर्थ्यम् सूचितम् । (शि०)

* पाठान्तरे "अभेद्य ।"

सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि ।
स त्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण ॥३१॥

अमोघ कवच और दिव्य दो अक्षय तरकस (ऐसे तरकस जिनके बाण कभी चुकते ही न थे) और सूर्य की तरह चमचमाती और सुनहले काम की दोनों तलवारें दी थीं, और (जो हमें महाराज जनक से विवाह के दहेज में मिली हैं) जो वसिष्ठ जी के घर में बड़ी चौकसी के साथ रखे हैं, लक्ष्मण! इस समय तुम उन सब आयुधों को ले कर, जल्दी यहाँ चले आओ ॥३०॥३१॥

स सुहृज्जनमामन्त्र्य वनवासाय निश्चितः ।
इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधमुत्तमम् ॥३२॥

अपना वन जाना निश्चित हुआ जान, लक्ष्मण ने सुहृज्जनों से विदा माँगी और वसिष्ठ जी के घर से, उन उत्तम आयुधों को ले आए ॥३२॥

तद्दिव्यं रघुशार्दूल सत्कृतं माल्यभूषितम् ।
रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम् ॥३३॥

जो बड़े यत्न से रखे हुए थे और जो पुष्पों से भूषित थे। उन सब आयुधों को वहाँ से लक्ष्मण ने ला कर, श्रीरामचन्द्र को दिखलाया ॥३३॥

तमुवाचात्मवान् रामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम् ।
काले त्वमागतः सौम्य काङ्क्षिते मम लक्ष्मण ॥३४॥

तब श्रीरामचन्द्र ने (आए हुए) लक्ष्मण से प्रसन्न हो कर, कहा—हे सौम्य! तुम ठीक समय पर आ गए ॥३४॥

अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परन्तप ॥३५॥

हे भाई! मेरे पास जो कुछ धन है—उसे मैं ब्राह्मणों और तपस्वियों को देना चाहता हूँ। सो तुम इस कार्य में मुझे सहायता दो ॥३५॥

[1]वसन्तीह[2] दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः।
तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम् ॥३६॥

इस नगर में जो ब्राह्मणोत्तम गुरु में दृढ़ भक्ति रखने वाले बसते हैं, उन सब को और अपने नौकरो चाकरों को धन देना उचित है ॥३६॥

वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्यं
त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम्।
अभिप्रयास्यामि वनं समस्ता-
नभ्यर्च्य शिष्टानपरान् द्विजातीन् ॥३७॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

वसिष्ठ-जी के पुत्र सुयज्ञ को जो ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं, तुम जा कर, शीघ्र बुला लाओ। मैं उनका तथा अन्य शिष्ट ब्राह्मणों का सत्कार कर चुकने के बाद, वन जाऊँगा ॥३७॥

अयोध्याकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

१ वसन्ति—गुरुषुभक्त्या ये दृढं वसन्ति। (गो०) २ इह नगरे। (गो०)

द्वात्रिंशः सर्गः

—०—

ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः शुभतरं प्रियम् ।
गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम् ॥१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र की आज्ञा पाने पर, लक्ष्मण सुयज्ञ के घर गए ॥१॥

तं विप्रमग्न्यगारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।
सखेऽभ्यागच्छ पश्य त्वं वेश्म दुष्करकारिणः ॥२॥

और यज्ञशाला में बैठे हुए सुयज्ञ को प्रणाम कर बोले—हे मित्र! श्रीरामचन्द्र राज छोड़ कर, वन जा रहे हैं, सो आप घर चलिए और देखिए कि, वे कैसा दुष्कर कर्म कर रहे हैं ॥२॥

ततः सन्ध्यामुपास्याशु गत्वा सौमित्रिणा सह ।
जुष्टं तत्प्राविशल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम् ॥३॥

लक्ष्मण के ये वचन सुन, सुयज्ञ ने सन्ध्योपासन शीघ्र समाप्त किया और वे लक्ष्मण जी के साथ सुशोभित रमणीक राम भवन में पहुँचे ॥३॥

तमागतं वेदविदं प्राञ्जलिः सीतया सह ।
सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥४॥

वेदविद् और अग्नि के समान तेजस्वी सुयज्ञ को आते देख, सीता समेत श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े उठ खड़े हुए ॥४॥

जातरूपमयैर्मुख्यैरङ्गदैः कुण्डलैः शुभैः ।
सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूरैर्वलयैरपि ॥५॥

और अच्छे अच्छे सोने के गहने, सुन्दर कुण्डल, सुवर्ण सूत्र में गुथी मणियों की माला, केयूर (बाजूबंद) कंकण ॥५॥

अन्यैश्च रत्नैर्बहुभिः काकुत्स्थः प्रत्यपूजयत् ।
सुयज्ञं स तदोवाच रामः सीताप्रचोदितः ॥६॥

तथा अन्य भूषणों तथा बहुत से रत्नो से श्रीरामचन्द्र जी ने उनका सत्कार किआ। तदनन्तर सीता की प्रेरणा से श्रीरामचन्द्र सुयज्ञ से बोले ॥६॥

हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय ।
रशनां[1]चाधुना सीता दातुमिच्छति ते सखे ॥७॥

हे सौम्य ! यह हार और यह सोने की गुंज लो। हे सखे ! सीता ये तुम्हारी स्त्री के लिए देना चाहती है ॥७॥

अङ्गदानि विचित्राणि केयूराणि शुभानि च ।
प्रयच्छति सखे तुभ्यं भार्यायै गच्छती वनम् ॥८॥

इनके अतिरिक्त ये बढ़िया बाजूबंद की जोड़ी तथा ये दिव्य केयूर, मेरे साथ वन को जाने वाली सीता, तुम्हारी स्त्री को देती है ॥८॥

पर्यङ्कमग्र्यास्तरणं नानारत्नविभूषितम् ।
तमपीच्छति वैदेही प्रतिष्ठापयितुं त्वयि ॥६॥

इस पलंग को भी जो कोमल स्वच्छ बिछौनो से युक्त है और जिसमें तरह तरह के रत्न जड़े हुए हैं, वैदेही तुम्हीं को देना चाहती है ॥६॥

नागः शत्रुञ्जयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम ।
तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुङ्गव ॥१०॥

---

१ रशनाचते—भार्यायै सीतादातुमिच्छति तत्सर्वंहारय दापर्ययेत्यर्थः ।
(गो०)

यह शत्रुञ्जय नाम का हाथी, जो मुझे अपने मामा से मिला है, द्विजोत्तम ! मैं तुम्हें हजार* निष्क दक्षिणा सहित देता हूँ अर्थात् एक हजार मोहरो की दक्षिणा सहित देता हूँ ॥१०॥

इत्युक्तः स हि रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत् ।
रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजा शिषः† शिवाः ॥११॥

श्रीरामचन्द्र के इस प्रकार कह कर दिए पदार्थो को ले, सुयज्ञ ने श्रीराम लक्ष्मण और सीता को शुभाशीर्वाद दिया ॥११॥

अथ भ्रातरमव्यग्रं प्रियं रामः पियंवदः ।
सौमित्रिं तमुवाचेदं ब्रह्मेव त्रिदशेश्वरम् ॥१२॥

तदनन्तर, जिस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा जी इन्द्र से बोलते है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र ने अव्यग्र और प्रियवचन बोलने वाले प्यारे लक्ष्मण से कहा ॥१२॥

अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभौ ब्राह्मणोत्तमौ ।
आर्चयाहूय सौमित्रे रत्नैः सस्यमिवाम्बुभिः ॥१३॥

हे लक्ष्मण ! अगस्त्य और विश्वामित्र के पुत्रों को भी बुला लो और इन दोनो उत्तम ब्राह्मणों को भी उसी प्रकार से रत्नो से सत्कारित करो, जिस प्रकार अनाज का खेत जल से सींचा जाता है ॥१३॥

तर्पयस्व महाबाहो गोसहस्रैश्च मानद ।
सुवर्णै रजतैश्चैव मणिभिश्च महाधनैः ॥१४॥

---

† पाठान्तरे——"शुभाः ।"

* १ निष्क—एक सोने का सिक्का जो एक कर्ष अर्थात् दो मासे का होता था ।

दोनों को एक एक हजार गौएँ और बहुमूल्य सोने चाँदी के मणिजटित आभूषण तथा बहुत सा धन दे कर तृप्त करो ॥१४॥

कौसल्यां च सुमित्रां च भक्तः पर्युपतिष्ठति ।
आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥१५॥

तैत्तरीय शाखा के आचार्य उस ब्राह्मण को, जो कौसल्या और सुमित्रा को नित्य बड़ी भक्ति के साथ आशीर्वाद दिआ करता है और सब वेद वेदान्त का जानने वाला है और सब प्रकार से योग्य है ॥१५॥

तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे सम्प्रदापय ।
कौशेयानि च वस्त्राणि यावत्तुष्यति स द्विजः ॥१६॥

सवारी, दासियाँ और रेशमी वस्त्र दो, जिससे वह ब्राह्मण सन्तुष्ट हो ॥१६॥

सूतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोषितः ।
तोषयैनं महार्हैश्च रत्नैर्वस्त्रैर्धनैस्तथा ॥१७॥

यह श्रेष्ठ चित्ररथ नामे का पुरुष, जो मेरा मंत्री है और बहुत दिनो से मेरे यहाँ रहता है, इसका बहुमूल्य रत्न, वस्त्र और धन दे कर सन्तुष्ट करो ॥१७॥

पशुकाभिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च ।
ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमाणवाः[१] ॥१८॥

मेरे ये जो कठ और कलाप शाखाध्यायी और सदा पलाश का दंड धारण करने वाले बहुत से ब्रह्मचारी हैं, इनक दस दस हजार गौएँ और अन्य बहुत से पशु दो ॥१८॥

---

१ दण्डमाणवाः—सदापलाशदण्ड धारिणो ब्रह्मचारिण इत्यर्थः (गो०)

नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत्कुर्वन्ति किञ्चन ।
अलसाः स्वादुकामाश्च महतां[1] चापि सम्मताः ॥१९॥

क्योंकि वे सदा वेद पढ़ा करते हैं और कोई दूसरा काम नहीं करते । वे भिक्षावृत्ति करने में आलसी तो हैं, किन्तु स्वादिष्ट पदार्थों के खाने की बड़ी इच्छा रखते हैं, किन्तु हैं वे बड़े सदाचारी ॥१९॥

तेषामशीतियानानि[2] रत्नपूर्णानि दापय ।
शालिवाहसहस्रं[3] च द्वे शते भद्रकां[4]स्तथा ॥२०॥

अतः इनको रत्नो से भरे अस्सी ऊँट, शालि नामक अन्न से भरे एक हज़ार तथा खेती के काम योग्य दो सौ बैल दो ॥२०॥

व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु ।
मेखलीनां महासङ्घः कौसल्यां समुपस्थितः ॥२१॥

दही, घी, दूध खाने के लिए इनको अनेक गौएँ भी दे दो । देखो मेखला धारण किए हुए ब्रह्मचारियों की जो भीड़ माता कौसल्या के पास उपस्थित है, ॥२१॥

तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय ।
अम्बा यथा च सा नन्देत्कौसल्या मम दक्षिणाम् ॥२२॥

---

१ महता चापि सम्मताः—अतीव साध्वाचारा इत्यर्थः । (गो०) २ यानानि—उष्ट्राः । (गो०) ३ शालिवाहसहस्र—शालिधान्यवाहक-बलीवर्दसहस्र । (गो०) ४ भद्रकान्—कर्षणयोग्याननडुहइत्यर्थः । (गो०)

उनमें से प्रत्येक को सहस्र-सहस्र गौएँ और सहस्र-सहस्र निष्क (दो तोले के वजन की सोने की मोहरें दे दो। अथवा जितनी दक्षिणा देने से माता कौसल्या आनन्दित हों, उतनी उतनी दक्षिणा ॥२२॥

तथा द्विजातींस्तान्सर्वाँल्लक्ष्मणार्चय सर्वशः ।
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद्धनं लक्ष्मणः स्वयम् ॥२३॥

उनको दे कर, हे, लक्ष्मण ! उन सब ब्राह्मणों का सत्कार करो। [श्रीरामचन्द्र के इन वचनों को सुन, पुरुषश्रेष्ठ श्रीलक्ष्मण ने स्वयं ॥२३॥

यथोक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद्धनदो यथा ।
अथाब्रवीद्बाष्पकलांस्तिष्ठतश्चोपजीवनः ॥२४॥

वह समस्त धन कुवेर की तरह उन ब्राह्मणों को दे दिया जैसा कि, श्रीरामचन्द्र ने देने को कहा था। तदनन्तर उन उपजीवियों (नौकरों तथा नेगियों) में से, जो खड़े खड़े रो रहे थे, ॥२४॥

सम्प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम् ।
लक्ष्मणस्य च यद्वेश्म गृहं च यदिदं मम ॥२५॥
अशून्यं[1] कार्यमेकैकं[2] यावदागमनं मम ।
इत्युक्त्वा दुःखितं सर्वं जनं तमुपजीविनम् ॥२६॥

प्रत्येक को जीविका के लिए बहुत सा द्रव्य देकर श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा—जब तक मैं वन से लौट कर न आऊँ,

---

१ अशून्यं—यथापूर्वभवद्भिरुपविश्यरक्षणीयमित्यर्थः । (गो०)
२ एकैक—पृथक् पृथक्। (गो०)

तब तक लक्ष्मण का और मेरा घर खाली न रहने पावे और आप लोग एक एक कर (अर्थात् बारी बारी से) जैसी कि मेरे सामने रखवाली करते हैं, वैसी ही मेरे पीछे भी किया करना। सब नौकरों चाकरों को दुःखी देख, श्रीरामचन्द्र जी ने ॥२५॥२६॥

उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतामिति ।
ततोऽस्य धनमाजह्रुः सर्वमेवोपजीविनः ॥२७॥

खजाञ्ची से कहा धन ले आओ। यह आज्ञा पाते ही नौकरों ने लाकर धन का ढेर लगा दिया ॥२८॥

स राशिः सुमहांस्तत्र दर्शनीयो ह्यदृश्यत ।
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद्धनं सहलक्ष्मणः ॥२८॥

उस समय उस धन के ढेर की शोभा देखे ही बन आती थी। तदनन्तर लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र ने वह धन, ॥२८॥

द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो ह्यदापयत् ।
तत्रासीत्पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः ॥२९॥

ब्राह्मणों, बूढ़ों और दीनों दुखियों को बँटवा दिया। वहाँ पर गर्ग गोत्री एक ब्राह्मण था, जिसका नाम त्रिजट था और (चिन्ता के मारे) उसका शरीर पीला पड़ गया था ॥२९॥

उञ्छवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्याललाङ्गली ।
तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान् ॥३०॥
अब्रवीद्ब्राह्मणं वाक्यं दारिद्र्येणाभिपीडिता ।
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम ॥३१॥

वह उञ्छवृत्ति[1] से निर्वाह करता था, वह नित्य फावड़ा, कुदाल तथा हल ले वन जाता और फलमूल जो कुछ वहाँ मिलते उनसे अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करता था। उस बूढ़े की युवती स्त्री, जो दारिद्र्य से पीड़ित थी, छोटे छोटे लड़कों को ला कर, ब्राह्मण से बोली—अब इन फावड़ा कुल्हाड़ी को तो पटक दो और मैं जो कुछ कहूँ, उसे करो ॥३०॥३१॥

रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किञ्चिदवाप्स्यसि ।
भार्याया वचनं श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम् ॥३२॥

यदि तुम अभी धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी के पास जाओगे तो तुम्हें कुछ न कुछ अवश्य मिल जायगा। स्त्री का वचन सुन, ब्राह्मण पुराने फटे चीथड़े (!) से किसी प्रकार अपना शरीर ढाँक ॥३२॥

[टिप्पणी—अयोध्या नगरी के वर्णन में कहा जा चुका है कि अयोध्या में कोई धन हीन या दरिद्र न था। यदि ऐसा ही था तो फिर यह गर्ग गोत्री त्रिजट ब्राह्मण वहाँ कहाँ से आया था ?]

स प्रातिष्ठत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम् ।
भृग्वङ्गिरसमं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि ॥३३॥
आ पञ्चमायाः कक्ष्याया नैनं कश्चिदवारयत् ।
स राजपुत्रमासाद्य त्रिजटो वाक्यमब्रवीत् ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र के घर की ओर चल दिआ। उस त्रिजट का तेज भृगु और अंगिरा के समान था। (अर्थात् यद्यपि वह ब्राह्मण चिथड़ा लपेटे हुए था, तथापि वह ऋषियो के समान

---

१ उञ्छवृत्ति—खेत में सिल उठ जाने बाद जो अन्न के दाने पड़े रह जाते हैं—उनको बीन कर उदर भरना उञ्छवृत्ति कहलाती है।

सदाचारी होने के कारण बड़ा तेजस्वी था—अतः) वह विना रोक टोक रामभवन की पाँचवीं ड्योढ़ी लाँघ, भीतर पहुँचा, जहाँ लोगों की भीड़ लगी थी। वहाँ जा त्रिजट ने राजकुमार श्रीरामचन्द्र से कहा ॥३३॥३४॥

निर्धनो वहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महायशः ।
उञ्छवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति ॥३५॥

हे महायशस्वी राजकुमार! मैं निर्धन हूँ, तिस पर मेरे वहुत से लड़के वाले भी हैं। मै वन में जा, उञ्छवृत्ति से जो कुछ पाता हूँ, उसीसे निर्वाह करता हूँ। मेरी ओर भी दयादृष्टि होनी चाहिए ॥३५॥

तमुवाच तदा रामः परिहाससमन्वितम् ।
गवां सहस्रमप्येकं न तु विश्राणितं[1] मया ॥३६॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने उससे परिहास पूर्वक कहा—मेरे पास हजारों गौएँ हैं, जिनको अव तक मैंने नहीं दिआ है ॥३६॥

परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसि ।
स शाटीं त्वरितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम् ॥३७॥

तुम अपनी लाठी फेको, जितनी दूर तुम्हारी लाठी जा कर गिरेगी, उतने बीच में जितनी गौएँ खड़ी हो सकेगीं, उतनी गौएँ मैं तुम्हें दूँगा। श्रीरामचन्द्र की यह वात सुन, त्रिजट ने वह चिथड़ा कस कर, तुरन्त कमर मे लपेटा ॥३७॥

आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगितः ।
स तीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्च्युतः ॥३८॥

---

१ न विश्राणित—न दत्त। (गो०)

और लाठी घुमा तथा अपना सारा बल लगा उसे फेंका। वह लाठी सरयू नदी के उस पार ॥३८॥

गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षण[1] सन्निधौ ।
तं परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात्सरयूतटात् ।
आनयामास ता गोपैस्त्रिजटायाश्रमं प्रति ॥३९॥

जहाँ हज़ारों गायें और बैलों का झुंड था, जा गिरी। उस समय श्रीरामचन्द्र ने उस ब्राह्मण को अपने गले से लगाया और वहाँ से सरयू पार तक जितनी गौएँ आ सकती थीं, उन सब को त्रिजट के आश्रम पर दिआ ॥३९॥

उवाच च ततो रामस्तं गार्ग्यमभिसान्त्वयन् ।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम ॥४०॥

और उस गर्ग गोत्री ब्राह्मण को सान्त्वना देते हुए श्रीरामचन्द्र उससे बोले—हे ब्राह्मण! क्रोध मत करना। क्योकि मैंने जो कहा था, वह विनोदार्थ कहा था ॥४०॥

इदं हि [2]तेजस्तव यद्दुरत्ययं[3]
तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया ।
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो
वृणीष्व किं चेदपरं व्यवस्यति ॥४१॥

तुम्हारे अतिशय शारीरिक बल की परीक्षा करने के लिए ही मैंने यह बात तुमसे कही थी। उतनी गौएँ तो आपके स्थान पर

१ उक्षणा—वृषभानाम्। (रा०) २ तेजः—बलं। (गो०) ३ दुरत्ययं-निरतिशयं। (गो०)

पहुँच गईं—अब उन गौओं के अतिरिक्त और जो कुछ आप चाहते हों सो कहिए ॥४१॥

ब्रवीमि सत्येन न तेऽस्ति यन्त्रणा
धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात् ।
भवत्सु सम्यक्प्रतिपादनेन तत्
मयाऽऽर्जितं प्रीतियशस्करं भवेत् ॥४२॥

मैं सत्य कहता हूँ कि, आपके लिए किसी वस्तु के देने में किसी प्रकार की रोक टोक नहीं है। क्योंकि मेरा समस्त धन ब्राह्मणो ही के लिए तो है। यदि मै अपनी पैदा की हुई धन सम्पत्ति आप सरीखे ब्राह्मणो को दे दूँ, तो मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हो और मुझे यश भी मिले ॥४२॥

ततः सभार्यस्त्रिजटो महामुनि-
र्गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदितः ।
यशोबलप्रीतिसुखोपबृंहिणी-[1]
स्तदाऽऽशिषः प्रत्यवदन् महात्मनः ॥४३॥

तब द्विजश्रेष्ठ त्रिजट, अपनी स्त्री सहित प्रमुदित मन से और भी असख्य गौ ले तथा बल, यश, प्रीति और सुख की वृद्धि के लिए श्रीरामचन्द्र को अनेक आशीर्वाद देता हुआ चला गया ॥४३॥

स चापि रामः परिपूर्णमानसो
महद्धनं धर्मबलैरुपार्जितम् ।

---

१ बृंहिणी—वर्धनी। (गो०)

नियोजयामास सुहृज्जने चिरा-
यथार्हसम्मानवचःप्रचोदितः ॥४४॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी शुद्ध और गाढी कमाई के धन को बड़े आदर के साथ अपने सुहृदों को बाँटा ॥४४॥

द्विजः सुहृद्भृत्यजनोऽथवा तदा
दरिद्रभिक्षाचरणश्च योऽभवत् ।
न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितो
यथार्हसम्माननदानसम्भ्रमैः ॥४५॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

उस समय ऐसा कोई ब्राह्मण, सुहृद, नौकर, निर्धन और भिक्षुक न था, जिसका यथायोग्य दान मान से सत्कार श्रीरामचन्द्र ने न किया हो और जो सन्तुष्ट न हुआ हो ॥४५॥

अयोध्याकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—:०:—

दत्त्वा तु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु ।
जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ ॥१॥

सीता और श्रीरामचन्द्र ने ब्राह्मणों को बहुत धन दिया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता मिलने के लिए महाराज दशरथ के पास गए ॥१॥

ततो गृहीते *प्रेष्याभ्यामशोभेतां तदायुधे ।
मालादामभिराबद्धे सीतया समलङ्कृते ॥२॥

सीता जी द्वारा फूल चन्दनादि से सजाए हुए आयुध, जिन्हें नौकर लोग लिए हुए थे (और जो श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे जा रहे थे) शोभित हो रहे थे ॥२॥

ततः प्रासादहर्म्याणि[1] विमानशिखराणि[2] च ।
अधिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो[3] व्यलोकयत् ॥३॥

उस समय पुरवासी लोग देवताओं के मन्दिरो, रईसो के भवनों और सतखने मकानों की अटारियो पर चढ़ और निरुत्सुक हो उन तीनों को देखते थे ॥३॥

न हि रथ्याः स्म शक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः ।
आरुह्य तस्मात् प्रासादात् दीनाः पश्यन्ति राघवम् ॥४॥

क्योंकि उस समय रास्तो पर लोगो की ऐसी अपार भीड़ थी कि, लोग निकल बैठ नहीं सकते थे । अतः लोग ऊँचे मकानों की छत्तो पर बैठ और दुःखी हो, श्रीरामचन्द्र को देखते थे ॥४॥

पदातिं वर्जितच्छत्रं रामं दृष्ट्वा तदा जनाः ।
ऊचुर्बहुविधा वाचः शोकोपहतचेतसः ॥५॥

---

१ प्रासादहर्म्याणि—प्रासादोदेवतानाभूभुजायावासः हर्म्याणि—धनिना मन्दिराणि । (गो०) २ विमानशिखराणि—विमान सप्तभूमि सहितंसद्म । (गो०) ३ उदासीनः—निरुत्सुकः । (गो०)

* पाठान्तरे "दुष्प्रेक्षे त्वशोभेता ।"

उस समय श्रीरामचन्द्र को पैदल और छत्ररहित जाते देख, लोग अत्यन्त दुःखी थे और अनेक प्रकार की बातें कह रहेथे ॥५॥

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत् ।
तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः ॥६॥

कोई कहता—देखो, जिसके पीछे, यात्रा करते समय, चतुरङ्गिणी सेना चलती थी, उसके पीछे (आज) केवल सीता और लक्ष्मण ही हैं ॥६॥

ऐश्वर्यस्य रसज्ञः[1] सन्कामिनां[2] चैव कामदः[3] ।
नेच्छत्येवानृतं कर्तुं पितरं धर्मगौरवात्[4] ॥७॥

कोई कहता—जो श्रीरामचन्द्र सब ऐश्वर्यों के सुखों का अनुभव करने वाले और अर्थार्थियो को यथेच्छित धन देने वाले हैं, वे ही आज अपने कर्त्तव्यपालन के अनुरोध से पिता के वचन को मिथ्या करना नहीं चाहते ॥७॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥८॥

कोई कहता जिन सीता जी को पहिले आकाशचारी प्राणी भी नहीं देख सकते थे, उन्हीं सीता जी को आज राह चलते लोग देख रहे हैं ॥८॥

[टिप्पणी—इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि, रामायणकाल में स्त्रियों के लिए परदे में रहने की प्रथा कितनी कठोर थी ।]

---

१ रसज्ञः—सग्रहसुखज्ञः । (रा०) २ कामिना—अर्थकाङ्क्षिणाम् । (गो०) ३ कामदः—अभीष्टधनप्रदः । (गो०) ४ धर्मगौरवात्—पितृशुश्रूषण वचनकरण विधेयत्वादि रूपधर्म विषयक बहुमानात् । (गो०)

अङ्गरागोचितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम् ।
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यन्त्याशु विवर्णताम् ॥९॥

कोई कहता—चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं के लगाने योग्य जानकी वन में वर्षा, शीत, गरमी विवर्ण (शरीर का रंग और का और) कर देगी ॥९॥

अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते ।
न हि राजा प्रियं पुत्रं विवासयितुमिच्छति ॥१०॥

कोई कहता—निश्चय ही महाराज दशरथ के सिर पर पिशाच सवार है, नहीं तो ऐसे प्यारे पुत्र को वे वनवास कभी न देते ॥१०॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद्विप्रवासनम् ।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥११॥

कोई कहता—लोग अपने गुणहीन पुत्र को भी घर से नहीं निकालते, फिर श्रीरामचन्द्र ने तो अपने सदाचरण से यह लोक जीत लिया है। अर्थात् श्रीरामचन्द्र तो संसार में एक प्रसिद्ध सदाचारी हैं ॥११॥

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं[1] शीलं[2] दमः[3] शमः[4] ।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम् ॥१२॥

कोई कहता—(केवल सदाचार ही के लिए नहीं—प्रत्युत) अहिंसा, दया, यथाविधि शास्त्राध्ययन, सत्स्वभाव, इन्द्रियों का

---

१ श्रुत—अनुष्ठानपर्यवसायिशास्त्राध्ययनम् । (रा०) शील—सत्स्वभावः (रा०) दमः—बाह्येन्द्रिय निग्रहः । (रा०) ४ शमः—चित्तनिग्रहः । (रा०)

निग्रह, मन का निग्रह इन छः गुणों से श्रीरामचन्द्र जी शोभित हैं अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी में ये छः गुण हैं ॥१२॥

तस्मात्तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।
औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥१३॥

ऐसे (गुणी पुत्र) श्रीरामचन्द्र जी के वन जाने से लोगों को वैसा ही महाकष्ट हो रहा है, जैसा कि, ग्रीष्मकाल में जल के अभाव से जलजन्तुओं को होता है ॥१३॥

पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः ।
मूलस्यैवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥१४॥

कोई कहता—जगत्पति श्रीरामचन्द्र के कष्ट से सारा संसार कष्ट पा रहा है। जैसे जड़ को काटने से फला फूला (हरा-भरा) पेड़ सूख जाता है ॥१४॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः ।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥१५॥

अत्यन्त कान्ति वाले और धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र (वृक्ष के) जड़ स्थानीय हैं और अन्य लोग (उस वृक्ष के) पुष्प, फल, पत्र, शाखा आदि स्थानीय हैं ॥१५॥

ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्नीकाः सबान्धवाः ।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥१६॥

अतएव हम लोग भी लक्ष्मण की तरह, अपनी स्त्रियों को साथ ले, अपने भाई बन्दों सहित, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे शीघ्र जायँगे ॥१६॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च।
एकदुःखसुखा[1] राममनुगच्छाम धार्मिकम् ॥१७॥

कोई कहता—हम लोग बाग बगीचा, खेती बारी और घर द्वार छोड़, बराबर सुख दुःख सहते हुए, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र के पीछे पीछे जाँयगे ॥१७॥

[टिप्पणी—घर द्वार छोड़ कर जब लोग चल देंगे तब घरों की क्या दशा होगी, वही प्रजाजन आगे कहते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं, कि जब हम सब अयोध्या छोड़ चले जाँयगे, तब श्मशान तुल्य पुरी में कैकेयी शासन करे।]

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि[2] सर्वशः ॥१८॥

रजसाऽभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः[3]।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ॥१९॥

अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च।
प्रनष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥२०॥

दुष्कालेनेव[4] भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च।
अस्मत्त्यक्तानि वेश्मानि कैकेयी प्रतिपद्यताम् ॥२१॥

जिन घरों को हम त्याग देंगे, उनमे धन नहीं रह जायगा, उनके आँगन टूट फूट जाँयगे, उनमे अन्न और धन रहने न

---

१ एकदुःखसुखाः—समान सुखदुःखाः। (गो०) २ साराणि—शय्यासनादीनि। (गो०) ३ दैवतैः—गृहदैवतैः। ४ दुष्काले—राजिक दैविक क्षोभकालः। (रा०)

पावेगा, उनकी रमणीयता नष्ट हो जायगी, धूल गरदा भर जायगी, गृह देवता घरों से चल देंगे, मूँसे दौड़ लगाया करेंगे, घर भर मे बिलही बिल देख पड़ेंगे, उनमे जल की बूँद भी न देख पड़ेगी, लिपाई पुताई न होने से मकान धुमैले और स्वच्छता रहित हो जाँयगे, उनमें बलिवैश्वदेव, होम, जप होना बद हो जायगा, उनमे टूटे-फूटे बरतन इधर उधर पड़े देख पड़ेंगे, मांनों राजा और दैव के कोप से वे दुर्दशाग्रस्त हो रहे हो—ऐसे घरो से युक्त अयोध्या का राज्यसुख, कैकेयी भोगे ॥१८॥१९॥२०॥२१॥

वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥२२॥

(कोई कहता हमारी तो ईश्वर से यह प्रार्थना है कि,) जिस वन मे श्रीरामचन्द्र जी जाँय वहाँ तो नगर बस जाय और हमारी छोड़ी हुई यह अयोध्यापुरी वन हो जाय। (अर्थात् वन बसे अयोध्या उजड़े) ॥२२॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे सानूनि मृगपक्षिणः ।
त्यजन्त्यस्मद्भयाद्भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥२३॥

हमारे भय से भीत हो सर्पादि अपने बिलो को, मृग और पत्ती पर्वत शृङ्गो को तथा हाथी एवं सिंह वनो को त्याग, इस अयोध्यापुरी में आकर बसे ॥२३॥

अस्मत्त्यक्तं प्रपद्यन्तां सेव्यमानं त्यजन्तु च ।
तृणमांसफलादानां देशं व्यालमृगद्विजम् ॥२४॥
प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सहबान्धवैः ।
राघवेण वने सर्वे सहवत्स्याम निर्वृताः ॥२५॥

हमारी छोड़ी हुई इस प्रकार की पुरी में, जिसमें केवल घास फूस, मॉस और फल मिल सकेंगे और जो सॉपो, मृगों और पक्षियों से भरी हुई होगी—कैकेयी अपने पुत्र और भाई बन्दों के सहित राजसुख भोगे और हम सब श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन में सुखपूर्वक वास करें ॥२४॥

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः ।
शुश्राव रामः श्रुत्वा च न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥२६॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार की विविध बातें अनेक लोगों के मुखों से सुनते जाते थे, तथापि उनकी इन बातों को सुनने से उनके मन में जरा सा भी विकार उत्पन्न नहीं होता था ॥२६॥

स तु वेश्म पितुर्दूरात्कैलासशिखरप्रभम् ।
अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः ॥२७॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र धीरे धीरे मतवाले हाथी की तरह विक्रम प्रदर्शित करने वाली चाल से, कैलासशृङ्ग के समान एवं शोभित पिता जी के भवन की ओर जाने लगे ॥७॥

विनीतवीरपुरुषं स प्रविश्य नृपालयम् ।
ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः ॥२८॥

राजमहल के द्वार पर वीर लोग विनीत भाव से खड़े थे। श्रीरामचन्द्र जी उनके पास से आगे बढ़े और थोड़ी ही दूर पर उदास मन खड़े हुए सुमन्त्र को देखा ॥२८॥

प्रतीक्षमाणोऽपि जनं तदाऽऽर्त-
मनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ ।

जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः
पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः ॥२६॥

वहाँ के लोग जो श्रीरामचन्द्र जी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, सब के सब शोकाकुल होने के कारण खिन्न थे, उनको देख और मुसक्या, श्रीरामचन्द्र पिता को देखने और उनकी आज्ञा का विधिवत् पालन करने को चले जाते थे ॥२६॥

तत्पूर्व[1] मैक्ष्वाकसुतो महात्मा
रामो गमिष्यन्वनमार्तरूपम् ।
व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं
पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम् ॥३०॥

निश्चित राम-वियोग-जनित दुःख से महाराज दशरथ के समीप जाने के पूर्व ऐक्ष्वाकुसुत महात्मा श्रीरामचन्द्र ने बड़े बूढ़े सुमंत्र को द्वार पर अपने आगमन की सूचना महाराज को देने के लिए, खड़ा हुआ देखा ॥३०॥

पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो
वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः ।
स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवी-
न्निवेदयस्वागमनं नृपाय मे ॥३१॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ तत्पूर्वं—तस्मात्पितुरपिपूर्वं पौर्वकालिकं । सुमंत्र । (शि०)

धर्मवत्सल पिता की आज्ञा को पूरी करने के हेतु और वन जाने का निश्चय किए हुए श्रीरामचन्द्र, सुमन्त्र को खड़ा देख, उनसे बोले कि, महाराज को हमारे आने की सूचना दे दो ॥३१॥

अयोध्याकाण्ड का तेतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—:o:—

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो* महान्।
उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति ॥१॥

कमलपत्र के समान नेत्र वाले, श्याम अंग, उपमा रहित श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा कि, हमारे आने की सूचना महाराज को दो ॥१॥

स रामप्रेषितः क्षिप्रं सन्तापकलुषेन्द्रियः।
प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह ॥२॥

श्रीरामचन्द्र के भेजे हुए सुमन्त्र ने तुरन्त भीतर जा कर, देखा कि, महाराज दशरथ शोक से विकल उसाँसे ले रहे हैं ॥२॥

[1]उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम्।
तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम् ॥३॥

उस समय सुमंत्र ने महाराज को राहुग्रस्त सूर्य की तरह अथवा भस्माच्छादित अग्नि की तरह अथवा जलरहित तड़ाग की तरह, देखा ॥३॥

१ उपरक्त—राहुग्रस्त। (गो०) * पाठान्तरे "निरुदरो।"

आलोक्य तु महाप्राज्ञः परमाकुलचेतसम् ।
राममेवानुशोचन्तं सूतः प्राञ्जलिरासदत् ॥४॥

महापण्डित सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता से विकल और अत्यन्त घवड़ाए हुए महाराज दशरथ जी को देख, हाथ जोड़ कर कहा ॥४॥

तं वर्धयित्वा[1] राजानं सूतः पूर्वं जयाशिषा ।
भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णमब्रवीत् ॥५॥

सुमंत्र ने प्रथम तो राजोचित अभिवादन किआ, तदुपरान्त महाराज की जय हो कह कर, आशीर्वाद दिआ । फिर डरते डरते वे धीमे स्वर से यह मधुर वचन बोले ॥५॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्वं[2] चैवोपजीविनाम् ॥६॥

हे महाराज ! ये पुरुषसिंह आपके पुत्र द्वार पर खड़े हैं । ब्राह्मणो और अपने नौकरो चाकरो को धन और सामान दे ॥६॥

स त्वां पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः ।
सर्वान्सुहृद आपृच्छ्य त्वामिदानीं दिदृक्षते ॥७॥

और सब सुहृज्जनो से विदा हो, सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्र आपके दर्शन करने के लिए आए हुए हैं ॥७॥

गमिष्यति महारण्यं तं पश्य जगतीपते ।
वृतं राजगुणैः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः ॥८॥

---

१ वर्धयित्वा—सम्पूज्य । (रा०) २ सर्वं—गृहोपकरणादिकं । (गो०)

जिस प्रकार सूर्य भगवान् अपनी किरणों से सुशोभित होते हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्र भी विविध प्रकार के राज्योचित गुणों से शोभित हैं। वे अब शीघ्र ही दण्डकवन को जॉयगे। सो हे पृथ्वी नाथ! आप उनको दर्शन दीजिए ॥८॥

स सत्यवादी धर्मात्मा गाम्भीर्यात्सागरोपमः ।
आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम् ॥९॥

सुमन्त्र के ये वचन सुन, सत्यवादी, धर्मात्मा, गम्भीरता में समुद्र के समान और आकाश की तरह निर्मल, महाराज दशरथ ने कहा ॥९॥

सुमन्त्रानय मे दारान्ये केचिदिह मामकाः ।
दारैः परिवृतः सर्वैर्द्रष्टुमिच्छामि राघवम्* ॥१०॥

हे सुमंत्र! इस घर में मेरी जितनी स्त्रियाँ हैं, उन सब को पहले बुला लो। मैं उन सब के सहित श्रीरामचन्द्र को देखना चाहता हूँ ॥१०॥

सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत् ।
आर्या ह्वयति वो राजाऽगम्यतां तत्र मा चिरम् ॥११॥

यह सुन सुमंत्र भीतर गए और स्त्रियों से बोले कि, महाराज आपको बुलाते हैं—शीघ्र आइए ॥११॥

एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया ।
प्रचक्रमुस्तद्भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥१२॥

जब सुमन्त्र ने उन सब स्त्रियों को इस प्रकार महाराज की आज्ञा सुनाई, तब अपने पति की आज्ञा से वे महाराज के पास जाने को तैयार हुईं ॥१२॥

---

* पाठान्तरे—"धार्मिकम्।"

अर्धसप्तशतास्तास्तु प्रमदास्ताम्रलोचनाः ।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः ॥१३॥

साढ़े तीन सौ स्त्रियाँ जिनके नेत्र श्रीरामचन्द्र जी के वियोग-जन्य दुःख के कारण रोते रोते लाल हो गए थे, कौसल्या को घेर कर धीरे धीरे महाराज के पास गईं ॥१३॥

आगतेषु च दारेषु समवेक्ष्य महीपतिः ।
उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम् ॥१४॥

जब महाराज ने देखा कि, सब स्त्रियाँ आ गईं, तब उन्होंने सुमंत्र को आज्ञा दी कि, हे सुमंत्र ! मेरे पुत्र को ले आओ ॥१४॥

स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तदा ।
जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥१५॥

तब सुमंत्र जी श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता को साथ ले, शीघ्र महाराज के निकट चले ॥१५॥

स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा दूरात्कृताञ्जलिम् ।
उत्पपातासनात्तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः ॥१६॥

उस समय, महाराज दूर ही से हाथ जोड़े हुए श्रीरामचन्द्र को आते देख, तुरन्त पलंग छोड़, स्त्रियों सहित उठ खड़े हुए ॥१६॥

सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्ट्वा विशांपतिः ।
तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्छितः ॥१७॥

और श्रीरामचन्द्र को देख उनकी ओर बड़े वेग से दौड़े; किन्तु श्रीरामचन्द्र के पास तक न पहुँच, बीच ही में दुःखी होने के कारण मूर्छित हो, धरणी पर गिर पड़े ॥१७॥

तं रामोऽभ्यपतत्क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः ।
विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तदा ॥१८॥

यह देख श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने बड़ी तेजी से दौड़ कर, दुःख और शोक से चेष्टाशून्य-से हुए महाराज को उठा लिया ॥१८॥

स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि ।
हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमूर्छितः ॥१९॥

उस समय वह राजभवन सहस्रों स्त्रियों के विलाप से भर गया और उनके आभूषणों की झनकार का शब्द उस रोने पीटने के कोलाहल में दब गया ॥१९॥

तं परिष्वज्य बाहुभ्यं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।
पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन् ॥२०॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने दोनो भुजाओं को पकड़ कर और सीता सहित रोते रोते महाराज को ले जा कर, पलंग पर बैठाया ॥२०॥

अथ रामो मुहूर्तेन लब्धसंज्ञं महीपतिम् ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा शोकार्णवपरिप्लुतम् ॥२१॥

जब एक मुहूर्त्त बाद महाराज सचेत हुए, तब श्रीरामचन्द्र जी शोकसमुद्र मे डूबे हुए महाराज दशरथ से हाथ जोड़ कर बोले ॥२१॥

आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः ।
प्रस्थितं दण्डकारण्य पश्य त्वं कुशलेन[1] माम् ॥२२॥

---

१ कुशलेन चक्षुषेतिशेषः । (गो०)

हे महाराज ! मै आपसे विदा होने आया हूँ। आप हम सबके स्वामी हैं। अब मै दण्डकवन को प्रस्थान करता हूँ। अब आप मेरी ओर एक बार कृपादृष्टि से देख तो लें ॥२२॥

लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेति मां वनम् ।
कारणैर्बहुभिः १तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः ॥२३॥

लक्ष्मण और सीता को भी मेरे साथ जाने की आज्ञा दीजिए, क्योंकि मैने अनेक कारण बतला, इन दोनों ही को मना किया, परन्तु ये दोनो यहाँ रहने को राजी ही नहीं होते ॥२३॥

अनुजानीहि सर्वान्नः शोकमुत्सृज्य मानद ।
लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिव प्रजाः ॥२४॥

सो हे महाराज ! शोक को परित्याग कर, हम सब को वैसे ही आज्ञा दीजिए जैसे प्रजापति अपनी प्रजा को आज्ञा देते हैं ॥२४॥

प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतेः ।
उवाच राजा सम्प्रेक्ष्य वनवासाय राघवम् ॥२५॥

तब महाराज दशरथ व्यग्रता रहित अपने पुत्र को वन जाने की आज्ञा की प्रतीक्षा करते जान, उनकी ओर कृपापूर्ण दृष्टि से देख, बोले ॥२५॥

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः२ ।
अयोध्यायास्त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम् ॥२६॥

हे रामचन्द्र ! मुझे कैकेयी ने वरदान द्वारा धोखा दिया है। सो तुम मुझे बाँध कर (गिरफ्तार कर) बलपूर्वक अयोध्या के राजा बनो ॥२६॥

---

१ तथ्यैः—परमार्थैः । (गो०) २ मोहितः—वञ्चितः । (गो०)

एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतांवरः ।
प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः ॥२७॥

महाराज का यह वचन सुन धर्मधुरन्धर और बातचीत करने में पटु श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़ कर, पिता से बोले ॥२७॥

भवान्वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे कार्यं त्वयाऽनृतम् ॥२८॥

हे महाराज! (परमात्मा करे) आप आगे और भी हज़ारो वर्षो की आयु पा कर, पृथ्वी का पालन करते रहें। मै आपको मिथ्यावादी बनाना नही चाहता। मैं अवश्य वन में वास करूँगा ॥२८॥

नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते ।
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ॥२९॥

हे महाराज! वन में १४ वर्ष बिता और अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर, पुनः आपके दोनो चरणो को पकडूँगा। अथवा प्रणाम करूँगा ॥२९॥

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयतः ।
कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो[1] राजा तमब्रवीत् ॥३०॥

सत्यरूपी पाश में बँधे, और इशारे से कैकेयी द्वारा प्रेरित हो, महाराज आर्त हो और रोदन करते हुए श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥३०॥

---

१ मिथ.—रहसि। (गो०)

श्रेयसे[१]वृद्धये[२] तात पुनरागमनाय च ।
गच्छस्वारिष्टं[३]मव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ॥३१॥

हे वत्स ! पारलौकिक सुख और इस लोक के यश आदि फल की प्राप्ति तथा फिर यहाँ लौट आने के लिए तुम अव्यग्र मन से वन जाओ। मार्ग में तुम्हारा कल्याण हो और तुम्हें किसी भी बनैले जीव जन्तु का भय न हो ॥३१॥

न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव ।
विनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन ॥३२॥

हे श्रीरामचन्द्र ! तुम सत्य के पालन में तत्पर और धर्मकार्य करने में दत्तचित्त हो, अतः तुमको इनसे हटा कर, दूसरे मार्ग पर चलाने की बुद्धि (केवल मुझीमें नहीं प्रत्युत) किसी में भी नहीं है ॥३२॥

अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा ।
एकाहदर्शनेनापि साधु[४] तावच्चराम्यहम्[५] ॥३३॥

परन्तु आज की रात तो किसी तरह रह जाओ। भला एक दिन तो और तुम्हारे साथ रहने का सुख मैं भोग लूँ ॥३३॥

मातरं मां च सम्पश्यन्वसेमामद्य शर्वरीम् ।
तर्पितः[६] सर्वकामैः[७]त्वं श्वः काले[८]साधयिष्यसि[९] ॥३४॥

---

१ श्रेयसे—पारलौकिकफलाय । (गो०) २ वृद्धये—ऐहिकफलाय । (गो०) ३ अरिष्टं—शुभं । (गो०) ४ साधु—सुख । (गो०) ५ चरामि—वसामि । (गो०) ६ तर्पितः—ममातृप्तिप्राप्तः । (शि०) ७ सर्वकामैः—इच्छाविषयभूतैः । (शि०) ८ काले—प्रातःकाले । ९ साधयिष्यसि—गमिष्यसि । (गो०)

मरी और अपनी माता की ओर देखो और आज की रात
ीं रह जाओ। रात में मैं अपनी साध पूरी कर लूँगा, तब तुम
बेरा होते ही कल वन चले जाना ॥३४॥

दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव त्वया ।
मत्प्रियार्थं[1] प्रियांस्त्यक्त्वा यद्यासि विजनं वनम् ॥३५॥

हे वत्स! तुम ऐसा दुष्कर काम कर रहे हो जैसा और कोई
ाहीं करेगा कि, हमारा परलोक बनाने के लिए तुम अपने सब
यारे जनों को छोड़, विजन वन को जाते हो ॥३५॥

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव ।
छन्नया[2] चलित[3]स्त्वस्मि स्त्रिया छन्नाग्निकल्पया ॥३६॥

हे वत्स! मैं सत्य की शपथ खा कर कहता हूँ कि मुझे तुम्हारा
वन जाना कभी अभिमत नहीं है। पर क्या करूँ—इस कैकेयी की
जो भस्म से छिपी हुई आग की तरह (भयङ्कर) है, छल भरी
चाल में मैं फँस गया ॥३६॥

वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि ।
अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याऽभिप्रचोदितः ॥३७॥

मैं कुलकलङ्किनी कैकेयी के जिस छलजाल में फस गया हूँ,
उसे तुम इसके कहने मे आ, पार करना चाहते हो। अर्थात् मैं तो
इसकी बातों मे फसा ही हूँ, तुम क्यों फसते हो, या मैं तो इसके
धोखे में आ चुका, तुम इसके धोखे मे क्यों आते हो? ॥३७॥

---

१ मत्प्रियार्थं—ममपरलोकप्रियार्थं । (गो०) २ छन्नया—गूढाभिप्रायया । (गो०) ३ चलितः—स्वाधीनत्वाच्चलन प्राप्तः । (गो०)

न चैतदाश्चर्यतमं यस्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम ।
अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥३८॥

हे वत्स! इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि तुम मेरे ज्येष्ठपुत्र हो, अतः तुम अपने पिता को सत्यवादी ठहराया चाहते हो ॥३८॥

अथ रामस्तथा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत् ॥३९॥

इस प्रकार अति दुःखी पिता के वचन सुन लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्र जी दीन हो बोले ॥३९॥

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान्को मे श्वस्तान्प्रदास्यति ।
अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥४०॥

हे पिता! (यदि मैं आपके कथनानुसार रह भी जाऊँ तो) आज मुझे राजोचित सब पदार्थ व सुख यहाँ मिल जायँगे, किन्तु कल मुझे ये पदार्थ कौन देगा अतः मैं अब सब के बदले आपसे तुरन्त वन जाने को आज्ञा माँगता हूँ ॥४०॥

[टिप्पणी—"तिलक" टीकाकार ने इस श्लोक के प्रथम पाद का अर्थ यह किया है, आज वन जाने से प्रतिज्ञापालन रूपी जो पुण्य फल मुझे प्राप्त होगा वह फल कल जाने से कभी प्राप्त नहीं हो सकता। "अद्य प्रयाणे सति यान्गुणान् प्रतिज्ञापालनजधर्मरूपान् प्राप्स्यामि श्वोगमने कस्तान्दास्यति प्रत्युताधर्मएव"।]

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला ।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥४१॥

अब आप मेरी छोडी हुई धन धान्य और मनुष्यों से भरी पूरी और विविध राज्यों से घिरी पृथिवी भरत को दे दीजिए ॥४१॥

वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति ।
यस्तुष्टेन वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥४२॥

क्योकि मैने वन जाने के विषय में जो निश्चय किया है वह टल नहीं सकता । हे वरद ! आपने सन्तुष्ट हो ऐसा वर कैकेयी को दिया है ॥४२॥

[टिप्पणी—यहाँ श्रीराम का दशरथ को 'त्वया' कहना खटकता है क्योंकि श्रीराममर्यादा पुरुषोत्तम प्रख्यात है ।

दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव ।
अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥४३॥

अत हे पृथ्वीनाथ ! आप मुझे आज्ञा दीजिए और आप सम्पूर्णत. सत्यप्रतिज्ञ हूजिए । आपने जैसी आज्ञा दी है, तदनुसार मै उसका पालन करूँगा ॥४३॥

चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह ।
मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥४४॥

मैं तपस्वियों के साथ चौदह वर्षो तक वन मे रहूँगा । आप भरत को राज्य देने का विचार मत पलटिए ॥४४॥

न हि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि[1] वा प्रियम् ।
यथानिदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥४५॥

क्योंकि आपकी आज्ञा का प्रतिपालन करने के समान मुझे न तो राज्य की चाहना है और न मेरे मन में किसी सुख की ही चाहना है ॥४५॥

१ आत्मनि—मनसि । (गो०)

अपगच्छतु ते (१) दुःखं मा भूर्बाष्पपरिप्लुतः।
न हि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितां पतिः ॥४६॥

आप रुदन न कीजिए और दुःखी न हूजिए। भला नदियों का स्वामी दुर्धर्ष समुद्र भी कहीं क्षुब्ध होता है! ॥४६॥

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मैथिलीम्।
नैव सर्वानिमान्कामान्न स्वर्गं नैव जीवितम् ॥४७॥

हे महाराज! अधिक तो मैं क्या कहूँ! मै राज्य, सुख, जानकी, भोग, स्वर्ग—यहाँ तक कि, मैं अपना जीवन भी नहीं चाहता ॥४७॥

त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ।
प्रत्यक्षं[१] तव (!) सत्येन सुकृतेन च ते (!) शपे ॥४८॥

किन्तु हे पुरुषोत्तम! मै मिथ्याभाषण से छुड़ा, आपको सत्यवादी करना चाहता हूँ। आप देवता रूप हैं, आपके सामने मैं अपने सुकृत और सत्य की शपथ खा कर, ये बाते कह रहा हूँ। मेरे इस कथन में ज़रा सा भी झूठ या बनावट नहीं है ॥४८॥

न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो।
न शोकं धारयस्वैनं न हि मेऽस्ति विपर्ययः ॥४९॥

हे तात! हे प्रभो! (रात भर की क्या चलाई) मैं अब एक क्षण भी यहाँ नही ठहर सकता। (मेरी आपसे प्रार्थना है कि,) आप मेरे लिए अधीर न हों। क्योकि वनयात्रा सम्बन्धी मेरे सङ्कल्प में अब तिल भर भी अन्तर नहीं पड़ सकता ॥४९॥

---

१ प्रत्यक्ष—प्रत्यक्षदैवभूतस्य तवसन्निधौ। (गो०)

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव ।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥५०॥

जब कैकेयी ने मुझसे कहा कि, रामचन्द्र तुम वन जाओ, तब मैंने कहा कि अच्छा मैं वन जाता हूँ। अतएव, अपने इस कथन के सत्य का भी पालन करना मेरे लिए अनिवार्य है ॥५०॥

मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम् ।
प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुननादिते ॥५१॥

हे देव! आप जरा भी न घबड़ायें। मै ऐसे वन में रहूँगा जहाँ शान्त चित्त हिरन विचरते है और अनेक प्रकार के पक्षियो की बोलियाँ सुनाई पड़ती हैं ॥५१॥

पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम् ।
तस्माद्दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥५२॥

हे तात! पिता देवताओ के भी देवता होते हैं। अतः आपको परम देवता समझ, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ॥५२॥

चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नरसत्तम ।
पुनर्द्रक्ष्यसि मां प्राप्तं सन्तापोऽयं विमुच्यताम् ॥५३॥

हे नरसत्तम! जब चौदह वर्ष पूरे हो जाँयगे, तब मैं फिर यहाँ आ ही जाऊँगा। अतः आप मेरे लिए अब दुःखी न हों ॥५३॥

येन सन्स्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाष्पगलो जनः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः ॥५४॥

इस समय आपको उचित है कि, इन लोगों को जो रुदन कर रहे हैं समझा बुझा कर शान्त करें। सो हे पुरुषसिंह! आप (इस समय) स्वयं दुःखी क्यों हो रहे हैं? (अर्थात् आपका कर्त्तव्य है कि, आप इन लोगों को समझावें न कि स्वयं रुदन करें) ॥५४॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला
मया विसृष्टा भरताय दीयताम्।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालयन्
वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥५५॥

मैं अयोध्यापुरी और पृथिवी के राज्य को छोड़ कर जाता हूँ। आप इसे भरत को दे दीजिए। मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ, बहुकाल तक वनवास करने के लिए जाऊँगा ॥५५॥

मया निसृष्टां भरतो महीमिमां
सशैलखण्डां सपुरां सकाननाम्।
शिवां[१] सुसीमा[२]मनुशास्तु केवलं
त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत् ॥५६॥

पर्वतों और वनों से शोभायमान, नगर और ग्रामों से भरी पूरी और राजकल्याणकारिणी इस पृथिवी का भरत जी वंशमर्यादा के अनुसार केवल शासन करें, यह इसलिए कि जिससे आपने जैसा कहा है वैसा ही हो। अर्थात् आपका दिया हुआ वरदान सत्य हो। (इससे यह ध्वनि निकलती है कि,

१ शिवासु—राजकल्याणकारणीषु। (शि०) २ सीमासु—मनुवंश मर्यादा सुसंस्थिते भरतः। (शि०)

ोरामचन्द्र जी राज्य पर अपना स्वत्व नहीं छोड़ रहे, किन्तु
ेता की आज्ञा का पालन करने को, अस्थायी रूप से भरत को
ासन भार मात्र दे रहे हैं। इसी के अनुसार भरत जी ने भी
न्दिग्राम में रह कर, प्रतिनिधि रूप से १४ वर्षों तक राज्य किआ
था) ॥५६॥

न मे तथा पार्थिव दीयते मनो
महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये।
यथा निदेशे तव शिष्टसम्मते
व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥५७॥

हे राजन्! मुझे अच्छी अच्छी भोग की व सुखकर वस्तुओ की रुचि नहीं है। न मुझे किसी प्रीतिकर वस्तु की चाहना है। मुझे तो केवल सज्जनो की सराही हुई आपकी आज्ञा का पालन करना (सब से बढ़ कर) रुचिकर है। अतः मेरे लिए आपको जो दुःख हो रहा है, उसे त्यागिए ॥५७॥

तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं
न सर्वकामान्न सुखं न मैथिलीम्।
न जीवितं त्वामनृतेन योजयन्-
वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥५८॥

हे राजन्! आपको मिथ्यवादी सिद्ध करना, तो अक्षय्य राज्य, न अतुलनीय सुख सम्पत्ति, न पृथिवी, न जानकी और न अपना जीवन ही मुझे अपेक्षित है। किन्तु मैं तो यह चाहता हूँ कि, आपका सत्यव्रत पूरा हो। अर्थात् आप ससार के आगे सत्य-वादी कहलाते रहें ॥५८॥

फलानि मूलानि च भक्षयन्वने
गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि च।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं
सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः[१] ॥५६॥

मैं फलों मूलों को खा और पर्वतों, नदियों एवं सरोवरों को देखता हुआ, भाँति भाँति के वृक्षों से परिपूर्ण वन में जा, सुखी होऊँगा। आप प्रसन्न हूजिए ॥५६॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्नः
शोकेन[२] दुःखेन[३] च ताम्यमानः।
आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो
मोहं गतो नैव चिचेष्ट[४] किञ्चित् ॥६०॥

यह सुन महाराज दशरथ, क्लेशित एवं शोक तथा दुःख से सन्तप्त हो, श्रीरामचन्द्र को हृदय से लगा, मूर्छित हो, भूमि पर गिर पड़े। उस समय उनको कुछ भी होश न रहा। वे मोह को प्राप्त हुए ॥६०॥

देव्यस्ततः संरुरुदुः समेता-
स्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्नीम्।
रुदन् सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्छां
हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम् ॥६१॥

॥ इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ निर्वृतिः—सुखं। (गो०) २ शोकः—स्वग्दाहोत्पादकः शोकः। (गो०)
३ दुःखं—अन्तर्व्यथोत्पादक। (गो०) ४ नचिचेष्ट—नचेष्टतेस्म। (गो०)

कैकेयी को छोड़ वहाँ और जितनी रानियाँ थीं वे सब की सब विलाप कर रोने लगीं। बूढ़े सुमंत्र भी मूर्छित हो गए। राजभवन में सर्वत्र हाहाकार मच गया ॥६१॥

अयोध्याकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—:०:—

ततो निर्धूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत्।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान्कटकटाप्य च ॥१॥

तदनन्तर (कुछ काल बाद सुमंत्र की मूर्छा भङ्ग हुई) वे क्रोध से अधीर हो, बारबार लंबी लंबी साँसें लेने लगे, दाँत किट-किटाने लगे और हाथ मलने लगे और सिर पीटने लगे ॥१॥

लोचने कोपसंरक्ते वर्णं[1] पूर्वोचितं[2] जहत्।
कोपाभिभूतः सहसा सन्तापमशुभं[3] गतः ॥२॥

मारे क्रोध के उनकी दोनों आँखें लाल हो गईं, शरीर का रंग बदल गया। सहसा क्रोध के वशवर्ती हो, वे बहुत दुःखी हुए ॥२॥

मनः[4] समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य सः।
कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्छरैः शितैः ॥३॥

१ वर्णं—देहकान्ति। (गो०) २ पूर्वोचितं—पूर्वाभ्यस्तं। (गो०) ३ अशुभ—तीव्रं। (गो०) ४ मनः समीक्षमाणः—कैकेयीविषयस्नेहरहितं जानन्नित्यर्थः। (गो०)

यह देख कर कि महाराज दशरथ के मन में कैकेयी का अब कुछ भी आदर नहीं रहा—सुमंत्र बाण के समान तीक्ष्ण वचनों से कैकेयी के हृदय को छेद कर मानो कँपाने लगे ॥३॥

[1]वाक्यवज्रैरनुपमैर्निर्भिन्दन्निव[2] चाशुगैः।
कैकेय्याः सर्वमर्माणि[3] सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥४॥

जिस प्रकार तेज बाण शरीर में पैठ शरीर के मर्मस्थलों को चीर कर खोल देता है, उसी प्रकार सुमंत्र ने वचन रूपी बाणों से कैकेयी के वे दोष प्रकट किए, जो बड़े मर्मस्पर्शी थे अर्थात् कैकेयी के मन में चुभते थे ॥४॥

यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम्।
भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥५॥
न ह्यकार्यतमं किञ्चित्तव देवीह विद्यते।
पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः ॥६॥

सुमन्त्र ने कहा, हे देवि! तूने अपने पति महाराज दशरथ ही को, जो चराचर जगत के पालन पोषण करने वाले हैं, त्याग दिया, तब तेरे लिए (संसार में) और कौन सा अनकरना काम करने को बाकी रहा। इसीसे मैं तुझे न केवल पति की हत्या करने वाली, प्रत्युत कुल का नाश करने वाली भी मानता हूँ ॥५॥६॥

यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम्।
महोदधिमिवाक्षोभ्यं सन्तापयसि कर्मभिः ॥७॥

---

१ वाक्यवज्रैः—वाक्शरैः। (शि०) २ निर्भिन्दन्—प्रकाशयन्। (गो०) ३ मर्माणि—मर्मतुल्यान्दोषान्। (गो०)

जो महाराज दशरथ, इन्द्र के समान अजेय और पर्वत की तरह कभी क्षोभ को प्राप्त न होने वाले हैं उनको तू अपनी करतूतों से सन्तप्त कर रही है ॥७॥

माऽवमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम् ।
भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते ॥८॥

कैकेयी ! तू ऐसे वर देने वाले अपने स्वामी महाराज दशरथ का अपमान मत कर। क्योंकि करोड़ पुत्रो के स्नेह से भी बढ़कर, स्त्री के लिए अपने पति की इच्छानुसार चलना है ॥८॥

यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये ।
इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तल्लोपयितुमिच्छसि ॥९॥

देख, राजा के मरने पर राज्य का मालिक (अवस्थानुसार) ज्येष्ठ पुत्र होता है। इस प्राचीन (इक्ष्वाकुकुल की) प्रथा को इक्ष्वाकुकुल के स्वामी महाराज दशरथ के जीवित रहते ही तू (भरत को राज्य दिला कर) मेंट देना चाहती है ॥९॥

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम् ।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥१०॥

अच्छी बात है—तेरा पुत्र भरत राज्य करे, हम लोग तो वहीं जायँगे, जहाँ श्रीरामचन्द्र जायँगे ॥१०॥

न हि ते विषये[1] कश्चिद्ब्राह्मणो[2] वस्तुमर्हति ।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म चिकीर्षसि ॥११॥

---

१ विषये—देशे। (गो०) २ ब्राह्मणइति सत्पुरुषमात्रोपलक्षणं। (गो०)

तेरे पुत्र के राज्य में कोई भी भला आदमी न रह जायगा। क्योंकि तू अमर्यादा का काम करने पर उतारू है ॥११॥

आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् ।
आचरन्त्या न विवृता[1] सद्यो भवति मेदिनी ॥१२॥

मुझे बड़ा आश्चर्य है कि, तेरे इस दुष्टाचरण को देख, फौरन ज़मीन क्यो नहीं फट जाती ॥१२॥

[2]महाब्रह्मर्षिसृष्टा* हि ज्वलन्तो[3] भीमदर्शनाः ।
धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम् ॥१३॥

जब तू श्रीरामचन्द्र को वनवास देने को उद्यत हुई है, तब वसिष्ठादि महर्षियो का तीव्र और भयङ्कर धिक्कार रूप वाक्दंड (शाप) तुझे नष्ट क्यों नहीं कर डालता ॥१३॥

आम्रं छित्त्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत्तु यः ।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत् ॥१४॥

कौन ऐसा (मूर्ख) मनुष्य होगा, जो मधुर फल देने वाले आम के पेड़ को कुल्हाड़ी से काट, उस कड़ुवे नीम के पेड़ को सींचेगा, जो दूध से सींचने पर भी, कभी मीठे फल नहीं दे सकता ॥१४॥

अभिजातं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च ।
न हि निम्बात्स्रवेत्क्षौद्रं लोके निगदितं वचः ॥१५॥

---

१ विवृता—नावदीर्णा। (गो०) २ महाब्रह्मर्षिभिः—वशिष्ठादिभिः। (गो०) ३ ज्वलन्तः—तीव्राः।

* पाठान्तरे—"सृष्टा वा।"

लोग जो कहा करते हैं कि, नीम के वृक्ष से शहद नहीं चूता, सो इसे मैं भी मानता हूँ। यही कारण है कि, तेरी माता जैसी थी वैसी ही तू निकली ॥१५॥

तव मातुरसद्ग्राहं विद्मः पूर्वं यथा श्रुतम्।
पितुस्ते वरदः कश्चिद्ददौ[1] वरमनुत्तमम् ॥१६॥

तेरी माता का पापकर्म मुझे मालूम है, मैं पहले उसे ज्यों का त्यों सुन चुका हूँ। किसी वरदान देने वाले योगी गन्धर्व ने तेरे पिता को एक यह उत्तम वर दिया था ॥१६॥

सर्वभूतरुतं[2] तस्मात्सञ्जज्ञे वसुधाधिपः।
तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः ॥१७॥

कि, तुम सब जीवों की बोली समझ लिया करोगे। इस वर के प्रभाव से तेरे पिता पक्षियो की भी बोली समझने लगे ॥१७॥

ततो जृम्भस्य[3] शयने विरुताद्भूरिवर्चसः।
पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत् ॥१८॥

तेरे पिता एक बार लेटते समय अत्यन्त चमकदार (अर्थात्) सुनहले रंग की एक चेंटी की बातचीत सुन और उसका आशय समझ बहुत हँसे ॥१८॥

तत्र ते जननी क्रुद्धा मृत्यु पाशमभीप्सती।
हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत् ॥१९॥

इस पर तेरी माता बहुत क्रुद्ध हुई और अपनी जान दे देने की धमकी देती हुई बोलीं—हे राजन्! मैं तुम्हारे हँसने का कारण जानना चाहती हूँ ॥१९॥

---

१ कश्चित्—योगीगन्धर्व इतिश्रुतम्। (गो०) २ रुतं—शब्द। (गो०)
३ जृम्भस्य—पिपीलिकाविशेषस्य। (गो०)

नृपश्चोवाच तां देवीं देवि शंसामि ते यदि ।
ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संशयः ॥२०॥

इस पर राजा ने कहा, हे देवि! यदि मैं अपने हँसने का कारण कहूँ, तो मैं तुरन्त मर जाऊंगा। इसमें सन्देह नहीं है ॥२०॥

माता ते पितरं देवि ततः केकयमब्रवीत् ।
शंस मे जीव वा मा वा न मामपहसिष्यसि ॥२१॥

यह सुन तेरी माता अपने पति राजा केकय से बोली—तुम चाहे जीओ चाहो मरो, किन्तु अपने हँसने का कारण मुझे बतलाओ। क्योंकि (यदि तुम मर भी गए तो) आगे फिर तो मेरा उपहास न करोगे ॥२१॥

प्रियया च तथोक्तः सन्केकयः पृथिवीपतिः ।
तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्वतः ॥२२॥

प्यारी रानी के इस प्रकार कहने पर (हठ करते) राजा केकय ने वह सारा हाल जा कर, वर देने वाले योगी से कहा ॥२२॥

ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत ।
म्रियतां ध्वंसतां[1] वेयं मा कृथास्त्वं महीपते ॥२३॥

तब उस वर देने वाले साधू ने राजा से कहा—हे राजन्! तेरी रानी भले ही मर जाय या अपने बाप के घर चली जाय, पर तू ऐसा कभी मत करना ॥२३॥

---

१ ध्वंसतांवा—(क) स्वपित्रादिसमीप गच्छतु। (रा०); (ख) स्वाधिकाराप्रच्युतास्यात्। (गो०)

स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः ।
मातरं ते [1]निरस्याशु विजहार कुबेरवत् ॥२४॥

यह सुन, राजा केकय ने प्रसन्न मन से तेरी माता का परित्याग कर दिया और स्वय कुवेर की तरह विहार करने लगा ॥२४॥

तथा त्वामपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि ।
असद्ग्राहमिमं मोहात्कुरुषे पापदर्शिनि ॥२५॥

हे पापिष्ठा ! इसी प्रकार तू भी दुर्जनों के मार्ग का अनुसरण कर, महाराज को धोखा दे कर, उनसे बुरा काम करवाती है ॥२५॥

सत्यश्चाद्य प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मा ।
पितॄन्समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ॥२६॥

लोग ठीक ही कहते हैं कि, लड़के अपने पिता के स्वभाव के और लड़कियाँ अपनी माता के स्वभाव की हुआ करती हैं। अर्थात् लड़को का स्वभाव अपने वाप जैसा और लड़कियों का अपनी माता जैसा हुआ करता है ॥२६॥

नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः ।
भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव ॥२७॥

देख तू अपनी माता जैसी मत वन और महाराज का कहना कर। अपने पति के कथनानुसार चल कर तू हम लोगो की रक्षा कर ॥२७॥

मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम् ।
भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादधाः ॥२८॥

---

१ निरस्य—परित्यज्य (गो०)

तू, पापों से प्रोत्साहित हो कर, इन्द्र के समान और मनुष्यों के राजा, अपने पति से यह अधर्म का काम (बड़े के सामने छोटे को राज्य) मत करवा ॥२८॥

न हि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः ।
श्रीमान् दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः ॥२९॥
ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्याभिरक्षिता ।
रक्षिता जीवलोकस्य ब्रूहि रामोऽभिषिच्यताम् ॥३०॥

महाराज दशरथ तुमसे जो प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसे मिथ्या न करेंगे। हे देवि ! राजीवलोचन महाराज दशरथ से तू कह कि, ज्येष्ठ, उदार, कर्मठ, अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाले और प्राणीमात्र की रक्षा करने वाले श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करवाना चाहिए ॥२६॥

परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति ।
यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥३१॥

यदि श्रीरामचन्द्र अपने पिता महाराज दशरथ को छोड़, कहीं वन चले गए, तो संसार में तेरी बड़ी निन्दा होगी ॥३१॥

स राज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा ।
न हि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसेत् ॥३२॥

अतएव अब तू अपने मन का सब क्षोभ दूर कर, राज्य श्रीरामचन्द्र को करने दे। क्योंकि श्रीरामचन्द्र को छोड़, अन्य किसी के अयोध्या में रह कर राज्य करने से तेरी भलाई नहीं होगी। (अर्थात् भरत के राजा होने पर भी तेरा कल्याण न होगा) ॥३२॥

रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम् ।
प्रवेक्ष्यति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥३३॥

जब युवराजपद श्रीरामचन्द्र को मिल जायगा, तब महाराज दशरथ पूर्वजों की प्रथानुसार, स्वयं वन चले जायँगे ॥३३॥

इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि ।
सुमन्त्रः क्षोभयामास भूय एव कृताञ्जलिः ॥३४॥

इस प्रकार सुमन्त्र जी ने सब लोगों के सामने हाथ जोड़ कर, कड़े वचनों से बार बार कैकेयी को क्षुब्ध किया ॥३४॥

नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते ।
न चास्या मुखवर्णस्य विक्रिया लक्ष्यते तदा ॥३५॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

किन्तु न तो वह क्षुब्ध हुई और न उसको कुछ पश्चात्ताप ही हुआ । और तो और, उसके मुख की रंगत भी तो न बदली ॥३५॥

अयोध्याकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

षड्त्रिंशः सर्गः

—o:—

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया ।
सबाष्पमतिनिश्वस्य जगादेदं पुनः पुनः ॥१॥

तदनन्तर महाराज दशरथ, अपनी प्रतिज्ञा से दुःखी हो, आँसू बहाते हुए और बार बार उसाँसे ले, सुमन्त्र से बोले ॥१॥

सूत रत्नसुसम्पूर्णा चतुर्विधबला चमूः ।
राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम् ॥२॥

हे सुमन्त्र ! तुम श्रीरामचन्द्र जी के साथ भेजने को बहुत सा धन रत्न दे, चतुरंगिनी सेना को शीघ्र तैयार करो ॥२॥

रूपाजीवाश्च[1] वादिन्यो[2] वणिजश्च महाधनाः ।
शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीं सुप्रसारिताः[3] ॥३॥

बातचीत कर दूसरे के मन को अपनी ओर खींचने वाली वेश्याएँ, व्यापारी, महाजन, बिकने वाले पदार्थों की दूकानें लगा श्रीरामचन्द्र की सेना के शिविर को सुशोभित करें ॥३॥

ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः ।
तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय ॥४॥

जो श्रीरामचन्द्र के नौकर चाकर हैं और जिनके पराक्रम से वे प्रसन्न हैं, उन सब को बहुत सा धन दे कर, इनके साथ भेजो ॥४॥

आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च ।
अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यगोचराः ॥५॥

---

१ रूपाजीवाः—वेश्याः । (गो०) २ वादिन्यः—परचित्ताकर्षणचतुर वचनाः । ३ सुप्रसारिताः—शिबिरदेशे पण्यपदार्थप्रसारणकुर्वन्तः । (गो०)

उत्तम अस्त्र शस्त्र, मुख्य मुख्य नागरिक जन, छकड़े और वनवासी बहेलिये जो वन का मार्ग जानते हैं, इनके साथ जाँय ॥५॥

निघ्नन्मृगान्कुञ्जरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु।
नदीश्च विविधाः पश्यन्न राज्यस्य स्मरिष्यति ॥६॥

ये वहाँ जा कर मृगों और हाथियों का शिकार खेलेंगे और बनैला शहद पी कर और अनेक नदियों को देख कर, राज्य का स्मरण न करेंगे ॥६॥

धान्यकोशश्च यः कश्चिद्धनकोशश्च मामकः।
तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने ॥७॥

मेरे (खास) जो अन्न के भंडार हैं—वे भी निर्जन वन में वास करने वाले श्रीरामचन्द्र के साथ जाँय ॥७॥

यजन्पुण्येषु देशेषु विसृजंश्चाप्तदक्षिणाः।
ऋषिभिश्च समागम्य प्रवत्स्यति सुखं वने ॥८॥

श्रीरामचन्द्र ऋषियों से समागम होने पर, तीर्थस्थानों में यज्ञ करेंगे और दक्षिणा देंगे और परम सुख से रहेंगे ॥८॥

भरतश्च महाबाहुरयोध्यां पालयिष्यति।
सर्वकामैः पुनः श्रीमान् रामः संसाध्यतामिति[1] ॥९॥

वहाँ भरत अयोध्या का पालन करेंगे फिर सब सामान के साथ श्रीरामचन्द्र प्रस्थान करें ॥९॥

---

१ संसाध्यताम्—प्रस्थाप्यताम्। (शि०)

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या भयमागतम् ।
मुखं चाप्यगमच्छोषं स्वरश्चापि न्यरुध्यत ॥१०॥

जब महाराज ने यह कहा, तब कैकेयी डरी—उसका मुख सूख गया और बोल भी बंद हो गया ॥१०॥

सा विषण्णा च संत्रस्ता मुखेन परिशुष्यता ।
राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥११॥

वह व्याकुल हुई और डरी तथा उसका मुख सूख गया। वह महाराज के सामने हो, यह बोली ॥११॥

राज्यं गतजनं साधो [1]पीतमण्डां सुरामिव ।
निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते ॥१२॥

हे साधो! सारहीन शराब की तरह धनहीन और जनशून्य राज्य भरत न लेगा ॥१२॥

कैकेय्यां मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम् ।
राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम् ॥१३॥

जब लज्जा को छोड़ कैकेयी ने यह अति कठोर बात कही, तब तो महाराज दशरथ के दोनो नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गए और वे कहने लगे ॥१३॥

वहन्तं किं तुदसि मां नियुज्य धुरि माहिते ।
अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपारुधः ॥१४॥

---

१ मण्ड शब्देन सुरासार उच्यते (गो०)

हे दुष्टे ! क्यों मुझे बोझों मारे डालती है। जब तूने श्रीराम-चन्द्र के वन जाने के लिए वर माँगा था तभी यह भी क्यों नहीं माँगा कि, श्रीरामचन्द्र ख़ाली हाथों वन जाँय ॥१४॥

तस्यैतत्क्रोधसंयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना ।
कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥१५॥

महाराज के इस क्रोधयुक्त वचन को सुन, कैकेयी दुगुनी क्रुद्ध हो महाराज से बोली ॥१५॥

तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत् ।
असमञ्ज इति ख्यातं तथाऽयं गन्तुमर्हति ॥१६॥

तुम्हारे ही वंश में राजा सगर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज को निकाल दिया था। उसी प्रकार यह भी जाँय ॥१६॥

एवमुक्तोधिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत् ।
व्रीडितश्च जनः सर्वः सा च तं नावबुध्यत ॥१७॥

कैकेयी की इस बात को सुन महाराज दशरथ ने कहा "हा ! धिक्कार है" ॥ अन्य लोग जो वहाँ बैठे थे वे सब लज्जित हुए, परन्तु उस (कैकेयी) को तो भी कुछ बोध न हुआ (अर्थात् महाराज ने सब के सामने कैकेयी को धिक्कारा तो भी उसको शर्म न आई) ॥१७॥

तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः ।
[1]शुचिर्बहुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥१८॥

---

१ शुचिः—अकुटल.। (गो०)

तब सिद्धार्थ नामक प्रधान मंत्री ने, जो कुटिल न था और जिसे महाराज दशरथ बहुत चाहते थे, कैकेयी से कहा ॥१८॥

असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान्।
सरय्वाः प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः ॥१६॥

हे देवि! (असमञ्ज का और श्रीरामचन्द्र का क्या सादृश्य है?) असमञ्ज तो बड़ा ही दुष्टबुद्धि था, वह तो सड़क पर खेलते हुए बालकों को पकड़, सरयू मे फेंक दिआ करता था ॥१६॥

तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन्।
असमञ्जं [1]वृणीष्वैकमस्मान्वा राष्ट्रवर्धन ॥२०॥

उसके ऐसे दुष्टकर्मो को देख, नगरनिवासियो ने क्रुद्ध हो महाराज सगर से पूँछा, हे राष्ट्रवर्धन महाराज! आप केवल असमञ्ज ही को पुरी में रखना चाहते हैं अथवा हम लोगों को भी? ॥२०॥

तानुवाच ततो राजा किंनिमित्तमिदं भयम्।
ताश्चापि राज्ञा सम्पृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन् ॥२१॥

तब सगर ने प्रजाजनो से पूँछा कि, तुम्हारे इस भय का कारण क्या है? इसके उत्तर में प्रजाजनो ने कहा ॥२१॥

क्रीडतस्त्वेष नः पुत्रान् बालानुद्भ्रान्तचेतनः[2]।
सरय्वां प्रक्षिपन् मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते ॥२२॥

राजकुमार असमञ्ज का दिमाग़ बिगड़ गया है, वह हमारे खेलते हुए बालको को पकड़ कर सरयू में डुबो कर, मूर्खतावश बड़ा प्रसन्न होता है ॥१२॥

---

१ वृणीष्व—अत्रनगरेस्थापय। (गो०) २ उद्भ्रान्तचेतनः—भ्रान्तबुद्धिः। (गो०)

स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः ।
तं तत्याजाहितं पुत्रं तेषां*प्रियचिकीर्षया ॥२३॥

तब प्रजाजनों की यह बात सुन और उनको प्रसन्न करने के लिए महाराज सगर ने अपने उस अहितकारी पुत्र को त्याग दिआ था ॥२३॥

तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम् ।
यावज्जीवं विवास्योऽयमिति स्वाानन्वशात्पिता ॥२४॥

(किस प्रकार असमञ्ज को देशनिकाला दिआ गया सो प्रधानमन्त्री बतलाते हैं) महाराज की आज्ञा से वह तुरन्त मय अपनी स्त्री और कपड़े आदि आवश्यक सामान के रथ में सवार कराया गया और नगर मे यह राजाज्ञा घोषित की गई कि, यह सदा के लिए निकाला जाता है ॥२४॥

स फालपिटकं गृह्य गिरिदुर्गाण्यलोलयत् ।
दिशः सर्वास्त्वनुचरन् स यथा पापकर्मकृत् ॥२५॥

तब वह कुदाली और कडी ले पर्वतों पर और वनों में चारों ओर मारा मारा फिरने लगा। उसने जैसा पापकर्म किआ था तदनुरूप उसे उसका फल भी मिला ॥२५॥

†इत्येवमत्यजद्राजा सगरो वै सुधार्मिकः ।
रामः किमकरोत्पापं येनैवमुपरुध्यते ॥२६॥

धार्मिक महाराज सगर ने अपने दुष्ट चरित्र ज्येष्ठपुत्र को देश निकाल दिआ था। किन्तु हे रानी! भला बतला तो कि,

---

* पाठान्तरे—"तासां।" † पाठान्तरे—"इत्येन।"

श्रीराम ने कौन सा दुष्ट कर्म किया है, जो तू इन्हें देशनिकाला दे रही है ॥२६॥

न हि कञ्चन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम् ।
दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम्[1] ॥२७॥

हमको तो श्रीराम में कोई भी दोष देख नहीं पड़ता; प्रत्युत हम तो इनमें दोष का मिलना उसी प्रकार असम्भव समझते हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा में मलिनता का मिलना ॥२७॥

अथवा देवि दोषं त्वं कञ्चित्पश्यसि राघवे ।
तमद्य ब्रूहि तत्वेन ततो रामो विवास्यताम् ॥२८॥

अथवा हे देवि ! तूने यदि कोई दोष श्रीरामचन्द्र में पाया हो, तो उसे साफ साफ खोल कर कह, तब श्रीरामचन्द्र को देश निकाला दिया जाय ॥२८॥

अदुष्टस्य हि सन्त्यागः सत्पथे निरतस्य च ।
निर्दहेदपि शक्रस्य द्युतिं धर्मनिरोधनात् ॥२९॥

हे कैकेयी ! देख, सज्जन एवं सुमार्ग पर चलने वाले पुरुष को अकारण त्यागने से अधर्म होता है और ऐसा अधर्म इन्द्र के समान तेज को भी नष्ट कर देता है ॥२९॥

तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया ।
लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने ॥३०॥

हे सुमुखी ! अतएव तू श्रीरामचन्द्र की श्री—शोभा नष्ट मत कर और अपने को लोकनिन्दा से बचा अर्थात् ऐसा काम कर जिससे लोग तेरी निन्दा न करें ॥३०॥

---

[1] कल्मष—मालिन्य । (रा०)

श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वनः।
शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥३१॥

सिद्धार्थ के ऐसे वचन सुन, महाराज दशरथ ने बड़े धीमे स्वर से और शोक से विकल हो, कैकेयी से कहा ॥३१॥

एतद्वचो नेच्छसि पापवृत्ते
हितं न जानासि ममात्मनो वा।
आस्थाय मार्गं कृपणं[1] कुचेष्टा
चेष्टा हि ते साधुपथादपेता ॥३२॥

हे पापिन! मैं जान गया कि, सिद्धार्थ का कहना भी तुझे अच्छा न लगा। अपनी और हमारी भलाई किस में है, यह भी तू नहीं जानती, तू कुत्सित मार्ग पर चलने की कुचेष्टा कर रही है, तेरा यत्न साधु मार्ग छोड़ कर चलने ही का है। (अर्थात् अपने और हमारे हित चाहने वाले सिद्धार्थ के कथन पर जो तू ध्यान नहीं देती सो यह तेरी कुचेष्टा है, यह भले आदमियों का काम नहीं है) ॥३२॥

अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राज्यं परित्यज्य धनं सुखं च।
सहैव राज्ञा भरतेन च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम् ॥३३॥

इति षड्त्रिंशः सर्गः

---

१ कृपणं—कुत्सितं। (गो०)

अतएव धन सम्पत्ति सहित इस राज्य को और इन राज्यसुखों को छोड़, हम तो श्रीरामचन्द्र के साथ जाते हैं। तू अपने पुत्र भरत के साथ सदा के लिए सुखपूर्वक राज्य कर ॥३३॥

अयोध्याकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—०—

महामात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा।
अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत् ॥१॥

प्रधानमंत्री सिद्धार्थ के तथा महाराज दशरथ के वचन सुन, सुशील श्रीरामचन्द्र ने नम्रतापूर्वक महाराज दशरथ से कहा ॥१॥

त्यक्तभोगस्य मे राजन् वने वन्येन जीवतः।
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥२॥

हे महाराज! जब मैं सब भोगों को छोड़ चुका और वन में उत्पन्न पदार्थों से अपना निर्वाह करना स्वीकार कर चुका, तब मेरे साथ धन सम्पत्ति, सेना आदि इन सारे सामानों के जाने की क्या आवश्यकता है? ॥२॥

यो हि दत्त्वा*गजश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥३॥

---

* पाठान्तरे—"द्विपश्रेष्ठं।"



कैकेयी द्वारा ... वल्कल ...

जो मनुष्य हाथी तो दे डाले, किन्तु अम्बारी कसने की रस्सी देते मोह करे, अर्थात् देना न चाहे, तो उस उत्तम हाथी देने वाले को उस रस्सी की ममता से लाभ क्या ? ॥३॥

तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते ।
सर्वाण्येवानुजानामि[1] चीराण्येवानयन्तु मे ॥४॥

हे सज्जनश्रेष्ठ ! ठीक यही बात मेरे सम्बन्ध मे भी है। हे नर नाथ ! मै सेना साथ ले जा कर क्या करूँगा ? आप जो कुछ मुझे देना चाहते है, उस सब को मै भरत जी को देता हूँ। मेरे लिए तो वल्कलादि मँगवा दीजिए ॥४॥

खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छतः ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥५॥

'चौदह वर्षो तक मुझे वन में रहना है, अतः कन्दमूल फल खोदने और काटने के लिए एक खन्ता और एक कडी मँगवा दीजिए, जिससे मैं अब वन को शीघ्र जाऊँ ॥५॥

अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम् ।
उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा ॥६॥

(ये वचन सुनते ही) कैकेयी स्वय उठ कर गई और चीर वल्कल ले आई। तदनन्तर सब लोगो के सामने लज्जा छोड़ श्रीरामचन्द्र से बोली—लो इन्हें पहिन लो ॥६॥

स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्याः प्रतिगृह्य ते ।
सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह ॥७॥

---

१ अनुजानामि—ददामि। (गो०)

तब श्रीरामचन्द्र जी ने वे वल्कल वस्त्र कैकेयी से ले लिए और उनको धारण कर महीन बहुमूल्य वस्त्रों को उतार डाला ॥७॥

लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे ।
तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः ॥८॥

लक्ष्मण ने भी वहीं पर अच्छे अच्छे वस्त्र, जो वे पहिने थे, उतार डाले और पिता के सामने ही मुनियों के पहनने योग्य वल्कल वस्त्र पहिन लिए ॥८॥

अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी ।
समीक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव ॥९॥

सीता जी, जो रेशमी साड़ी पहिने हुए थीं अपने पहिनने के लिए उस वल्कल वस्त्र को देख, उससे वैसे ही डरीं, जैसे हिरनी बहेलिया के जाल को देख डरती है ॥९॥

सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः ।
कैकेयीकुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा ॥१०॥

शुभलक्षणा जानकी ने लज्जित हो और दुःखी मन से कैकेयी के दिए वल्कलों को ले लिआ ॥१०॥

अश्रुसम्पूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा[१] धर्मदर्शिनी[२] ।
गन्धर्वराजप्रतिमं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥११॥

पतिव्रतधर्म को जानने वाली पतिव्रता जानकी ने नेत्रों में आँसू भर, गन्धर्वराज के तुल्य अपने पति से, यह कहा ॥११॥

---

१ धर्मज्ञा—पातिव्रत्यधर्मज्ञा । (गो०) २ धर्मदर्शिनी—स्वानुष्ठानेन पातिव्रत्यधर्मप्रदर्शिनी । (गो०)

कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः ।
इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः ॥१२॥

वनवासी मुनि किस प्रकार यह वल्कल वस्त्र पहिना करते हैं। यह कह वह मुनिवस्त्र पहिनने में अकुशल जानकी बार बार घबड़ाने लगी ॥१२॥

कृत्वा कण्ठे च सा चीरमेकमादाय पाणिना ।
तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा ॥१३॥

तब इस कार्य में अनिपुण सीता उस वल्कल वस्त्र का एक छोर गले मे लपेट और दूसरा छोर हाथ मे ले लज्जित हो, वहाँ खड़ी रही ॥१३॥

तस्यास्तत्क्षिप्रमागम्य रामो धर्मभृतांवरः ।
चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वयम् ॥१४॥

इतने में धर्मात्माओ मे श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र ने तुरन्त उसके समीप जा कर, रेशमी साड़ी के ऊपर उस चीर को स्वयं बाँध दिया ॥१४॥

रामं प्रेक्ष्य तु सीताया बध्नन्तं चीरमुत्तमम् ।
अन्तःपुरगता नार्यो मुमुचुर्वारि नेत्रजम् ॥१५॥

श्रीरामचन्द्र को सीता जी के शरीर पर चीर को बाँधते देख, अन्तःपुर की सब स्त्रियाँ रोने लगीं ॥१५॥

ऊचुश्च परमायस्ता रामं ज्वलिततेजसम् ।
वत्स नैवं नियुक्तेयं वनवासे मनस्विनी ॥१६॥

और अत्यन्त कातर हो कर परम तेजस्वी श्रीरामचन्द्र से बोलीं—हे वत्स! तुम्हारे पिता ने इस मनस्विनी जानकी को वन जाने की आज्ञा नहीं दी ॥१६॥

पितुर्वाक्यानुरोधेन गतस्य विजनं वनम् ।
तावद्दर्शनमस्यां नः सफलं भवतु प्रभो ॥१७॥

पिता की आज्ञा मान तुम तो वन जाओगे ही, परन्तु जानकी जी को अपने साथ मत ले जाओ, हम सब इसीका मुख देख देख कर, अपना जीवन सफल कर सकेंगीं ॥१७॥

लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक ।
नेयमर्हति कल्याणी वस्तुं तापसवद्वने ॥१८॥

हे वत्स ! तुम लक्ष्मण को अपनी सहायता के लिए अपने साथ ले जाओ, किन्तु कल्याणी जानकी तो तपस्वियों की तरह वन में रहने योग्य नहीं है ॥१८॥

कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी ।
धर्मनित्यः स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छसि ॥१९॥

हे राम ! यदि तुम इस समय धर्म के अनुरोध से यहाँ रहना नहीं चाहते, तो हमारी यह प्रार्थना मानों कि, सीता को यहीं छोड़ दो ॥१९॥

तासामेवंविधा वाचः शृण्वन्दशरथात्मजः ।
बबन्धैव सदा चीरं सीतया तुल्यशीलया[1] ॥२०॥

दशरथनन्दन ने उन रानियों के ये वचन सुन कर भी, जानकी की रहने में सम्मति न देख, उनके चीर बाँध ही तो दिए ॥२०॥

चीरे गृहीते तु तया समीक्ष्य नृपतेर्गुरुः ।
निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥२१॥

---

[1] तुल्यशीलया—अनङ्गीकृतानगरस्थित्यासीतयाप्रेरितः सन् । (रा०)

'सीता जी को चीर धारण किए हुए देख, महाराज के गुरु 'वसिष्ठ जी ने सीता को चीर वस्त्र धारण करने के लिए मना कर, कैकेयी से कहा ॥२१॥

अतिप्रवृत्ते[1] दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि ।
वञ्चयित्वा च राजानं न प्रमाणे[2]ऽवतिष्ठसे ॥२२॥

रे कुलकलङ्किनी ! अरी दुष्टबुद्धिवाली कैकेयी ! महाराज को धोखा दे कर, अपनी कामना या वरदान की सीमा के बाहिर तू काम करवा चुकी अर्थात् तू अति कर चुकी। अस्तु जो किआ सो किआ, अब तो मर्यादा के भीतर रह ॥२२॥

न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते ।
अनुष्ठास्यति[3] रामस्य सीता [4]प्रकृतमासनम्[5] ॥२३॥

अरे कैकेयी ! तुझमे शील तो रहा ही नहीं । सीता वन को न जायगी। वह श्रीरामचन्द्र के लिए तैयार हुए राजसिंहासन पर बैठेगी अर्थात् जब तक श्रीरामचन्द्र वन से लौट कर न आयेंगे तब तक सीता ही राज्य करेगी ॥२३॥

आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्[6]
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥२४॥

क्योकि सब गृहस्थो की स्त्रियाँ अपने अपने पतियों की अर्द्धाङ्गिनी होती हैं। अत. वे पति के समान ही पति के स्वत्वों

---

१ अतिप्रवृत्ते—अतिक्रम्यप्रवंतमाने । (गो०) २ प्रमाणे—मर्यादाया। (गो०) ३ अनुष्ठास्यति—अधिष्ठास्यति । (गो०) ४ प्रकृतं—प्रस्तुत। (गो०) ५ आसनम्—सिंहासन। (गो०) ६ दारसंग्रहवर्तिनाम्—गृहस्थानां। (गो०)

की अधिकारिणी हैं। सीता भी श्रीरामचन्द्र की अर्द्धांगिनी अथवा उनका रूप हैं। अतः ये भी पृथिवी का पालन अर्थात् राज्य करेगी ॥२४॥

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण सङ्गता।
वयमप्यनुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति ॥२५॥

यदि सीता श्रीरामचन्द्र के साथ वन को गईं, तो केवल हम ही नहीं, किन्तु सारी अयोध्यापुरी के लोग श्रीरामचन्द्र के साथ वन को चले जाँयगे ॥२५॥

[1]अन्तपालाश्च यास्यन्ति सदारो यत्र राघवः।
सहोपजीव्यं[2] राष्ट्रं[3] च पुरं[4] च सपरिच्छदम्[5] ॥२६॥

जहाँ सीता सहित श्रीरामचन्द्र जाँयगे, वहाँ ही ये सब ड्योढ़ीदार, राज्य भर में बसने वाले लोग तथा अयोध्यावासी धन ... और नौकरो चाकरों सहित चले जाँयगे ॥२६॥

भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवासा वनेचरः।
वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम् ॥२७॥

भरत और शत्रुघ्न भी चीर पहिन कर तपस्वियों के वेश में अपने बड़े भाई के साथ वनवासी होंगे ॥२७॥

ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह।
त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता ॥२८॥

---

१ अन्तपालाः—राष्ट्रान्तपरिपालकाः। (गो०) २ उपजीव्यं—जीवनसाधनं धनं। (शि०) ३ राष्ट्रं—राष्ट्रस्थोजनः। (शि०) ४ पुरं—अयोध्या। (शि०) ५ सपरिच्छदम्—दासदासीशकटादिपरिकरयुक्तम्। (गो०)

तब इस राज्य की भूमि मनुष्यों से शून्य हो जायगी—केवल वृक्ष ही वृक्ष रह जाँयगे। तब तू अकेली प्रजा की अहितकारिणी बन कर, पेड़ों पर राज्य करना ॥२८॥

न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः ।
तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥२९॥

(तू अच्छी तरह समझ रख कि,) जहाँ श्रीरामचन्द्र का राज्य नहीं, वह स्थान राज्य कहला ही नहीं सकता और जहाँ पर श्रीरामचन्द्र रहेंगे—वह भले ही वन हो, तो भी वह राज्य कहा जायगा ॥२९॥

न ह्यदत्तां[१] महीं पित्रा भरतः शास्तुमर्हति ।
त्वयि वा पुत्रवद्वस्तुं यदि जातो महीपतेः ॥३०॥

महाराज अप्रसन्नतापूर्वक भरत को राज्य दे रहे हैं, सो भरत यदि महाराज का पुत्र होगा, तो वह इस राज्य को कभी न लेगा और न तेरे साथ पुत्रवत् बर्ताव करेगा ॥३०॥

यद्यपि त्वं क्षितितलाद्गगनं चोत्पतिष्यति ।
पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति ॥३१॥

भले ही तू पृथिवी छोड़ आकाश में चली जा, (अर्थात् मर जा) तो भी अपने कुल के चरित्र को जानने वाला भरत कभी अन्यथाचरण न करेगा अर्थात् बड़े भाई श्रीरामचन्द्र के रहते स्वयं राज्य न करेगा ॥३१॥

तत्त्वया पुत्रगर्धिन्या[२] पुत्रस्य कृतमप्रियम् ।
लोके हि न स विद्येत यो न राममनुव्रतः ॥३२॥

---

१ अदत्ता—प्रीतपूर्वकमदत्ता। (गो०) २ पुत्रगर्धिन्या—पुत्रविषयस्नेहयुक्तया। (गो०)

तू भरत की भलाई सोच, उसको जो राज्य दिला रही है, सो तू उसकी भलाई नहीं कर रही है; प्रत्युत उसके लिए बुराई कर रही है, क्योंकि ऐसा कोई जन नहीं जो श्रीरामचन्द्र के पीछे न जाय ॥३२॥

द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान्।
गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तदुन्मुखान्[1] ॥३३॥

मनुष्यों की बात रहने दे, तू देखेगी कि, पशु, सर्प, मृग, पक्षी श्रीरामचन्द्र के साथ जाते हैं। (जगमों की बात भी जाने दे स्थावर) वृक्ष भी श्रीरामचन्द्र को वन जाते देख, उनके साथ स्नेह में आसक्त हो, उनकी ओर झुक जाँयगे—अर्थात् उनके साथ जाना चाहेंगे ॥३३॥

अथोत्तमान्याभरणानि देवि
देहि स्नुषायै व्यपनीय[2] चीरम्।
न चीरमस्याः प्रविधीयतेति
न्यवारयत्तद्वसन वसिष्ठः ॥३४॥

अतएव हे देवि! चीर को हटा कर अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषण अपनी बहू (सीता) को पहिना, क्योंकि यह सीता चीर पहनने योग्य नहीं है। इस प्रकार कह कर वसिष्ठ जी ने सीता को चीरधारण कराने के लिए मना किया ॥३४॥

एकस्य रामस्य वने निवासः
त्वया वृतः केकयराजपुत्रि।

---

१ तदुन्मुखान्—रामविषयस्नेहासक्तत्व। (गो०) २ व्यपनीय—निरस्य। (गो०)

विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या
वसत्वरण्ये सह राघवेण ॥३५॥

हे राजा केकय की बेटी! तूने तो अकेले श्रीरामचन्द्र के वन-वास के लिए वर माँगा था। अतः जानकी वसन भूषण धारण कर (अर्थात् सौभाग्यवती स्त्रियों के अनुरूप शृङ्गार कर) श्रीरामचन्द्र के साथ वन में वसे। (अर्थात् उनके ऐसा करने से तेरी हानि ही क्या है) ॥३५॥

यानैश्च मुख्यैः परिचारकैश्च
सुसंवृता गच्छतु राजपुत्री।
वस्त्रैश्च सर्वैः सहितैर्विधानैः[1]
नेयं वृता ते वरसम्प्रदाने ॥३६॥

जब तूने सीता को वन में भेजने का वरदान ही नहीं माँगा, तब वह अच्छी सवारी में बैठ और मुख्य मुख्य अपनी दासियों को साथ ले और अच्छे गहने कपड़े पहिन और शृङ्गार की अन्य सामग्री साथ ले वन मे जाँय ॥३६॥

तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये
गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे।
नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा
प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा ॥३७॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः

---

१ विधानैः—भृङ्गाराद्युपकरणैः। (गो०)

अमित प्रभावशाली, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ एवं राजगुरु वसिष्ठ जी के इतना कहने पर भी, सीता ने उस चीर को न उतारा। उतारती क्यों, वह तो अपने प्यारे पति की तरह वन में रहना चाहती थी ॥३७॥

अयोध्याकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ

—:o:—

अष्टात्रिंशः सर्गः

—:o:—

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत् ।
प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक्त्वां दशरथं त्विति ॥१॥

सनाथा सीता को अनाथा की तरह चीर पहिनते देख, जो वहाँ उपस्थित थे, चिल्लाए और महाराज दशरथ जी को धिक्कारने लगे ॥१॥

तेन तत्र प्रणादेन दुःखितः स महीपतिः ।
चिच्छेद जीविते श्रद्धां[१] धर्मे यशसि चात्मनः ॥२॥

इस महाकोलाहल को सुन महाराज दुःखित हुए और अपने जीवन में, धर्म मे, और यश में जो पहिले आदर था, उसे उन्होंने त्याग दिआ ॥२॥

स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत् ।
कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति ॥३॥

---

१ श्रद्धां—आदरं। (गो०)

उन्होंने उसाँसे ले कर कैकेयी से यह कहा—हे कैकेयी कुशचीर धारण कर सीता न जायगी ॥३॥

सुकुमारी च बाला च सततं च सुखोचिता ।
नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥४॥

हमारे गुरु वसिष्ठ जी ने ठीक ही कहा है कि, सीता वन जाने योग्य नहीं है। क्योंकि वह सुकुमारी बाला सदा सुख भोगने योग्य है ॥४॥

इयं हि कस्यापकरोति किञ्चि-
त्तपस्विनी राजवरस्य कन्या ।
या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये
स्थिता विसंज्ञा[1] श्रमणीव[2] काचित् ॥५॥

क्या नृपश्रेष्ठ महाराज जनक की कन्या ने किसी का कुछ बिगाड़ा है, जो यह लोगों की भीड़ में, चीर धारण कर, मुग्धा तपस्विनी की तरह खड़ी है ॥५॥

चीराण्यपास्याज्जनकस्य कन्या
नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा
यथासुखं गच्छतु राजपुत्री
वनं समग्रा[3] सह सर्वरत्नैः[4] ॥६॥

मैंने यह वर नहीं दिया है कि, महाराज जनक की पुत्री भी चीर धारण करे। अतः यह राजपुत्री अपेक्षित वसन भूषण तथा समस्त उत्तम सामग्री सहित जाय ॥६॥

---

१ विसंज्ञा—मुग्धा । (गो०) २ श्रमणीव—तपस्विनीव । (गो०) ३ समग्रा—वस्त्रालङ्कार सम्पूर्णा । ४ सर्वरत्नैः—सर्वश्रेष्ठ वस्तुभिः । (गो०)

अजीवनार्हेण मया नृशंसा
कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत् ।
त्वया हि [१]बाल्यात्प्रतिपन्नमेतत्[२]
तन्मां दहेद्वेणुमिवात्मपुष्पम् ॥७॥

मरने का समय निकट होने से मेरी बुद्धि बिगड़ गई। इसीसे मैंने शपथपूर्वक तुझे वर देने की प्रतिज्ञा कर के जो मूर्खता का काम किया है, वह मुझे वैसे ही जला रहा है, जैसे बाँस का फूल बाँस को जलाता है ॥७॥

[बाँस का फूल जब फूलता है तब वह बाँस को सुखा देता है।]

रामेण यदि ते पापे किञ्चित्कृतमशोभनम् ।
अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽथ मे ॥८॥

माना कि, श्रीरामचन्द्र ने तेरा कुछ बिगाड़ा था, पर अरे पापिन! मुझे बता तो सही जानकी ने तेरा क्या बिगाड़ा था? ॥८॥

मृगीवोत्फुल्लनयना मृदुशीला तपस्विनी ।
अपकारं कमिह ते करोति जनकात्मजा ॥९॥

हिरनी के समान सुन्दर नेत्रों वाली तथा तपस्विनी की तरह कोमल और शील स्वभाव वाली जानकी ने तेरा क्या बिगाड़ा है? ॥९॥

ननु पर्याप्तमेतत्ते पापे रामनिवासनम् ।
किमेभिः कृपणैर्भूयः पातकैरपि ते कृतैः ॥१०॥

---

१ बाल्यात्—अविशत्वात्। (गो०) २ एतत्—प्रतिज्ञातं। (गो०)

अरी पापिन ! तुझे नरक में डालने के लिए श्रीरामचन्द्र को अकारण वनवास दिलाना ही पर्याप्त है, फिर न जाने अधिक दुष्ट कर्मों के करने से तेरी क्या गति होगी ! ॥१०॥

प्रतिज्ञातं[१] मया तावत्त्वयोक्तं देवि शृण्वता ।
रामं यदभिषेकाय त्वमिहागतमब्रवीः ॥११॥

अभिषेक के लिए जब श्रीरामचन्द्र यहाँ आए थे, तब तूने इनसे यहा न कहा था कि, तुम अपना अभिषेक न करा कर और चीर जटा धारण कर वन जाओ । तेरी यह बातें सुन, हमने उसे (चुपचाप—'मौन सम्मतिलक्षणम्' न्याय से) स्वीकार कर लिआ । (उस समय तूने केवल श्रीरामचन्द्र ही का नाम लिआ था, सीता का नहीं) ॥११॥

तत्त्वेतत्समतिक्रम्य निरयं गन्तुमिच्छसि ।
मैथिलीमपि या हि त्वमीक्षसे चीरवासिनीम् ॥१२॥

सो तू उस बात को छोड़, नरक में जाया चाहती है । तभी तो तू सीता को मुनियों जैसे चीर पहिना वन में भेजती है ॥१२॥

इतीव राजा विलपन्महात्मा
शोकस्य नान्तं स ददर्श किञ्चित् ।
भृशातुरत्वाच्च पपात भूमौ
तेनैव पुत्रव्यसने निमग्नः ॥१३॥

महाराज दशरथ विलाप कर तथा अपने शोक का पार न देख और अत्यन्त आतुर हो, पृथिवी पर गिर पड़े और पुत्र के वियोगजन्य दुःख (को स्मरण कर दुःख) में डूब गए ॥१३॥

---

१ प्रतिज्ञात—अङ्गीकृतम् (शि०)

एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।
अवाक्शिरसमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥१४॥

इस प्रकार कहते हुए और नीचा सिर किए हुए पिता महाराज दशरथ से, वन जाने के लिए तैयार श्रीरामचन्द्र यह वचन बोले ॥१४॥

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी ।
वृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते ॥१५॥

हे देव ! यह मेरी माता कौसल्या जो पतिव्रता है, यशस्विनी है, बूढ़ी है, उत्तम स्वभाव वाली है और जो कभी आपकी निन्दा नहीं करती ॥१५॥

मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम् ।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः[1] सम्मन्तुमर्हसि ॥१६॥

हे वरद ! मेरे विना यह शोकसागर में डूब जायगी । इसने कभी पहिले दुःख नहीं देखा, अतः आप इसका अत्यन्त सम्मान कीजियेगा ॥१६॥

पुत्रशोकं यथा नर्च्छेत्त्वया पूज्येन पूजिता ।
मां हि सञ्चिन्तयन्ती सा त्वयि जीवेत्तपस्विनी ॥१७॥

आप पूज्य हैं, आप इसका ऐसा सम्मान या सत्कार करें, जिससे इसे पुत्र-वियोग-जन्य शोक न होने पावे और मेरे वियोग को यह सह सके तथा आपके भरोसे जीती रहे ॥१७॥

---

१ भूयः—अतिशयेन । (गो०)

इमां महेन्द्रोपम जातगर्धिनीं
तथा विधातुं जननीं ममार्हसि ।
यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता
न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत् ॥१८॥

इति अष्टात्रिंशः सर्गः ॥

हे इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली महाराज ! आप, पुत्रवत्सला मेरी माता को इस तरह रखना, जिससे मेरे वन में रहने के समय, वह क्षीणबला हो मर न जाय और यमलोक न चली जाय ॥१८॥

अयोध्याकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम् ।
समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन और उनको मुनि का वेष धारण किए हुए देख, महाराज अपनी रानियो सहित मूर्च्छित हो गए ॥१॥

नैनं दुःखेन सन्तप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम् ।
न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः ॥२॥

दुःख से सन्तप्त हो, उदास मन महाराज न तो श्रीरामचन्द्र जी की ओर देख सकते थे और न उनकी ओर देख कर, उनसे बोल ही सकते थे ॥२॥

स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः ।
विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन् ॥३॥

महाराज दशरथ दुःखित हो, एक मुहूर्त तक अचेत पड़े रहे। तदनन्तर महाबाहु दशरथ चैतन्य हो, श्रीराम का स्मरण कर, अनेक प्रकार के विलाप करने लगे ॥३॥

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः ।
प्राणिनो हिंसिता वापि तस्मादिदमुपस्थितम् ॥४॥

हम मानते हैं कि, हमने निस्सन्देह पूर्वजन्म में बहुत सा गौओं के बछड़े उनसे अलग कर दिए हैं अथवा बहुत से प्राणियो का वध किआ है; इसीसे यह दुःख हमारे ऊपर पड़ा है ॥४॥

न त्वेवानागते काले देहाच्च्यवति जीवितम् ।
कैकेय्या क्लिश्यमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते ॥५॥

बिना समय आए शरीर से प्राण नहीं निकलते। क्योकि कैकेयी हमें इतना क्लेश दे रही हैं, तिस पर भी हमें मौत नहीं आती ॥५॥

योऽहं पावकसङ्काशं पश्यामि पुरतः स्थितम् ।
विहाय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम् ॥६॥

हा! अग्नि के समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्र को हम अपने आगे खड़ा और राजसी वस्त्र त्याग कर, मुनिवस्त्र पहिने देख रहे हैं ॥६॥

एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं क्लिश्यते जनः ।
स्वार्थे प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं[1] त्विमाम् ॥७॥

---

१ निकृतिः—शाठ्य । (गो०)

निश्चय ही अकेली कैकेयी की करतूत ही से इतने लोग कष्ट पा रहे हैं। वह यह शठता का प्रयत्न केवल स्वार्थसाधन के लिए कर रही है ॥७॥

एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण पिहितेक्षणः* ।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक ह ॥८॥

ऐसा कह कर, महाराज ने नेत्रों में आँसू भर कर एक बार "राम" कहा, किन्तु इसके आगे वे कुछ भी न बोल सके ॥८॥

संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात्स महीपतिः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥९॥

एक मुहूर्तबाद जब महाराज को चेत हुआ, तब उन्होंने आँखों में आँसू भर, सुमन्त्र से यह कहा ॥९॥

औपवाह्यं[1] रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः ।
प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात्परम् ॥१०॥

तुम, उत्तम घोड़े जोत कर, सवारी करने योग्य रथ ले आओ और इस महाभाग श्रीरामचन्द्र को उस पर सवार कर इस नगर से बाहिर पहुँचाओ ॥१०॥

एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते ।
पित्रा मात्रा च यत्साधुर्वीरो निर्वास्यते वनम् ॥११॥

अब हम समझे कि, गुणी पुरुषों के गुणवान होने का यही फल है कि, ऐसे साधु और वीर पुत्र, पिता माता द्वारा वन में निकाले जाते हैं, (अर्थात् अब से गुणी होना भी ठीक नहीं) ॥११॥

---

१ औपवाह्य—उपवहनमात्रयोग्य । (गो०) * पाठान्तरे—"पिहितेन्द्रियः ।"

राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः[१] ।
योजयित्वाऽऽययौ तत्र रथमश्वैरलङ्कृतम् ॥१२॥

महाराज की आज्ञा पा कर, सुमंत्र तुरन्त घोड़े जोत कर, अच्छी तरह सजा हुआ एक रथ ले आए ॥१२॥

तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम् ।
आचचक्षेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥१३॥

और उस सुवर्णभूषित और बढ़िया घोड़ो से युक्त रथ को राजकुमार (श्रीरामचन्द्र) के सामने खड़ा कर तथा हाथ जोड़ कर सुमंत्र ने उनसे कहा, "रथ तैयार है" ॥१३॥

राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं[२] वित्तसञ्चये[३] ।
उवाच देशकालज्ञं निश्चितं[४] सर्वतः शुचिम्[५] ॥१४॥

तदनन्तर महाराज ने तुरन्त अपने उस खजानची को बुलाया, जो जानता था कि, कौन वस्तु रखी है और जो सब प्रकार से मन का और हाथ का सच्चा (ईमानदार) था। उससे महाराज ने देश और काल के अनुरूप यह वचन कहा ॥१४॥

वासांसि च महार्हाणि भूषणानि वराणि च ।
वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥१५॥

अच्छे अच्छे कपड़े और बहुमूल्य आभूषण जो चौदह वर्ष को जानकी के लिए पर्याप्त हों—शीघ्र जाकर ले आओ ॥१५॥

---

१ शीघ्रविक्रमः—शीघ्रपदविक्षेपः । (गो०) २ व्यापृतं—अध्यक्षत्वेन व्यापृतं, धनाध्यक्ष । (गो०) ३ वित्तसञ्चये—कोशगृहे । (गो०) ४ निश्चितं—यावदर्वस्थि तत्तद्वस्तुविषयनिश्चितज्ञानवन्तं । (गो०) ५ शुचिम्—बाह्यान्तरशुद्धियुक्त । (गो०)

नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः ।
प्रायच्छत्सर्वमाहृत्य सीतायै सममेव तत् ॥१६॥

महाराज की ऐसी आज्ञा पा कर कोषाध्यक्ष कोशागार में गया और जिन जिन वस्तुओं को लाने के लिए महाराज ने कहा था उन सब को ला कर सीता जी को दे दिया ॥१६॥

सा सुजाता[1] सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम् ।
भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥१७॥

अयोनिसम्भूत सीता जी ने वन जाने के समय उन विचित्र भूषणों और वस्त्रों से अपने शरीर को शोभित किया ॥१७॥

व्यराजयत वैदेही वेश्म तत्सुविभूषिता ।
उद्यतोंऽशुमतः[2] काले खं प्रभेव विवस्वतः ॥१८॥

जानकी ने उस समय वस्त्राभूषण धारण कर, उस घर को वैसे ही सुशोभित किया जैसे प्रातःकाल अर्थात् उदयकाल में सूर्य की प्रशस्त किरणें आकाश को भूषित करती हैं ॥१८॥

तां भुजाभ्यां परिष्वज्य [3]श्वश्रूर्वचनमब्रवीत् ।
अनाचरन्तीं[4] कृपणं[5] मूर्ध्न्युपाघ्राय मैथिलीम् ॥१९॥

कौसल्या जी ने अच्छे आचरण करने वाली जानकी को हृदय से लगाया और मस्तक को सूँघ, यह कहा ॥१९॥

---

१ सुजाता—सुजन्मा अयोनिजेतियावत् । (गो०) २ अंशुमतः—प्रशस्त-किरणस्य । (गो०) ३ श्वश्रूः—कौसल्या । (गो०) ४ अनाचरन्तीं अकुर्वन्तीं । (गो०) ५ कृपण—क्षुद्रं । (गो०)

असत्यः[१] सर्वलोकेऽस्मिन्सततं सत्कृताः प्रियैः ।
भर्तारं नानुमन्यन्ते[२] विनिपातगतं[३] स्त्रियः ॥२०॥

सब लोकों में जो कुलटा स्त्रियाँ होती हैं, उनका उनकी चाही हुई प्रिय वस्तुओं से भले ही सदैव सत्कार ही क्यों न किया जाय, किन्तु पति पर विपत्ति पड़ने पर ऐसी स्त्रियाँ अपने पति को नहीं मानती अर्थात् जैसा आदर वे समृद्ध काल में अपने पतियों का करती हैं—वैसा आदर सत्कार वे अपने पतियों का विपत्ति के समय नहीं करती ॥२०॥

एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम् ।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥२१॥

वास्तव में कुलटा स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि पहले सुख को भोग कर भी, ज्योंही जरा भी विपत्ति पड़ी कि त्योंही वे पति पर केवल दूषण ही नहीं लगाने लगती वल्कि पति को छोड़ भी बैठती हैं ॥२१॥

असत्यशीला विकृता[४] दुर्ग्राह्यहृदयाः सदा ।
युवत्यः पापसङ्कल्पाः क्षणमात्राद्विरागिणः[५] ॥२२॥

संसार में अधिक स्त्रियाँ ऐसी होती हैं, जो सदा झूठ बोला करती हैं, जिनको देखते ही देखने वाले के मन में विकार उत्पन्न होता है, उनके मन की बात बड़ी कठिनाई से जानी जाती है,

१ असत्यः—कुलटाः । (गो०) २ नानुमन्यन्ते—नगणयन्ति । (गो०) ३ विनिपातगत—स्वस्थानात्प्रच्युति प्राप्तं । (गो०) ४ विकृताः—दर्शनमात्रेण विकारोत्पादिकाः । (शि०) ५ क्षणमात्रद्विरागिणा—क्षणमात्रेण त्यक्त्वानुरागाः । (वि०)

वे सदा हृदयशून्य होती हैं। वे अपने को सदा जवान ही समझती रहती हैं, उनके मन में नाना प्रकार के पापपूरित सङ्कल्प उठा करते हैं और वे क्षणमात्र में चिरपोषित प्रीति को तिनके की तरह तोड डालतीं है, अथवा बात बात में बिगड़ा करती हैं।।२२।।

न कुलं न कृतं विद्यां न दत्तं नापि संग्रहम्[१] ।
स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ॥२३॥

न तो प्रशस्त कुल, न उपकार, न गुरूपदिष्ट धर्मविद्या, न वस्त्र आभूषणादि का दान, न वैवाहिक वन्धन ही (अथवा उनको बाँध कर रखना ही) इन कुलटा स्त्रियों के मन को वश मे कर सकता है। क्योंकि ये सब बड़ी चञ्चल स्वभाव की होती हैं ॥२३॥

[कुलटा स्त्रियों के लक्षण समझा कर, आगे कौसल्या जी सती स्त्रियों के लक्षण बतलाती हैं।]

साध्वीनां हि स्थितानां[२] तु शीले[३] सत्ये श्रुते[४] शमे[५] ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते[६] ॥२४॥

जो सती और पतिव्रता स्त्रियाँ होती हैं, वे कुलोचित आचरण वालीं, सत्य में आस्था रखने वाली, गुरुजनों के उपदेश में श्रद्धा रखने वालीं और शान्तचित्त वालीं होती हैं। ऐसी स्त्रियों के लिए उनका केवल पति ही परम पवित्र और सर्वश्रेष्ठ होता है ॥२४॥

---

१ संग्रहं—अग्निसाक्षिकपाणिग्रहणं। (गो०)—दृष्टे पिदोषे स्वीकारः यद्वा सग्रहो बंधनादि। (रा०) २ स्थिताना—पतिव्रतानाम् स्त्रीणाम्। (रा०) ३ शीले—कुलोचितचरित्रे। (गो०) ४ श्रुते—गुरुजनकृतोपदेशे। (गो०) ५ शमे—शान्तौ च (गो०) ६ विशिष्यते—उत्कृष्टोभवति। (गो०)

स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो मम ।
तव दैवतमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा ॥२५॥

अतः तू मेरे पुत्र का जो वनवास करने के लिए उद्यत है अपमान मत करना। क्योंकि चाहे वह धनी है, चाहे निर्धन; तेरे लिए तो वह देवता के समान ही पूज्य एवं मान्य है ॥२५॥

विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम् ।
कृताञ्जलिरुवाचेदं श्वश्रूमभिमुखे स्थिताम् ॥२६॥

तब सीता जी सास के धर्म और अर्थ युक्त इन वचनों का अभिप्राय समझ, सास के सामने जा और हाथ जोड़ कर यह बोलीं ॥२६॥

करिष्ये सर्वमेवाहमार्या यदनुशास्ति माम् ।
अभिज्ञाऽस्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं[1] श्रुतं[2] च मे ॥२७॥

हे आर्ये ! आपने मुझे जैसी आज्ञा दी है, मै तदनुसार ही करूँगी। स्त्री को अपने पति की, जिस प्रकार सेवा करनी चाहिए वह मै जानती हूँ। क्योकि मै माता पिता के मुख से यह सब सुन चुकी हूँ ॥२७॥

न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति ।
धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥२८॥

हे आर्ये ! आप मुझे असती-स्त्रियों के समान न समझें। मैं धर्म से कभी भी विचलित नहीं हो सकती; जैसे चन्द्रमा की प्रभा चन्द्रमा से कभी भी विचलित नहीं होती ॥२८॥

---

१ वर्तितव्यं—शुश्रूषितव्य । (गो०) २ श्रुतं—मातापितृभ्यां इति शेषः । (गो०)

नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो वर्तते रथः।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ॥२९॥

जिस प्रकार विना तार की वीणा नहीं बजती, बिना पहिए का थ नहीं चलता, उसी प्रकार स्त्री सौ पुत्रवाली ही क्यो न हो, उसे .बेना पति के सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥२९॥

मितं ददाति हि पिता मितं माता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥३०॥

क्या पिता, क्या माता और क्या पुत्र—ये सब तो थोडे थोड़े सुख के देने वले हैं। परन्तु पति, जो अमित सुख का देने वाला है, उसका ऐसी कौन (अभागी) स्त्री होगी, जो आदर न करेगी। (अर्थात् पति से इहलोक और परलोक मे भी स्त्री को अपरिमिति सुख मिलता है) ॥३०॥

साऽहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरावरा।
आर्ये किमवमन्येऽहं स्त्रीणां भर्ता हि दैवतम् ॥३१॥

मै पतिव्रता धर्म की सब बाते धर्म जानने वाले श्रेष्ठ लोगो से सुन कर जान चुकी हूँ। सो मैं, यह जान कर भी कि, स्त्री के लिए उसका पति ही देवता है, मै पति का अनादर क्यो करूँगी (अर्थात् कभी न करूँगी) ॥३१॥

सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम्[1]।
शुद्धसत्त्वा[2] मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम्[3] ॥३२॥

---

१ हृदयङ्गमम्—मनोहरं। (शि०) २ शुद्धसत्त्वा—शुद्धचित्ता। (शि०) ३ दुःखहर्षजम्—पुत्रादेर्वनगमनेन दुःखं, सीतायावाक्यश्रवणेन च हर्षः। (रा०)

भोलीभाली माता कौसल्या, जो श्रीरामचन्द्र के वनगमन से दुखी हो, आँसू गिरा रही थी, सीता के ये मनोहरवचन सुन, सहसा प्रसन्न वचन हो गई ॥३२॥

तां प्राञ्जलिरभिक्रम्य मातृमध्येऽतिसत्कृताम् ।
रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत् ॥३३॥

सब माताओं में अधिक पूज्य कौसल्या की परिक्रमा कर, परम धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने हाथ जोड़ कर, कहा ॥३३॥

अम्ब मा दुःखिता भूस्त्वं पश्य त्वं पितरं मम ।
क्षयो हि वनवासस्य[1] क्षिप्रमेव भविष्यति ॥३४॥

हे अम्मा ! (मेरे वन जाने के बाद) तू दुःखी हो, मेरे पिता की ओर मत देखना, क्योंकि वनवास की अवधि शीघ्र ही पूरी हो जायगी ॥३४॥

सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च ।
सा समग्रमिह[2] प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम् ॥३५॥

ये चौदह वर्ष तुझे ऐसे कट जायँगे जैसे सोने में एक रात कट जाती है। अथवा तुझे ये १४ वर्ष एक रात के समान जान पड़ेंगे। पिता की आज्ञा पालन कर, सुहृदों सहित तू मुझे यहाँ आया हुआ देखेगी ॥३५॥

एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वचः ।
त्रयः शतशतार्धाश्च ददर्शावेक्ष्य[3] मातरः ॥३६॥

---

१ वनवासस्य—वनवासकालस्य। (गो०) २ समग्र—सम्पूर्ण मनोरथ अथवा निर्वर्तितपितृवचन। (गो०) ३ ददर्शावेक्ष्य—वक्तव्यं आलोच्य। (गो०)

अपनी जननी कौसल्या से इस प्रकार कह, श्रीरामचन्द्र ने अपनी अन्य ३५० माताओं से कुछ कहने का विचार किया ॥३६॥

ताश्चापि स तथैवार्ता मातॄर्दशरथात्मजः ।
धर्मयुक्तमिदं वाक्यं निजगाद कृताञ्जलिः ॥३७॥

वे भी सब माताएँ, कौसल्या की तरह आर्त थीं, अर्थात् दुःख पा रही थीं, अतः श्रीरामचन्द्र ने हाथ जोड़ कर, उनसे यह धर्मयुक्त वचन कहे ॥३७॥

संवासात्परुषं किञ्चिदज्ञानाद्वापि यत्कृतम् ।
तन्मे समनुजानीत[1] सर्वाश्चामन्त्रयामि[2] वः ॥३८॥

एक साथ रहने के कारण जाने या अनजाने जो कुछ अपराध मुझसे बन पड़ा हो, उसको आप सब क्षमा करना। मैं आपसे यही माँगता हूँ ॥३८॥

वचनं राघवस्यैतद्धर्मयुक्तं समाहितम्[3] ।
शुश्रुवुस्ताः स्त्रियः सर्वाः शोकोपहतचेतसः ॥३९॥

श्रीरामचन्द्र के मुख से ऐसे धर्मयुक्त और समीचीन अर्थयुक्त वचन सुन, सब रानियाँ शोक से विकल हो गईं ॥३९॥

जज्ञेऽथ तासां सन्नादः क्रौञ्चीनामिव निस्वनः ।
मानवेन्द्रस्य भार्याणामेवं वदति राघवे ॥४०॥

श्रीरामचन्द्र के वचन सुन कर, सब रानियों के रुदन का महानाद वैसा ही हुआ, जैसा कि, क्रौंची नामक चिड़ियों के चिल्लाने से होता है ॥४०॥

---

१ समनुजानीत—क्षान्तमित्यनुज्ञांकुरु । (गो०) २ आमन्त्रयामि—आपृच्छामि । (गो०) ३ समाहित—समीचीनार्थयुक्तं । (गो०)

मुरजपणवमेघघोषव-
दशरथवेश्म बभूव यत्पुरा।
विलपितपरिदेवनाकुलं
व्यसनगतं तदभूत्सुदुःखितम् ॥४१॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

हा! महाराज के जिस राज भवन में पहले मृदङ्ग ढोल के मेघगर्जनवत् शब्द हुआ करते थे, वही भवन आज रानियों के करुणपूर्ण आर्तनाद और परिताप के अत्यन्त दुःख से भर गया ॥४१॥

अयोध्याकाण्ड का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
उपसंगृह्य राजानं चक्रुर्दीनाः[1] प्रदक्षिणम् ॥१॥

अनन्तर दीन दुःखी श्रीरामचन्द्र ने सीता और लक्ष्मण सहित महाराज दशरथ के चरणों को स्पर्श कर, प्रणाम किया और प्रदक्षिणा की ॥१॥

तं चापि समनुज्ञाप्य धर्मज्ञः सीतया सह।
राघवः शोकसम्मूढो जननीमभ्यवादयत् ॥२॥

पिता जी से विदा माँग, सीता सहित धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने शोक से बिकल कौसल्या जी को प्रणाम किया ॥२॥

१ उपसंगृह्य—पादग्रहणपूर्वकंप्रणम्य (गो०)

अन्वक्षं[1] लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवादयत् ।
अथ मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः ॥३॥

श्रीरामचन्द्र के प्रणाम कर चुकने पर लक्ष्मण ने कौसल्या को प्रणाम किया। तदनन्तर अपनी जननी सुमित्रा के चरण छुए ॥३॥

तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत् ।
हितकामा महाबाहुं मूर्ध्न्युपाघ्राय लक्ष्मणम् ॥४॥

रुदन करती हुई और लक्ष्मण का हित चाहने वाली माता सुमित्रा ने, महाबाहु लक्ष्मण का सिर सूँघ कर उससे कहा ॥४॥

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने ।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥५॥

जिस प्रकार कौसल्या ने श्रीरामचन्द्र को लोकरक्षणार्थ उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मैंने श्रीरामचन्द्र में अनुराग रखने वाले और उनके साथ वन जाने के लिए तुझे जना है। अतः श्रीराम के वन जाने पर तू वहाँ उनकी सेवा शूश्रूषा में असावधानी मत करना। (अथवा ऐसा न करना कि, श्रीरामचन्द्र तो वन जायँ और तू बीच में रह जावे—भूषण) ॥५॥

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत् ॥६॥

हे अनघ! चाहे यह दुःखी हों या सुखी हो, (तू जान रखो कि, यही) तेरी एक मात्र गति हैं अर्थात् तेरे ये ही सर्वस्व

१ अन्वक्षं—अनुपदं (गो०)

हैं। लोक में सज्जनों का धर्म ही यह है कि, बड़ों के कहने में चलना ॥६॥

इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम् ।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु च ॥७॥

विशेष कर के इस वंश की तो पुरानी रीति यह है कि, दान देना, यज्ञ करना और संग्राम में शरीर त्याग करना ॥७॥

लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वा सा संसिद्धं[1] प्रियराघवम् ।
सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनःपुनरुवाच तम् ॥८॥

सुमित्रा ने लक्ष्मण से इस प्रकार कहा और उसको वन जाने के लिए तत्पर देख और उसको श्रीरामचन्द्र का प्यारा जान, सुमित्रा जी उससे बारबार कहने लगीं; बेटा देर मत करो, जल्दी श्रीरामचन्द्र के साथ वन को जाओ ॥८॥

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥९॥

हे वत्स! (माता, पिता, घर द्वार और देश छूटने का सोच मत करना और वहाँ अपना मन प्रसन्न रखने के लिए (श्रीरामचन्द्र को महाराज दशरथ के समान, जानकी को मेरे समान और वन को अयोध्या के समान जानना ॥९॥

ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
विनीतो विनयज्ञश्च मातलिर्वासवं यथा ॥१०॥

---

१ संसिद्धं—गमनोद्युक्तं। (गो०)

तदनन्तर सुमन्त्र हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र से उसी प्रकार बोले, जैसे मातलि इन्द्र से बोलता है ॥१०॥

रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
क्षिप्रं त्वां प्रापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसि ॥११॥

हे महायशस्वी राजपुत्र! आप रथ पर सवार हो। आप जहाँ कहेंगे, वहीं मैं आपको तुरन्त पहुँचा दूँगा ॥११॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यानि वने त्वया ।
तान्युपक्रमितव्यानि यानि देव्याऽसि चोदितः ॥१२॥

आपको १४ वर्ष वन में वास करना है, सो कैकेयी की प्रेरणा के अनुसार आज ही से उसका आरम्भ कीजिए ॥१२॥

तं रथं सूर्यसङ्काशं सीता हृष्टेन चेतसा ।
आरुरोह वरारोहा कृत्वा[1]लङ्कारमात्मनः ॥१३॥

तब सुन्दर मुख वाली जनकनन्दिनी प्रफुल्ल मन से ससुर के दिए हुए अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों सहित, सब से प्रथम सूर्य से समान (चमकीले) रथ पर चढ़ ॥१३॥

अथो ज्वलनसङ्काशं[2] चामीकरविभूषितम् ।
तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥१४॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण भी उस सुवर्णभूषित और आयुधों से सज्जित रथ पर सवार हुए ॥१४॥

---

१ अलंकारंकृत्वा—श्वशुरदत्तवस्त्राभरणादिभिः इतिशेषः। (गो०)
२ ज्वलनसङ्काश—आयुधपूर्णत्वादितिभाव.। (गो०)

वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ ॥१५॥

सीता जी के ससुर महाराज दशरथ ने वनवास के दिनों को गिन, पति के साथ वन जाती हुई सीता को, जिस प्रकार गहने कपड़े दिए थे ॥१५॥

तथैवायुधजालानि भ्रातृभ्यां कवचानि च।
रथोपस्थे प्रतिन्यस्य सचर्म कठिनं च तत् ॥१६॥

वैसे ही महाराज ने दोनों भाइयों के लिए बहुत से अस्त्र शस्त्र, कवच, उत्तम मजबूत ढालें भी रथ पर रखवा दी थीं ॥१६॥

सीतातृतीयानारूढान् दृष्ट्वा[1] धृष्टमचोदयत्।
सुमन्त्रः [2]सम्मतानश्वान् वायुवेगसमाञ्जवे ॥१७॥

सुमन्त्र ने तीनों को रथ पर बैठे हुए देख, उन वायु तुल्य तेज चाल से चलने वाले अपने पसंद किए हुए घोड़ों को, सावधानी के साथ आगे बढ़ाया ॥१७॥

प्रतियाते महारण्यं चिररात्राय[3] राघवे।
बभूव नगरे मूर्छा बलमूर्छा[4] जनस्य च ॥१८॥

श्रीरामचन्द्र के बहुत दिनो के लिए दण्डकवन को प्रस्थान करते ही, केवल नगरवासी या बाल वृद्ध स्त्री पुरुष ही नहीं, किन्तु राजसैन्य के हाथी घोड़े तक अपने आपे में न रहे ॥१८॥

---

१ धृष्टं—सधैर्यं। (गो०) २ सम्मतान्—श्रेष्ठान्। (गो०) ३ चिररात्राय—चिरकालम्। (गो०) ४ बलमूर्छा—अश्वगजादिमोहः। (गो०)

तत्समाकुल[1]सम्भ्रान्तं मत्तसङ्कुपितद्विपम् ।
हयशिञ्जितनिर्घोषं पुरमासीन् महास्वनम् ॥१९॥

वहाँ जितने लोग थे, वे सब क्षुब्ध और क्रुद्ध हो, मतवालों की तरह हो गए। हाथी बिगड़ गए, घोड़े हिनहिनाने लगे। सारी अयोध्यापुरी में हलचल मच गई ॥१९॥

ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता ।
राममेवाभिदुद्राव घर्मार्ता सलिलं यथा ॥२०॥

अयोध्या के क्या बालक और क्या बूढ़े और क्या युवक—सभी अत्यन्त विकल हो, श्रीरामचन्द्र के रथ के पीछे वैसे ही दौड़ने लगे, जैसे घाम से सताया हुआ जीव पानी की ओर दौड़ता है ॥२०॥

पार्श्वतः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः[2] ।
बाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुर्भृशनिस्वनाः ॥२१॥

कोई तो रथ की अगल बगल और कोई रथ के पीछे, श्रीरामचन्द्र को देखने के लिए ऊपर को मुख उठाए चले जाते थे। सब के सब उस समय रो रहे थे और चिल्ला चिल्ला कर सुमंत्र से कह रहे थे ॥२१॥

संयच्छ वाजिनां रश्मीन् सूत याहि शनैः शनैः ।
मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति ॥२२॥

---

१ समाकुलं—अन्तःकरणक्षोभयुक्तं। (गो०) २ उदन्मुखा—रामम् पश्यन्तः। (शि०)

हे सूत ! घोड़ों की रास कड़ी करो, रथ धीरे धीरे चलाओ। श्रीरामचन्द्र का मुख हमें ज़रा देख लेने दो। क्योंकि हमारे लिए अब इनके मुख का दर्शन दुर्लभ हो जायगा ॥२२॥

आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम् ।
यद्देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते ॥२३॥

अब हमको निश्चय हो गया कि, श्रीरामचन्द्र की माता का हृदय लोहे का है। क्योंकि देवसमान इन श्रीरामचन्द्र को वन जाते देख, वह फट क्यों नहीं गया ॥२३॥

कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम् ।
न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥२४॥

धन्य है वैदेही, जो अपने पति के पीछे शरीर की छाया की तरह उसी प्रकार जा रही है और पतिव्रतधर्म में दृढ़ है, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा मेरु पर्वत को नहीं छोड़ती ॥२४॥

अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम् ।
भ्रातरं देवसङ्काशं यस्त्वं परिचरिष्यसि ॥२५॥

अहो लक्ष्मण ! तुम भी कृतार्थ हुए, जो तुम सदैव प्रियवादी और देवतुल्य भाई की वन मे सेवा करोगे ॥२५॥

महत्येषा हि ते सिद्धिरेष चाभ्युदयो महान् ।
एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि ॥२६॥

यही तुम्हारे लिए बड़ी सिद्धि है और यही तुम्हारे लिए महान् अभ्युदय है और यही तुम्हारे लिए स्वर्ग जाने का मार्ग है, जो तुम अपने भाई के अनुगामी हुए हो ॥२६॥

एवं वदन्तस्ते सोढुं न शेकुर्बाष्पमागतम् ।
नरास्तमनुगच्छन्तः प्रियमिक्ष्वाकुनन्दनम् ॥२७॥

प्यारे इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र के पीछे जाते हुए और इस प्रकार कहते हुए लोग आँसुओ को न रोक सके अर्थात् रोने लगे ॥२७॥

अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः ।
निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन्गृहात् ॥२८॥

उधर राजभवन में दीनदुखी महाराज दशरथ शोक से विकल रानियो सहित यह कहते हुए "मैं अपने प्यारे बेटे को देखूँगा" भवन से पैदल ही निकल पड़े ॥२८॥

शुश्रुवे चाग्रतः स्त्रीणां रुदन्तीनां महास्वनः ।
यथा नादः करेणूनां बद्धे महति कुञ्जरे ॥२९॥

हाथी को जंजीरों में बँधा देख, जिस प्रकार हथिनी चिंघाड़ मारती है, उसी तरह अति जोर से स्त्रियों के रोने का शब्द महाराज दशरथ ने सुना ॥२९॥

पिता हि राजा काकुत्स्थः श्रीमान्सन्न[१]स्तदाऽभवत् ।
परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपप्लुतो यथा ॥३०॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के पिता महाराज दशरथ वैसे ही हतश्री और हततेज हो गए, जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा राहु से ग्रसे जाने पर हततेज और हतश्री हो जाता है ॥३०॥

---

१ सन्नः—अवछन्नतेजा । (गो०)

स च श्रीमानचिन्त्यात्मा[1] रामो दशरथात्मजः ।
सूतं सञ्चोदयामास त्वरितं वाह्यतामिति ॥३१॥

श्रीरामचन्द्र जिनको साधारण लोग नहीं पहिचान सकते थे, सूत से बोले कि, रथ जल्दी जल्दी हाँको ॥३१॥

रामो याहीति सूतं तं तिष्ठेति स जनस्तदा ।
उभयं नाशकत्सूतः मर्तुमध्वनि चोदितः ॥३२॥

इधर श्रीरामचन्द्र तो रथ शीघ्र हाँकने को कहते और उधर प्रजाजन कहते कि रथ धीरे धीरे चलाओ। ऐसी दशा में सुमंत्र न तो रथ को तेज़ ही चला सके और न खड़ा ही कर सकते थे—बेचारे बड़े सङ्कट में थे ॥३२॥

निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः ।
पतितैरभ्युपहितं प्रशशाम महीरजः ॥३३॥

जिस समय महाबाहु श्रीरामचन्द्र वन जाने लगे, उस समय उनके रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल पुरवासियों की अश्रुधारा से दब गई ॥३३॥

रुदिताश्रुपरिद्यूनं हाहाकृतमचेतनम्[2] ।
प्रयाणे राघवस्यासीत्पुरं परमपीडितम् ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रयाण के समय अयोध्यापुरी के रहने वाले हाहाकार कर रोते रोते किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए—लोगों को बड़ा ही दुःख हुआ ॥३४॥

---

१ अचिन्त्यात्मा—प्राकृतजनैरचिन्त्यस्वरूपः। (वि०) २ अचेतनम् —मूढ़। (गो०)

सुस्राव नयनैः स्त्रीणामास्रमायाससम्भवम् ।
मीनसंक्षोभचलितैः सलिलं पङ्कजैरिव ॥३५॥

उस समय स्त्रियों के नेत्रों से ऐसी अश्रुधारा बह रही थी, जैसे मछलियों के खलबला देने से कमल के पत्तों पर गिरा हुआ जल बहता है ॥३५॥

दृष्ट्वा तु नृपतिः श्रीमानेकचित्तगतं[1] पुरम् ।
निपपातैव दुःखेन हतमूल इव द्रुमः ॥३६॥

महाराज सारे नगरवासियों को दुखी देख, जड़ से कटे हुए पेड़ की तरह जमीन पर गिर पड़े ॥३६॥

ततो हलहलाशब्दो जज्ञे रामस्य पृष्ठतः ।
नराणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भृशदुःखितम् ॥३७॥

श्रीरामचन्द्र के रथ के पीछे जो लोग थे, वे महाराज की यह महादुःखपूर्ण दशा देख, हाहाकार करने लगे ॥३७॥

हा रामेति जनाः केचिद्राममातेति चापरे ।
अन्तःपुरं समृद्धं च क्रोशन्तः पर्यदेवयन्[2] ॥३८॥

महाराज को तथा उनके रनवास की समस्त रानियों और नौकर चाकरों को दुखी देख, कोई कहता "हा राम!" और कोई कहता "हा कौसल्ये!"—सारांश यह कि, उस समय सब लोग रुदन कर रहे थे ॥३८॥

---

१ एकचित्तगत—दुःखेनैकचित्ततागतम् । (रा०) २ पर्यदेवयन्—अरुदन् । (गो०)

अन्वीक्षमाणो[1] रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम् ।
राजानं मातरं चैव ददर्शानुगतौ पथि ॥३९॥

इस प्रकार लोगों का रोना और चिल्लाना सुन, जाते हुए श्रीरामचन्द्र ने पीछे की ओर देखा कि, उनके पिता महाराज दशरथ और उनकी माता कौसल्या पैदल ही उनके पीछे चली आ रही हैं और वे विषाद से ग्रसित हैं और भ्रान्तचित्त हैं ॥३९॥

स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातरं यथा ।
धर्मपाशेन संक्षिप्तः[2] प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ॥४०॥

बँधा हुआ घोड़ी का बच्चा जिस प्रकार अपनी माता को देख नहीं पाता, उसी प्रकार सत्य के पाश में बँधे होने के कारण श्रीरामचन्द्र ने (माता पिता की यह दशा देख कर भी) उधर से दृष्टि फेर ली ॥४०॥

पदातिनौ च यानार्हावदुःखार्हौ सुखोचितौ ।
दृष्ट्वा सञ्चोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम् ॥४१॥

सदा सवारी में चलने वाले, जिन्होंने कभी सुख को छोड़ दुःख जाना ही नहीं, उनको पैदल चले आते देख, श्रीरामचन्द्र ने सुमन्त्र से रथ शीघ्र हाँकने को कहा ॥४१॥

न हि तत्पुरुषव्याघ्रो दुःखदं दर्शनं पितुः ।
मातुश्च सहितुं शक्तस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥४२॥

---

१ अन्वीक्षमाणः—आक्रोशानुसारेणपश्चात्सामान्यतईक्षमाणः । (गो०) २ संक्षिप्तः—बद्ध इति यावत् । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी अपने माता पिता की यह अवस्था न देख सके, उस समय उनकी वैसी ही दशा थी जैसी कि, किसी मतवाले हाथी को अंकुश लगने से होती है ॥४२॥

प्रत्यागारमिवायान्ती वत्सला वत्सकारणात् ।
बद्धवत्सा यथा धेनू राममाताऽभ्यधावत ॥४३॥

गोष्ठ मे बँधे हुए बच्चे की सुध कर दिन भर वन में रही हुई गौ, जैसे शाम को गोठ की ओर दौड़ती है, वैसे ही कौसल्या जी भी दौड़ीं ॥४३॥

तथा रुदन्तीं कौसल्यां रथं तमनुधावतीम् ।
क्रोशन्तीं राम रामेति हा सीते लक्ष्मणेति च ॥४४॥

रुदन करती हुई कौसल्या रथ के पीछे दौड़ी चली जाती थीं, और हा राम, हा सीता, हा लक्ष्मण कह कर चिल्ला रही थी ॥४४॥

रामलक्ष्मणसीतार्थं स्रवन्तीं वारि नेत्रजम् ।
असकृत्प्रैक्षत स तां नृत्यन्तीमिव[१] मातरम् ॥४५॥

श्रीरामचन्द्र जी ने एक बार फिर कर देखा कि, उनकी माता राम, लक्ष्मण सीता के लिए रुदन करती एवं गिरती पड़ती चक्कर खाती चली आ रही है ॥४५॥

तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः ।
सुमन्त्रस्य बभूवात्मा [२]चक्रयोरिव चान्तरा ॥४६॥

इधर तो महाराज दशरथ सुमन्त्र से कहते थे ठहरो ठहरो और उधर श्रीरामचन्द्र कहते थे शीघ्र चलो शीघ्र चलो । उस समय

---

१ नृत्यन्तीमिव—तद्वदितस्ततः परिभ्रमन्तीमिव। (गो०) २ चक्रयोरिवचान्तरा—चक्रयोर्युगुत्वसेनयोरन्तरास्थितिः उदासीनः पुरुष इव सुमन्त्रस्यात्मा-मनःदोलायितो बभूव। (रा० तथा वि०)

सुमंत्र उसी प्रकार घबड़ा उठे, जिस प्रकार युद्धार्थ खड़ी हुई सेनाओं के बीच खड़ा उदासीन मनुष्य घबड़ा उठता है। (अर्थात सुमंत्र पशोपेश में पड़े हुए थे कि, महाराज की आज्ञा का पालन करें कि, श्रीरामचन्द्र की आज्ञा का पालन करें) ॥४६॥

नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि।
चिरं[1] दुःखस्य [2]पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥४७॥

श्रीरामचन्द्र ने सून से कहा कि, तुम जब लौट कर महाराज के पास आओ तब यदि महाराज पूँछे कि मेरी आज्ञा की अवहेला कर रथ क्यों नहीं ठहराया; तब कह देना कि, (रथ की गड़गड़ाहट और लोगों के रुदन के चीत्कार में) मैंने आपकी बात सुनी नहीं। क्योकि इस समय जो दु ख हो रहा है, वह यहाँ ठहर कर देर करने से और भी अधिक हो जायगा। अर्थात् यहाँ ठहरने से सिवाय दुःख और कष्ट बढ़ जाने के और कुछ भी लाभ नहीं है ॥४७॥

रामस्य स वचः कुर्वन्ननुज्ञाप्य च तं जनम्।
व्रजतोऽपि[3] हयाञ्शीघ्रं चोदयामास सारथिः ॥४८॥

तब सुमत्र ने श्रीरामचन्द्र का कहना माना और जो लोग रथ के पाछे आ रहे थे, उनसे जाने के लिए कहा, और तब चलते हुए घोड़ों को तेज़ दौड़ाया ॥४८॥

न्यवर्तत जनो राज्ञो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
मनसाप्यश्रुवेगैश्च न न्यवर्तत मानुषम् ॥४९॥

---

१ चिरं...इति—दुःखस्य इदानीमनुभूयमान-दुःखस्याचिरं विलम्बः। (गो०) २ पापिष्ट—अति दुःसहं। (गो०) ३ व्रजतोऽपि—गच्छतोपि पुनः। (रा०)

जिस समय रथ तेजी से चला उस समय महाराज के कुटुम्ब के लोग श्रीरामचन्द्र जी की मन से परिक्रमा कर, शरीर से लौट आए, परन्तु मन से नहीं लौटे, किन्तु अन्य पुरवासी जन तो मन से भी न लौटे और इसी लिए उनका अश्रुवेग भी न थमा ॥४६॥

यमिच्छेत्पुनरायान्तं नैनं दूरमनुव्रजेत् ।
इत्यमात्या महाराजमूचुर्दशरथं वचः ॥५०॥

मन्त्रिवर्ग ने महाराज से कहा कि, जिसका शीघ्र पुनरागमन चाहे, उसको पहुँचाने के लिए दूर तक जाना चाहिए ॥५०॥

तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नं
प्रस्विन्नगात्रः प्रविषण्णरूपः ।
निशम्य राजा कृपणः सभार्यो
व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः ॥५१॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

शास्त्र का ऐसा वचन सुन, महाराज दशरथ जी, (रथ के पीछे दौड़ने के कारण) जो पसीने से सराबोर और शोक से दीन हो रहे थे, रानियों सहित श्रीरामचन्द्र की ओर टकटकी लगाए वहीं खड़े हो गए। अर्थात् रथ के पीछे फिर न गए। (धर्मशास्त्र की आज्ञा अथवा मन्त्रियों के युक्तियुक्त वचन के आगे पुत्रस्नेह दब गया) ॥५१॥

अयोध्याकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—:❀:—

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे विनिर्याते कृताञ्जलौ ।
आर्तशब्दोऽथ संजज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे महान् ॥१॥

हाथ जोड़े बिदा होते हुए पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र के चले जाने पर, अन्तःपुर की स्त्रियों ने हाहाकार मचाया ॥१॥

अनाथस्य जनस्यास्य दुर्बलस्य तपस्विनः ।
यो गतिः शरणं चासीत्स नाथः क्वनु गच्छति ॥२॥

वे विलाप कर के कहने लगी—जो अनाथो, दुर्बलो और शोचनीय मनुष्यों के एकमात्र अवलंब और रक्षक हैं, वे श्रीरामचन्द्र कहाँ जाते हैं ॥२।

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जनन् ।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् समदुःख क्वचिद्गतः ॥३॥

जो कठोर वचन कहने पर भी कभी क्रोध नहीं करते हैं, और न किसी को कुपित करते हैं, प्रत्युत कुपित हुए जन को प्रसन्न करने वाले हैं तथा जो सब के सुख दु ख को अपना सुख दुःख समझने वाले हैं, वे श्रीरामचन्द्र कहाँ जाते हैं? ॥३॥

कौसल्यायां महातेजा यथा मातरि वर्तते ।
तथा यो वर्ततेऽस्मासु महात्मा क्वनु गच्छति ॥४॥

जो महातेजस्वी अपनी जननी कौसल्या की तरह ही हम सब को माता मानते हैं, वे महात्मा अब कहाँ जा रहे हैं? ॥४॥

कैकेय्या क्लिश्यमानेन राज्ञा सञ्चोदितो वनम् ।
परित्राता जनस्यास्य जगतः क्वनु गच्छति ॥५॥

कैकेयी से सताए जा कर और महाराज द्वारा वनवास के लिए प्रेरित हो, इस जगत के समस्त जनों के रक्षक श्रीरामचन्द्र कहाँ चले जाते हैं ? ॥५॥

अहो निश्चेतनो[1] राजा जीवलोकस्य सम्प्रियम् ।
धर्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति ॥६॥

हा ! महाराज की बुद्धि पर तो पत्थर पड़े हैं, जो धर्मात्मा सत्यवादी और जीवों के पूर्ण रीति से प्रीतिपात्र श्रीराम को वनवास दे रहे हैं ॥६॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।
रुरुदुश्चैव दुःखार्ताः सस्वरं च विचुक्रुशुः ॥७॥

इस प्रकार वे सब रानियाँ बछड़ा रहित गौ की तरह शोकार्त्त हो, रोने लगीं और उच्चस्वर से विलाप करने लगी ॥७॥

स तमन्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तः श्रुत्वा चासीत्सुदुःखितः ॥८॥

महाराज पुत्रवियोगजन्य शोक से तो पहिले ही दुःखी हो रहे थे, तिस पर रनवास के इस घोर आर्त्तनाद को सुन, वे अत्यन्त दुःखी हुए ॥८॥

नाग्निहोत्राण्यहूयन्त नापचन् गृहमेधिनः ।
अकुर्वन्न प्रजाः कार्यं सूर्यश्चान्तरधीयत ॥९॥

---

[1] निश्चेतनः—बुद्धिहीनः । (गो०)

उस दिन न तो किसी ब्रह्मचारी ने अग्निहोत्र किया और न किसी गृहस्थ के घर चूल्हा ही जला अथवा न किसी ने रसोई बनाई। उस सारे दिन किसी ने कुछ काम न किया और दिन डूब गया। अर्थात् वह समस्त दिन लोगों का दुःख ही दुःख में बीता ॥६॥

व्यसृजन् कवलान्नागा गावो वत्सान्नपाययन्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥१०॥

(केवल मनुष्यों ही की यह दशा हुई हो सो बात नहीं) हाथियों ने अपनी अपनी भूलें गिरा दी, गौओं ने बछड़े बछियों को दूध न पिलाया। माताएँ अपने ज्येष्ठ पुत्रों को देख हर्षित नहीं होती थीं ॥१०॥

त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च बृहस्पतिबुधावपि।
दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः ॥११॥

त्रिशङ्कु, मङ्गल, बृहस्पति, बुध, शनि और शुक्र आदि क्रूर ग्रह वक्री हो, चन्द्रमा के निकट जा थर-थर काँपने लगे ॥११॥

नक्षत्राणि गतार्चींषि ग्रहाश्च गततेजसः।
विशाखा[1]स्तु सधूमाश्च नभसि प्रचकाशिरे ॥१२॥

नक्षत्र प्रभाहीन और ग्रह तेजहीन हो गए। विशाखा नक्षत्र धुमैला पड़ गया था और आकाश में धुँधला सा चमक रहा था ॥१२॥

---

१ विशाखाः—इक्ष्वाकुदेशनक्षत्रं। (गो०)

[1]कालिकानिलवेगेन महोदधिरिवोत्थितः।
रामे वनं प्रव्रजिते नगरं प्रचचाल[2] तत् ॥१३॥

तेज वायु के चलने से आकाश मे मेघों के समूह उसी प्रकार एक के ऊपर एक उठते थे, जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठा करतीं हैं। श्रीराम के वन जाने पर नगर में भूकम्प हुआ ॥१३॥

दिशः पर्याकुलः सर्वास्तिमिरेणेव संवृताः।
न ग्रहो नापि नक्षत्रं प्रचकाशे न किञ्चन ॥१४॥

दशों दिशाओं में अन्धकार छा गया, जिससे आकाश में ग्रहों और नक्षत्रों का प्रकाश नहीं देख पड़ता था ॥१४॥

अकस्मान्नागरः सर्वो जनो दैन्यमुपागमत्।
आहारे वा विहारे वा न कश्चिदकरोन्मनः ॥१५॥

अकस्मात् सारे नगरनिवासी उदास हो गए। उस दिन किसी ने भी न तो भोजन किए और न कोई किसी खेल-कूद या मनोरञ्जन के कार्य में सम्मिलित हुआ ॥१५॥

शोकपर्यायसन्तप्तः सततं दीर्घमुच्छ्वसन्।
अयोध्यायां जनः सर्वः शुशोच जगतीपतिम् ॥१६॥

सब अयोध्यावासी शोकसन्तप्त हो बराबर आहें भर रहे थे और महाराज दशरथ पर क्रुद्ध रहे थे ॥१६॥

---

१ कालिका—मेघपङ्क्तिः अनिलवेगेन आकाशे उत्थितः उदधिरिव दृश्यते। (रा०) २ नगर प्रचचालेत्यनेन भूकम्पः। (रा०)

बाष्पपर्याकुलमुखो राजमार्गगतो जनः ।
न हृष्टो लक्ष्यते कश्चित्सर्वः शोकपरायणः ॥१७॥

राह चलते मनुष्यों के भी नेत्र आँसुओं से भरे हुए थे, कहीं प्रसन्नता का नाम तक न था, क्योंकि सब के सब पुरवासी शोक सन्तप्त हो रहे थे ॥१७॥

न वाति पवनः शीतो न शशी सौम्यदर्शनः ।
न सूर्यस्तपते लोकं सर्वं पर्याकुलं जगत् ॥१८॥

न तो शीतल हवा चलती थी न चन्द्रमा सुहावना जान पड़ता था और न सूर्य ही तपते थे। सारा जगत ही रामवियोग में विकल हो रहा था ॥१८॥

अनर्थिनः सुतः स्त्रीणां भर्तारो भ्रातरस्तथा ।
सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन् ॥१९॥

न तो पुत्र को अपने माता पिता से, न पतियों को अपनी सहधर्मिणियों से और न भाई को अपने भाई से कुछ प्रयोजन रहा— सब ने सब को छोड़ सा दिया था। क्योंकि उस दिन सब लोग केवल श्रीरामचन्द्र के शोक में डूबे हुए थे ॥१९॥

ये तु रामस्य सुहृदः सर्वे ते मूढचेतसः ।
शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं न जहुस्तदा ॥२०॥

जो श्रीरामचन्द्र के हितैषी मित्र थे उनको अपनी कुछ भी सुध बुध ही न थी। वे शोकभार से इतने दबे हुए थे कि, उनकी निद्रा तक जाती रही ॥२०॥

ततस्त्वयोध्या रहिता महात्मना
पुरंदरेणेव मही सपर्वता ।
चचाल घोरं भयशोकपीडिता
सनागयोधाश्वगणा ननाद च ॥२१॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

इन्द्र से रहित पर्वतो सहित पृथिवी की जो दशा होती है, वही दशा महात्मा श्रीरामचन्द्र रहित अयोध्या की हुई और वह घोर शोक से सन्तप्त हो कम्पित हो गई। वह पुरी हाथियों, घोड़ों और वीरों के हाहाकार व आर्त्तनाद से पूर्ण हो गई। (इन्द्र से रहित का तात्पर्य यह है कि जैसे इन्द्र का कोप होने पर अनावृष्टि के कारण सारी पृथिवी और पहाड़ उत्तप्त हो उठते हैं और मनुष्य, पशु पक्षी सभी विकल हो उठते हैं, उसी प्रकार श्रीराम के अयोध्या छोड़ कर चले जाने पर अयोध्या की दशा हो गई) ॥२१॥

अयोध्याकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—※—

यावत्तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत ।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत्सञ्जहारात्मचक्षुषी ॥१॥

जब तक श्रीरामचन्द्र के रथ के पहियों से उड़ती हुई धूल दिखलाई देती रही, तब तक महाराज ने उस ओर से अपनी निगाह न फेरी अर्थात् उधर ही देखते रहे ॥१॥

यावद्राजा प्रियं पुत्रं पश्यत्यत्यन्तधार्मिकम् ।
तावद्व्यवर्धते[1]वास्य धरण्यां पुत्रदर्शने ॥२॥

जब तक महाराज दशरथ को अपने अत्यन्त प्रिय और धार्मिक पुत्र श्रीरामचन्द्र दिखलाई पड़े, तब तक वे ज़मीन से बार-बार उठ उठ कर उनको देखते रहे ॥२॥

न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः ।
तदाऽऽर्तश्च विषण्णश्च पपात धरणीतले ॥३॥

किन्तु जब रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल भी अदृश्य हो गई तब महाराज दशरथ आर्त्त और विषादपूर्ण हो, भूमि पर गिर पड़े ॥३॥

तस्य दक्षिणमन्वागात्कौसल्या बाहुमङ्गना ।
वामं चास्यान्वगात्पार्श्वं कैकेयी भरतप्रिया ॥४॥

उस समय महाराज के दहिने हाथ को कौसल्या और बाँए हाथ को भरतप्रिया कैकेयी पकड़ कर उनको ले चलीं ॥४॥

तां नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेन[2] च ।
उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रियः ॥५॥

नीतिवान् धर्मात्मा और सदाचारी महाराज दशरथ कैकेयी को अपने पास देख कर विकल हो बोले ॥५॥

कैकेयि मा ममाङ्गानि स्प्राक्षीस्त्वं दुष्टचारिणी ।
न हि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी[3] ॥६॥

---

१ व्यवर्धतइव उत्थायोत्थायालोकते । (शि०) २ विनयेन—सदाचारेण । ३ नचबान्धवी—पत्नीत्व सम्बन्धोपिना । (गो०)

रे दुष्टा कैकेयी! हमारे शरीर को मत छू। हम तेरा मुँह देखना नहीं चाहते। तू न तो अब हमारी भार्या है और न हमारे साथ तेरा अब पत्नी का कोई नाता ही रहा है ॥६॥

ये च त्वामनुजीवन्ति नाहं तेषां न ते मम।
केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मा त्यजाम्यहम् ॥७॥

अकेली तू ही नहीं, बल्कि तेरे नौकर चाकर भी हमारे नहीं है और हम भी उनके नहीं है। हम तो, स्वार्थतत्पर हो, पातिव्रतधर्म का त्याग करने वाली तुझको त्यागते हैं ॥७॥

अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं[1] च यत्।
अनुजानामि[2] तत्सर्वमस्मिँल्लोके परत्र च ॥८॥

हमने अग्नि की परिक्रमा कर, जो तेरा हाथ पकड़ा था, उसका इहलौकिक और परलौकिक कर्मफल भी हम त्यागते हैं ॥८॥

[१ इसलोक का फल—क्रीड़ादि व्यवहार अब से तेरे साथ न करेंगे २ पारलौकिक कर्मफल—परलोकसिद्धि के लिए जो यज्ञानुष्ठानादिकर्म किए जाते हैं।]

भरतश्चेत्प्रतीतः[3] स्याद्राज्यं प्राप्येदमव्ययम्।
यन्मे स दद्यात्प्रीत्यर्थं मां मा तद्दत्तमागमत् ॥९॥

इस अक्षय्य राज्य को पा कर, यदि भरत प्रसन्न हो, तो उसका दिया तर्पण श्राद्धादि का जल और पिण्ड हमें न मिले ॥९॥

अथ रेणुसमुध्वस्तं तमुत्थाप्य नराधिपम्।
न्यवर्तत तदा देवी कौसल्या शोककर्शिता ॥१०॥

---

१ पर्यणय—प्रदक्षिणमनय। (गो०) २ अनुजानामि—परि-त्यजामि। (गो०) ३ प्रतीत.—प्रमुदितइति। (गो०)

कौसल्या जी स्वयं शोक से पीड़ित थीं। वे धूलधूसरित महाराज को उठा कर, घर को लौटीं ॥१०॥

हत्वेव ब्राह्मणं कामात्स्पृष्ट्वाग्निमिव पाणिना ।
अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं सञ्चिन्त्य तापसम् ॥११॥

जानबूझ कर ब्रह्महत्या करने से व जलते हुए अंगारे को हाथ से छूने से, जैसा सन्ताप होता है, वैसा ही सन्ताप, महाराज को मुनिभेषधारी पुत्र का स्मरण कर के हो रहा था ॥११॥

निवृत्त्यैव निवृत्त्यैव सीदतो रथवर्त्मसु ।
राज्ञो नातिबभौ रूपं ग्रस्तस्यांशुमतो यथा ॥१२॥

महाराज दशरथ का, जो बार बार मुड़ मुड़ कर, रथ के मार्ग को देखते जाते थे, रूप राहुग्रस्त सूर्य की तरह अच्छा नहीं लगता था ॥१२॥

विललाप च दुःखार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन् ।
नगरान्तमनुप्राप्तं बुद्ध्वा पुत्रमथाब्रवीत् ॥१३॥

महाराज ने अनुमान कर जब जाना कि, हमारे प्यारे राम अब नगर की सीमा के बाहिर निकल गए होंगे, तब वे अत्यन्त दुःखी हो और पुत्र का स्मरण कर विलाप करने लगे ॥१३॥

वाहनानां[1] च मुख्यानां वहतां तं ममात्मजम् ।
पदानि पथि दृश्यन्ते स महात्मा न दृश्यते ॥१४॥

---

१ वाहनानां—अश्वानामध्येनुख्याना। (शि०)

हमारे घोड़ों में से जो घोड़े, हमारे पुत्र श्रीरामचन्द्र के रथ में जुत गए हैं, उनके खुरों के निशान तो रास्ते में देख पड़ते हैं, किन्तु वह महात्मा नहीं दिखलाई पड़ता ॥१४॥

यः सुखेषूपधानेषु शेते चन्दनरूषितः ।
वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः ॥१५॥

जो हमारे श्रेष्ठ पुत्र चन्दन से चर्चित हो, कोमल तकियों एव गद्दों पर सोते थे और जिनके ऊपर सुन्दरी स्त्रियाँ चँवर डुलाया करतीं और पखा झला करती थीं, ॥१५॥

स नूनं क्वचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः ।
काष्ठं वा यदि वाऽश्मानमुपधाय शयिष्यते ॥१६॥

वे हमारे पुत्र, हाय! आज किसी वृक्ष के नीचे लकड़ी या पत्थर का तकिया लगा कर सोवेंगे ॥१६॥

उत्थास्यति च मेदिन्याः कृपणः पांसुगुण्ठितः* ।
विनिश्वसन्प्रस्रवणात्[1]करेणूनाम्[2]इवर्षभः ॥१७॥

और प्रातःकाल वे भूमि से उदास मन और धूलधूसरित, उसाँसे लेते हुए, उसी प्रकार उठेंगे, जिस प्रकार झरने के पास से बैल उठता है ॥१७॥

द्रक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहुं वनेचराः ।
राममुत्थाय गच्छन्तं लोकनाथमनाथवत् ॥१८॥

---

१ प्रस्रवणात्—निर्झरात् । तत्समीपइत्यर्थः । (गो०) २ करेणूनामृषभ । (शि०) * पाठान्तरे—"कुण्ठितः ।"

वन में रहने वाले लोग महाबाहु एवं लोकनाथ श्रीरामचन्द्र को अनाथ की तरह उठ कर जाते हुए देखेंगे ॥१८॥

सा नूनं जनकस्येष्टा सुता सुखसदोचिता ।
कण्टकाक्रमणाक्रान्ता वनमद्य गमिष्यति ॥१९॥

वह जनकदुलारी जो सदा निश्चय ही सुख भोगने योग्य है, वन में चलते समय अब उसके पैरों में काँटे चुभेंगे ॥१९॥

अनभिज्ञा वनानां सा नूनं भयमुपैष्यति ।
श्वापदानर्दितं श्रुत्वा गम्भीरं रोमहर्षणम् ॥२०॥

व्याघ्रादि वन पशुओं की गम्भीर और रोमाञ्चकारी गर्जन सुन कर, वनवास के भयो से अनभिज्ञ सीता, अवश्य ही बहुत डरेगी ॥२०॥

सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस ।
न हि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे ॥२१॥

हे कैकेयी ! तेरी मनसा पूरी हुई । तू अब विधवा हो कर राज्य कर, क्योंकि हम तो उस पुरुषसिंह के विना जीवित नहीं रह सकते ॥२१॥

इत्येवं विलपन् राजा जनौघेनाभिसंवृतः ।
अपस्नात[1] इवारिष्टं प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥२२॥

इस प्रकार महाराज विलाप करते करते लोगों के साथ वैसे ही नगर मे आए जैसे कोई मुरदनी में स्नान कर और दुःखित हो आता है ॥२२॥

---

१ अपस्नातः—मृतस्नातः । "अपस्नातो मृतस्नातः" । (अमरः) (गो०)

शून्यचत्वरवेश्मान्तां संवृतापणदेवताम् ।
क्लान्तदुर्बलदुःखार्तां नात्याकीर्णमहापथाम् ॥२३॥

नगरी में देखा तो चबूतरे और घर सूने पड़े थे, बाजार तथा देवालय बंद थे। बड़ी बड़ी सड़कों पर थके, दुर्बल और पीड़ित मनुष्य ही देख पड़ते थे ॥२३॥

तामवेक्ष्य पुरीं सर्वां राममेवानुचिन्तयन् ।
विलपन् प्राविशद्राजा गृहं सूर्य इवाम्बुदम् ॥२४॥

पुरी की दुर्दशा का इस प्रकार का दृश्य देखते हुए और श्रीराम का स्मरण कर के, विलाप करते हुए महाराज अपने भवन के भीतर उसी प्रकार गए, जिस प्रकार सूर्य मेघमण्डल में जाता है ॥२४॥

महाह्रदमिवाक्षोभ्यं सुपर्णेन हृतोरगम् ।
रामेण रहितं वेश्म वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥२५॥

जैसे गरुड़ जी द्वारा अपहृत सर्पों के अभाव में किसी बड़े तालाब के जल में खलबली नहीं होती—जल स्थिर हो जाता है, वैसे ही श्रीराम लक्ष्मण और सीता के वनवासी होने पर, राजभवन में स्तब्धता छाई हुई थी ॥२५॥

अथ गद्गदशब्दस्तु विलपन् मनुजाधिपः ।
उवाच मृदु मन्दार्थं वचनं दीनमस्वरम्[1] ॥२६॥

महाराज दशरथ ने भरे हुए कण्ठ से और अति क्षीण स्वर में, दीन भाव से, मृदु और अल्पार्थवाची ये वचन कहे ॥२६॥ —

---

१ अस्वरम्—कण्ठस्वररहित। (गो०)

कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माम् ।
न ह्यन्यत्र ममाश्वासो हृदयस्य भविष्यति ॥२७॥

जिस घर में राममाता कौसल्या रहती हैं, हमें उस घर में शीघ्र पहुँचा दो। क्योंकि अन्यत्र कहीं भी हमारा हृदय शान्त नहीं होगा ॥२७॥

इति ब्रुवन्तं राजानमनयन्द्वारदर्शिनः ।
कौसल्याया गृहं तत्र न्यवेशयत विनीतवत्[1] ॥२८॥

महाराज के यह कहने पर द्वारपालों ने उनको ले जा कर कौसल्या के घर में सेज पर लिटा दिआ ॥२८॥

ततस्तस्य प्रविष्टस्य कौसल्याया निवेशनम् ।
अधिरुह्यापि शयनं बभूव लुलितं[2] मनः ॥२९॥

कौसल्या जी के घर में पहुँचने और सेज पर लेटने पर भी, महाराज का मन चञ्चल ही बना रहा—(जैसा उन्होंने विचारा था सो बात न हुई अर्थात् हृदय शान्त न हुआ।) ॥२९॥

पुत्रद्वयविहीनं च स्नुषयाऽपि विवर्जितम् ।
अपश्यद्भवनं राजा नष्टचन्द्रमिवाम्बरम् ॥३०॥

श्रीराम-लक्ष्मण-विहीन और सीता रहित वह भवन, महाराज दशरथ को चन्द्रमाहीन आकाश की तरह बोध होने लगा ॥३०॥

---

१ विनीतवत्—पर्यङ्केन्यवेशयत । (रा०) २ लुलित—कलुषं । (रा०)—चञ्चलं । (शि०)

तच्च दृष्ट्वा महाराजो भुजमुद्यम्य वीर्यवान् ।
उच्चैः स्वरेण चुक्रोश हा राघव जहासि माम् ॥३१॥

उस समय अपने भवन को शोभारहित देख, पराक्रमी महाराज दशरथ दोनों हाथ ऊपर को उठा, उच्चस्वर से चिल्ला कर बोले—हे बेटा राम ! तुम हमको छोड़े जाते हो ॥३१॥

सुखिता बत तं कालं जीविष्यन्ति नरोत्तमाः ।
परिष्वजन्तो ये रामं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥३२॥

वे श्रेष्ठजन सुखी होंगे, जो उस समय तक जीवित रह कर, वन से लौट कर आए हुए श्रीराम को देखेंगे और उन्हें हृदय से लगावेंगे ॥३२॥

अथ रात्र्यां प्रपन्नायां[1] कालरात्र्यामिवात्मनः ।
अर्धरात्रे दशरथः कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥३३॥

महाराज दशरथ के लिए कालरात्रि के समान रात्रि होने पर आधी रात के समय वे कौसल्या से कहने लगे ॥३३॥

रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते ।
न त्वा पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश ॥३४॥

हे कौसल्ये ! हमें तू नहीं दिखलाई पड़ती । क्योंकि हमारी दृष्टि श्रीराम के पीछे चली गई है, वह अभी तक नहीं लौटी है । अतएव तू हमारा शरीर अपने हाथ से छू ॥३४॥

तं राममेवानुविचिन्तयन्तं
समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम् ।

[1] प्रपन्नायां—प्राप्तायां । (गो०)

उपोपविश्याधिकमार्तरूपा
विनिश्वसन्ती विललाप कृच्छ्रम् ॥३५॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

महाराज के इस प्रकार कहने पर, महारानी कौशल्या महाराज को श्रीराम के स्मरण में निमग्न देख, उनकी सेज के समीप बैठ गई और अत्यन्त दुःखी हो, ऊँची साँसे ले, वे महाविलाप करने लगीं ॥३५॥

अयोध्याकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

ततः समीक्ष्य शयने सन्नं शोकेन पार्थिवम्।
कौसल्या पुत्रशोकार्ता तमुवाच महीपतिम् ॥१॥

तदनन्तर पुत्र के वियोगजन्य शोक से विकल महारानी कौसल्या, सेज पर पड़े हुए और शोक से विह्वल महाराज दशरथ जी को देख, उनसे कहने लगीं ॥१॥

राघवे नरशार्दूले विषमुप्त्वा हिजिह्मगा[1]*।
विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेव[2] हि पन्नगी ॥२॥

हे राजन्! कुटिल चरित्रा कैकेयी श्रीरामचन्द्र के प्रति विष उगल, कैचुली छोड़ी हुए साँपिन की तरह विचरेगी ॥२॥

---

१ अविजिह्मगा—कुटिलचरित्रा। (रा०) २ निर्मुक्ता—त्यक्तकञ्चुकी।
(रा०) * पाठान्तरे—"विजिह्मताम्।"

विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा समाहिता ।
त्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेश्मनि ॥३॥

और श्रीरामचन्द्र को वन भेज और अपना मनचीता पा कर, दत्तचित्त हो, वह दुष्ट साँपिन की तरह घर में मुझे त्रास देगी ॥३॥

अथ स्म नगरे रामश्चरन् भैक्षं गृहे वसेत् ।
कामकारो[1] वरं दातुमपि दासं ममात्मजम् ॥४॥

यदि वह ऐसा वर माँगती कि, श्रीरामचन्द्र नगर मे रह कर भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह करें और घर मे बने रहें अथवा कैकेयी उन्हें अपना दास ही बना लेती, तो भी इस वनवास से अच्छा था ॥४॥

पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानाद्यथेष्टतः ।
प्रदिष्टो रक्षसां भागः पर्वणीवाहिताग्निना ॥५॥

अग्निहोत्र करने वाले, जिस प्रकार पर्वकाल में, राक्षसों का भाग निकाल कर, फेंक देते हैं, वैसे ही कैकेयी ने अपनी इच्छानुसार श्रीरामचन्द्र को यहाँ से निकलवाया ॥५॥

[टिप्पणी—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि, राक्षसों को जो यज्ञभाग दिया जाता है, उसे राक्षस खा डालते हैं, श्रीरामचन्द्र को वन मे भेजने से वहाँ राक्षस उनको खा डालेंगे अब फिर उनका मुख देखना नसीब न होगा । (गो०)]

गजराजगतिर्वीरो महाबाहुर्धनुर्धरः ।
वनमाविशते नूनं सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥६॥

---

1 कामकारइष्टमेव । (रा०)

अब तो गजेन्द्र के समान गमन करने वाले वीर, महाबाहु और धनुर्धर श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मण के साथ वन में पहुँच गए होंगे ॥६॥

वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यानुमते त्वया ।
त्यक्तानां वनवासाय का न्ववस्था भविष्यति ॥७॥

देखो, जिन्होंने कभी दुःख देखा सुना ही नहीं, उनको तुमने कैकेयी की बातों में आ, वन में भेज दिया। ज़रा विचारो तो उनकी अब क्या दशा होगी ? ॥७॥

ते रत्नहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः ।
कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः ॥८॥

उनके पास कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है। यह तरुण अवस्था उनकी राजसुख भोगने की थी; किन्तु ऐसे समय वे वन में भेज दिए गए हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि, वे बेचारे कन्दमूल फलादि खा कर वन में कैसे निर्वाह कर सकेंगे ॥८॥

अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः ।
सभार्यं यत्सह भ्रात्रा पश्येयमिह राघवम् ॥९॥

क्या मेरे भाग्य में कभी ऐसी भी कोई शुभ घड़ी देखना लिखा है, जब मैं लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र को यहाँ आया हुआ देखूँ और मेरे इस शोक का अन्त हो ॥९॥

सुप्त्वैवोपस्थितौ वीरौ कदाऽयोध्यां गमिष्यतः ।
यशस्विनी हृष्टजना सूच्छ्रितध्वजमालिनी ॥१०॥

अहो वह शुभ घडी कब आवेगी जब यह प्रसिद्ध अयोध्यापुरी, श्रीरामचन्द्र का पुरी के समीप आना सुन और हर्षित जनों से युक्त हो, बड़ी बड़ी ध्वजा पताकाओ और मालाओं से सजायी जायगी ॥१०॥

कदा प्रेक्ष्य नरव्याघ्रावरण्यात्पुनरागतौ ।
नन्दिष्यति पुरी हृष्टा समुद्र इव पर्वणि ॥११॥

अहो वह शुभ घडी कब देखने को मिलेगी, जब उन दोनों नर श्रेष्ठों का प्रत्यागमन सुन, यह नगरी उसी प्रकार हर्षित होगी, जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन समुद्र हर्षित होता है ॥११॥

कदाऽयोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति ।
पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव ॥१२॥

जिस प्रकार वृषभ गोधूलि के समय गौ को आगे कर बस्ती में आता है, उसी प्रकार महाबाहु एवं वीर श्रीरामचन्द्र जी सीता को रथ में आगे बैठा, कब अयोध्यापुरी मे प्रवेश करेंगे ॥१२॥

कदा प्राणिसहस्राणि राजमार्गे ममात्मजौ ।
लाजैरवकिरिष्यन्ति प्रविशन्तावरिन्दमौ ॥१३॥

किस दिन शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीरामलक्ष्मण को नगर मे प्रवेश करते देख, सडको पर खड़े सहस्रों जन, उन पर खीलों (लावा) की वर्षा करेंगे ॥१३॥

प्रविशन्तौ कदाऽयोध्यां द्रक्ष्यामि शुभकुण्डलौ ।
उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ[१] सशृङ्गाविव पर्वतौ ॥१४॥

---

[१] उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ—आयुधशब्देन नात्र धनुरुच्यते । निस्त्रिंशः खड्गः । "खड्गेतु निस्त्रिंशः" इत्यमरः । (गो०)

वह शुभ दिन कब आवेगा, जब मैं देखूँगी कि, मेरे दो पुत्ररत्न कानों में कुण्डल पहिने हुए और शृङ्गयुक्त पर्वतों के तुल्य खड्गादि शस्त्रों को लिए हुए अयोध्या में प्रवेश कर रहे हैं ॥१४॥

कदा सुमनसः कन्या द्विजातीनां फलानि च ।
प्रदिशन्त्यः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणम् ॥१५॥

किस दिन जानकी सहित दोनों राजकुमार कन्याओं और ब्राह्मणों के दिए हुए फूलफलों को ग्रहण कर और प्रसन्न होते हुए, पुरी की प्रदक्षिणा करेंगे ? ॥१५॥

[टिप्पणी—यह उस समय का उत्तरभारतवासियों में प्रचलित मङ्गलाचार का एक विधान है ।]

कदा परिणतो बुद्ध्या[1] वयसा[2] चामरप्रभः ।
अभ्युपैष्यति धर्मज्ञस्त्रिवर्ष इव लालयन् ॥१६॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ज्ञानवृद्ध और तरुण (२५ वर्ष के) होने पर भी, तीन वर्ष के बालक की तरह खेलते हुए मेरे पास कब आवेंगे ! ॥१६॥

निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया[3] ।
पातुकामेषु[4] वत्सेषु मातॄणां शातिताः[5] स्तनाः ॥१७॥

---

१ बुद्ध्यापरिणतः—ज्ञानवृद्धः । (गो०) २ वयसा—चामरप्रभः पञ्चविंशतिवर्षइत्यर्थः । अमराहिसदापञ्चविंशति वर्षाः । (गो०) ३ कदर्यया—क्षुद्रया । (गो०) ४ पातुकामेषु—स्तन्यपानकामेषु । (गो०) ५ शातिताः—कृत्ताः । (रा०)

मुझे निश्चय बोध होता है कि, मैंने किसी पूर्वजन्म मे नीचता वश, बच्चों के दूध पीने के समय, उनकी माताओं के स्तन काट डाले थे ॥१७॥

साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता ।
कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्बलात् ॥१८॥

हे पुरुषसिंह ! इसीसे तो कैकेयी ने मुझे पुत्रवत्सला को उसी प्रकार विना पुत्र का बना दिया, जिस प्रकार सिंह, छोटे बच्चे वाली गौ के बच्चे को बरजोरी ले जा कर, गौ को बेबच्चेवाली कर देता है ॥१८॥

न हि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीवितुमुत्सहे ॥१९॥

श्रीरामचन्द्र मेरा एकमात्र पुत्र है। परन्तु वह एकमात्र पुत्र सर्वशास्त्रविशारद है और जितने अच्छे गुण हैं, वे सब उसमे हैं। अत. ऐसे पुत्र के विना मैं जीती नहीं रह सकती ॥१९॥

न हि मे जीविते किञ्चित्सामर्थ्यमिह कल्प्यते[1] ।
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं महाबाहुं महाबलम् ॥२०॥

महाबाहु और महाबली अपने प्यारे पुत्र को देखे विना, मुझ में जीवित रहने की सामर्थ्य नहीं है ॥२०॥

अयं हि मां दीपयते[2] समुत्थितः
तनूजशोकप्रभवो हुताशनः ।

---

१ कल्प्यतेदैवेनेतिशेष. । (गो०) २ दीपयते—सन्तापयति । (गो०)

महीमिमां रश्मिभिरुद्धतप्रभो[1]
यथा निदाघे भगवान्दिवाकरः ॥२१॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

पुत्र-वियोग-जन्य-शोक-रूपी आग, मुझे उसी प्रकार सन्तप्त कर रही है, जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में भगवान् सूर्य की प्रखर किरणें इस पृथिवी को तप्त करती हैं ॥२१॥

अयोध्याकाण्ड का तैतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम्।
इदं धर्मे[2]*स्थिता धर्म्यं[3] सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

सब रानियों में श्रेष्ठ कौसल्या जी को इस प्रकार विलाप करते देख, धर्मशीला सुमित्रा जी धर्मयुक्त वचन बोली ॥१॥

तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः पुत्रः स पुरुषोत्तमः।
किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥२॥

आपका पुत्र तो गुणवान और पुरुषश्रेष्ठ है। अतः उसके लिए तुम दीन हो कर, क्यों इतना विलाप और रुदन करती हो ॥२॥

---

१ उद्धतप्रभः—उत्कटकिरणः। (गो०) २ धर्मेस्थिता—सुमित्रा। (शि०) ३ धर्म्यं—धर्मादनपेतः। (शि०) * पाठान्तरे—"धर्म्ये"।

यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः ।
साधु[1] कुर्वन् महात्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥३॥

हे आर्ये ! आपके पुत्र श्रीराम राज्य छोड़ कर, जो वन को गए हैं, सो केवल अपने महात्मा पिता के साधु सङ्कल्प को पूरा करने तथा उन्हें सत्यवादी सिद्ध करने के लिए गए हैं ॥३॥

शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत्प्रेत्यफलोदये[2] ।
रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन ॥४॥

श्रीरामचन्द्र ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर, शिष्ट पुरुषोचित आचरण इसलिए किया है, जिससे महाराज का परलोक बने। अतएव धर्ममार्ग पर स्थित एवं श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र के वनगमन के लिए आप कभी दुःखी न हों ॥४॥

वर्तते[3] चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन् सदाऽनघः ।
दयावान्सर्वभूतेषु [4]लाभस्तस्य[5] महात्मनः ॥५॥

सब प्राणियों पर दया रखने वाले लक्ष्मण के लिए भी आप दुःखी न हों—क्योंकि वह तो पिता के समान अपने बड़े भाई की सेवा शुश्रूषा करने के लिए श्रीरामचन्द्र के साथ गया है। इससे तो उस महात्मा (लक्ष्मण) का सब प्रकार लाभ ही है ॥५॥

अरण्यवासे यद्दुःखं जानती वै सुखोचिता ।
अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥६॥

---

१ साधु—सिद्धसङ्कल्पकुर्वन्गतः । (रा०) २ प्रेत्यफलोदये—दशरथस्य परलोकहिते । (गो०) ३ उत्तमावृत्ति—पितृतुल्य शुश्रूषाव्यापारं वर्तयते । (रा०) ४ लाभः—सुखमेव । (रा०) ५ तस्य—लक्ष्मणस्य । (गो०)

(अकेला लक्ष्मण ही श्रीरामचन्द्र के साथ वन गया हो, सो बात भी नहीं है, प्रत्युत) सुकुमारी जानकी भी वन के कष्टों को जान जान कर भी आपके धर्मात्मा पुत्र की अनुगामिनी बनी है ॥६॥

कीर्त्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः[1] ।
धर्मसत्यव्रतधनः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥७॥

सब प्राणियो का पालन करने वाले आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र, जिनकी यशपताका तीनो लोकों में फहरा रही है, (इसलिए कि उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन करने के सामने राज्य को तृणवत् त्याग दिआ) और धर्म का पालन और सत्यव्रत धारण ही जिनका धन है, उनका वनगमन सब प्रकार से कल्याणकारक ही है, (अतः आप उनके लिए दुःखी न हों) ॥७॥

[वनगमन के बाद वन के कष्टों के सम्बन्ध में सुमित्रा जी कौशल्या को इस प्रकार सान्त्वना प्रदान करती हैं ।]

व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं[2] माहात्म्यमुत्तमम्[3] ।
न गात्रमंशुभिः सूर्यः सन्तापयितुमर्हति ॥८॥

श्रीरामचन्द्र की पवित्रता और उनकी श्रेष्ठता देख, भगवान् सूर्य अपनी किरणों से उनके शरीर को उतप्त नहीं कर सकते ॥८॥

शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः ।
राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥९॥

---

१ प्रभुः—सर्वभूतपालकोदयया । (रा०) २ शौच—त्रिविधकरण शुचित्व । (गो०) ३ माहात्म्यं सर्वोत्तमत्व । (गो०)

वसन्तादि ऋतुओं मे, ऋतु के अनुसार मङ्गलरूप वन का पवन, ठंडा और गर्म होकर श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करेगा। अर्थात् गर्मियो मे ठंडी हवा और जाड़ों मे गर्म हवा हो जायगी ॥९॥

शयानमनघं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन् ।
रश्मिभिः संस्पृशञ्शीतैश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति ॥१०॥

पापरहित श्रीरामचन्द्र जब रात मे सोवेंगे, तब चन्द्रदेव पिता की तरह अपनी शीतल किरणों से उन्हें आह्लादित करेंगे ॥१०॥

ददौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा[1] महौजसे ।
दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा [2]तिमिध्वजसुतं रणे ॥११॥

फिर जिन श्रीरामचन्द्र को ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने शंबर के पुत्र सुबाहु का रण मे मारा जाना देख, अनेक दिव्यास्त्र दिए हैं ॥११॥

स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः ।
असंत्रस्तोऽप्यरण्यस्थो वेश्मनीव निवत्स्यति ॥१२॥

वे आपके शूर एवं पुरुषसिंह पुत्र अपने बाहुबल के सहारे भय रहित हो, वन मे उसी प्रकार रहेंगे जिस प्रकार कोई अपने घर में निर्भय हो रहता हो ॥१२॥

---

१ ब्रह्मा—ब्राह्मणो विश्वामित्रः ब्रह्मेव सृष्टिकर्त्तावा। (रा०) २ तिमिध्वजः शंबरः तत्सुतः सुबाहुः। (रा०)

* भूषणटीकाकार लिखते हैं कि, जान पड़ता है किसी समय श्रीरामचन्द्र ने दण्डकवन में जा और वैजयन्तपुर को घेर महाराज दशरथ के शत्रु शंबर के पुत्र को मारा था। इस पर प्रसन्न हो ब्रह्माजी ने श्रीरामचन्द्रजी को कुछ दिव्यास्त्र दिए थे। यदि यह बात ठीक है, तो श्लोक ११ के अर्थ में ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की जगह "ब्रह्मा" होगा।

यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः ।
कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हसि ॥१३॥

जिनके बाण के लक्ष्य होने पर शत्रुओं का नाश हो जाता है, उनके शासन में यह पृथिवी क्यों न रहेगी ॥१३॥

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता[1] ।
निवृत्तारण्यवासः स क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥१४॥

जिन श्रीरामचन्द्र में श्री, शौर्य और प्रशस्त बल है, वे वनवास की अवधि समाप्त कर, शीघ्र अपने राज्य को पावेंगे ॥१४॥

सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्तिः कीर्त्याः क्षमाक्षमा ॥१५॥

दैवतं दैवतानां च भूतानां भूतसत्तमः[2] ।
तस्य के ह्यगुणा[3] देवि राष्ट्रे वाप्यथ वा पुरे ॥१६॥

हे देवि ! जो सकल जगत को प्रकाशित करने वाले सूर्य को प्रकाशित करता है, जो अग्नि में दहनशक्ति उत्पन्न करता है, जो सब नियंत्रण करने वालों का भी नियन्ता है, जो कान्ति की भी कान्ति है, जो कीर्ति की भी कीर्ति है, जो क्षमा भी क्षमा है, जो देवताओं का भी देव है और जो प्राणियो में सर्वोत्तम प्राणी है—वह चाहे वन में रहे अथवा नगर में, उसके लिए कहीं किसी प्रकार की प्रतिवन्धकता नहीं है ॥१५॥१६॥

---

१ कल्याणसत्त्वता—प्रशस्तवलयुक्तता । (गो०) २ भूतानाभूतसत्तमः—उत्तमभूतमित्यर्थः । (गो०) ३ अगुणः—प्रतिवन्धकीभूत । (गो०)

पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः ।
क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यति ॥१७॥

ऐसे पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र, पृथिवी, सीता और विजयलक्ष्मी इन तीनों सहित शीघ्र राज्य पावेंगे ॥१७॥

दुःखजं विसृजन्त्यास्रं निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम् ।
अयोध्यायां जनाः सर्वे शोकवेगसमाहताः ॥१८॥

जिन श्रीरामचन्द्र को अयोध्या से जाते हुए देख, अयोध्यावासी सब जनो ने शोक से विह्वल हो, दुःखजनित आँसू बहाए, (वे श्रीरामचन्द्र) शीघ्र ही अयोध्या के राजसिंहासन पर अभिषिक्त होंगे ॥१८॥

कुशचीरधरं देवं गच्छन्तमपराजितम् ।
सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥१९॥

जो किसी से न जीते जाने योग्य हो कर भी, कुशचीर धारण कर वन को गए और जिनके पीछे पीछे साक्षात् लक्ष्मीरूपिणी सीता गई—उनके लिए संसार में कौन सी वस्तु दुर्लभ है ? ॥१९॥

धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्रभृत्स्वयम् ।
लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥२०॥

और जिसके आगे आगे धनुषबाण और खड्ग लिए हुए स्वयं लक्ष्मण चलते हैं, उनके लिए क्या दुर्लभ है ॥२०॥

निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम् ।
जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते ॥२१॥

हे देवि! आप शोक और मोह को त्याग दें। मैं सत्य कहती हूँ कि, वनवास से लौटे हुए श्रीरामचन्द्र को आप देखेंगी ॥२१॥

शिरसा चरणावेतौ वन्दमानमनिन्दिते।
पुनर्द्रक्ष्यसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम् ॥२२॥

हे अनिन्दिते! हे कल्याणी! आप अपने चरणों में माथा नवा कर प्रणाम करते हुए पुत्र को उदय हुए चन्द्रमा की तरह फिर देखेंगी ॥२२॥

पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमभिषिक्तं महाश्रियम्।
समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां क्षिप्रमानन्दजं पयः ॥२३॥

आप फिर अयोध्या में आए हुए अभिषिक्त और राजलक्ष्मी को प्राप्त अपने पुत्र को देख, शीघ्र ही आनन्दाश्रु बहावेंगी ॥२३॥

मा शोको[1] देवि दुःखं[2] वा न रामे दृश्यतेऽशिवम्।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं* ससीतं सहलक्ष्मणम् ॥२४॥

हे देवि! आप न तो विलाप करें और न अपने मन ही को व्यथित करें। क्योंकि श्रीरामचन्द्र के विषय में कुछ भी तो अमङ्गल नहीं दीख पड़ता। आप अपने पुत्र को सीता और लक्ष्मण सहित शीघ्र देखेंगी ॥२४॥

त्वयाशेषो जनश्चैव समाश्वास्यो यदाऽनघे।
किमिदानीमिमं देवि करोषि हृदि विक्लवम् ॥२५॥

---

१ शोक—प्रलापादि। (गो०) २ दुःख—मनोव्यथा। (गो०)

* पाठान्तरे—"तं"।

हे अनघे ! हे देवि ! आपको तो यह उचित है कि, अन्य लोगों को धीरज बँधाए, सो आप इस समय (स्वयं) क्यो (अपने ही) हृदय को पीड़ा दे रही हैं ॥२५॥

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः ।
न हि रामात्परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥२६॥

हे देवि ! आप शोक करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इस लोक मे श्रीरामचन्द्र से बढ़ कर सुमार्ग पर चलने वाला अर्थात् धर्म पालन करने वाला अन्य कोई भी नहीं है ॥२६॥

अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम् ।
मुदाऽश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघलेखेव वार्षिकी ॥२७॥

जब श्रीरामचन्द्र वन से लौट सुहृदो सहित आपको प्रणाम करेंगे, तब उनको देख आप उसी प्रकार आनन्दाश्रु गिरावेगी. जिस प्रकार मेघमाला जल बरसाती है ॥२७॥

पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्यां पुनरागतः ।
पाणिभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति ॥२८॥

अधिक तो मैं आपको क्या अब समझाऊँ , इतना फिर भी कहती हूँ कि, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र शीघ्र अयोध्यापुरी में लौट कर, कोमल और मांसल हाथों से आपके चरण दबावेगे ॥२८॥

अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम् ।
मुदाऽस्रैः* प्रोक्ष्यसि[1] पुनर्मेघराजिरिवाचलम् ॥२९॥

---

१ प्रोद्यसे—उत्स्मेचने वर्तमान सामीप्येलट् । (रा०) * पाठान्तरे—" प्रोक्षसि । "

उस समय आप अपने पुत्र को मित्रों सहित प्रणाम करते देख, उसे अपने आनन्दाश्रुओं से भिगोवेंगी, जैसे मेघ अपने जल से पर्वतों को भिगोते हैं ॥२६॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यै-
र्वाक्योपचारे कुशलाऽनवद्या ।
रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा
देवी सुमित्रा विरराम रामा[1] ॥३०॥

इस प्रकार रमणीया सुमित्रा, जो निन्दा रहित और बातचीत करने में निपुण थीं, तरह तरह के वचनों से महारानी कौसल्या जी को समझा कर चुप हो गई ॥३०॥

निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं
रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः ।
सद्यः शरीरे विननाश शोकः
शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः ॥३१॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

महाराज की पटरानी और श्रीराम की जननी कौसल्या लक्ष्मण जी की माता सुमित्रा की इन बातों को सुन कर, शान्त हुई और उनके शरीर का शोक उसी प्रकार नष्टप्राय हो गया. जिस प्रकार शरदकालीन अल्प जल वाले मेघों का जल नष्टप्राय हो जाता है ॥३१॥

अयोध्याकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

१ रामा—रमणीया । (रा०)

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः ॥१॥

वनवास के लिए जाते हुए महात्मा एवं सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी के पीछे लगे हुए पुरवासी उनमें अनुरक्त हो गए ॥१॥

निवर्तितेऽपि च बलात्सुहृद्वर्गे च राजनि ।
नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम् ॥२॥

यद्यपि महाराज दशरथ और उनके सुहृद्वर्ग, (जिसको शीघ्र बुलाना हो उसके पीछे दूर तक न जाय—मन्त्रियों के मुख से यह सुन कर) लौट आए थे, तथापि जो पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी के रथ के पीछे पीछे जा रहे थे, वे नहीं लौटे ॥२॥

अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः ।
बभूव गुणसम्पन्नः पूर्णचन्द्र इव प्रियः ॥३॥

क्योंकि महायशस्वी अयोध्यावासी समस्त जनों को गुणवान श्रीरामचन्द्र पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान प्यारे थे ॥३॥

स याच्यमानः काकुत्स्थः स्वाभिः प्रकृतिभिस्तदा ।
कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत ॥४॥

वे सब लोग श्रीरामचन्द्र जी से अयोध्या लौट चलने की बार बार प्रार्थना कर रहे थे, किन्तु श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता को सत्यवादी सिद्ध करने के लिए वन ही की ओर चले जाते थे ॥४॥

उस समय आप अपने पुत्र को मित्रों सहित प्रणाम करते देख, उसे अपने आनन्दाश्रुओं से भिगोवेंगी, जैसे मेघ अपने जल से पर्वतों को भिगोते हैं ॥२९॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यै:
वाक्योपचारे कुशलाऽनवद्या ।
रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा
देवी सुमित्रा विरराम रामा[1] ॥३०॥

इस प्रकार रमणीया सुमित्रा, जो निन्दा रहित और बातचीत करने में निपुण थीं, तरह तरह के वचनो से महारानी कौसल्या जी को समझा कर चुप हो गई ॥३०॥

निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं
रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्या: ।
सद्य: शरीरे विननाश शोक:
शरद्गतो मेघ इवाल्पतोय: ॥३१॥

इति चतुश्चत्वारिंश: सर्ग: ॥

महाराज की पटरानी और श्रीराम की जननी कौसल्या लक्ष्मण जी की माता सुमित्रा की इन बातों को सुन कर, शान्त हुई और उनके शरीर का शोक उसी प्रकार नष्टप्राय हो गया, जिस प्रकार शरदकालीन अल्प जल वाले मेघों का जल नष्टप्राय हो जाता है ॥३१॥

अयोध्याकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

---

१ रामा—रमणीया । (रा०)

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।

अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः ॥१॥

वनवास के लिए जाते हुए महात्मा एवं सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी के पीछे लगे हुए पुरवासी उनमें अनुरक्त हो गए ॥१॥

निवर्तितेऽपि च बलात्सुहृद्वर्गे च राजनि ।

नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम् ॥२॥

यद्यपि महाराज दशरथ और उनके सुहृद्वर्ग, (जिसको शीघ्र बुलाना हो उसके पीछे दूर तक न जाय—मन्त्रियों के मुख से यह सुन कर) लौट आए थे, तथापि जो पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी के रथ के पीछे पीछे जा रहे थे, वे नहीं लौटे ॥२॥

अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः ।

बभूव गुणसम्पन्नः पूर्णचन्द्र इव प्रियः ॥३॥

क्योंकि महायशस्वी अयोध्यावासी समस्त जनों को गुणवान श्रीरामचन्द्र पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान प्यारे थे ॥३॥

स याच्यमानः काकुत्स्थः स्वाभिः प्रकृतिभिस्तदा ।

कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत ॥४॥

वे सब लोग श्रीरामचन्द्र जी से अयोध्या लौट चलने की बार बार प्रार्थना कर रहे थे, किन्तु श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता को सत्यवादी सिद्ध करने के लिए वन ही की ओर चले जाते थे ॥४॥

अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव ।
उवाच रामः स्नेहेन ताः प्रभाः स्वाः प्रजा इव ॥५॥

वे लोग श्रीराम की ओर उसी प्रकार (बड़ी उत्कंठा से) देखते थे, जैसे प्यासा जल को देखता है। (अपने में ऐसा अनुराग देख) श्रीरामचन्द्र बड़े प्यार से उन लोगों से वैसे ही बोले जैसे पिता अपने पुत्रों से बोलता है ॥५॥

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा निवेश्यताम् ॥६॥

हे अयोध्यावासियो! तुम लोगों की जैसी प्रीति मुझमें है और जैसा आदर तुम लोग मेरा करते हो, मेरी प्रसन्नता के लिए, इससे भी अधिक प्रीति और आदर तुम लोग भरत के प्रति प्रदर्शित करना ॥६॥

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः ।
करिष्यति यथावद्वः प्रियाणि च हितानि च ॥७॥

कैकेयीनन्दन भरत जी चरित्रवान् हैं, वे अवश्य ही तुम्हारे लिए यथोचित हितकर और प्रिय कार्य करेंगे ॥७॥

ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः ।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥८॥

भरत जी अवस्था में छोटे होने पर भी बड़े ज्ञानवान हैं। वे बड़े कोमल चित्त के हैं, साथ ही बड़े पराक्रमी भी हैं। इनके अतिरिक्त उनमें वात्सल्यादि और भी अनेक सद्गुण हैं। वे सब प्रकार से योग्य हैं। उनके राजा होने पर तुम्हें किसी बात का खटका नहीं रहेगा ॥८॥

स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः[१] ।
अपि* चैव मया शिष्टैः[२] कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥९॥

उनको राजोचित गुणों से युक्त देख कर, महाराज ने उनको युवराज पद देना निश्चित किया है। अतः हम सब को राजा के आज्ञानुसार चलना चाहिए ॥९॥

न च तप्येद्यथा चासौ वनवासं गते मयि ।
महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥१०॥

मेरे वन जाने पर मेरी प्रसन्नता के लिए तुम लोगों को वह काम करना चाहिए, जिससे महाराज को कष्ट न हो अथवा यदि तुम मेरे प्रिय बनना चाहो, तो ऐसा करना जिससे मेरी अनुपस्थिति में महाराज को कष्ट न हो ॥१०॥

[सो सब भाँति मोर हितकारी ।
जाते रहैं भुआल सुखारी ॥

तुलसीदास जी की यह चौपाई इसी श्लोक का भाव लेकर लिखी गई है ।

यथा यथा दाशरथिर्धर्म एव स्थितोऽभवत् ।
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन् ॥११॥

उस समय श्रीरामचन्द्र ज्यों-ज्यों पितृ-वचन-पालन-रूपी धर्म में दृढ़ता प्रदर्शित करते थे, त्यों त्यों पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी ही को अपना राजा होने की इच्छा करते थे ॥११॥

बाष्पेण पिहितं दीनं रामः सौमित्रिणा सह ।
चकर्षेव गुणैर्बध्वा जनं पुरनिवासिनम् ॥१२॥

---

१ समीक्षितः—निश्चितः । (शि०) २ शिष्टै.—अवशिष्टै लक्ष्मणशत्रुघ्नादिभिः । (गो०) * पाठान्तरे चाऽपं ।

उस समय लक्ष्मण जी सहित श्रीरामचन्द्र जी ने रुदन करते हुए दुःखी पुरवासियों का मानों डोरी में बाँध, अपनी ओर खींच लिया अथवा अपने अधीन कर लिआ ॥१२॥

ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा[1] ।
वयःप्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः ॥१३॥

उन लोगों में तीन प्रकार के वृद्ध ब्राह्मण थे, अर्थात् उनमें से कोई तो वयोवृद्ध कोई ज्ञानवृद्ध और कोई तपोवृद्ध था। इनमें से जो वयोवृद्ध थे और वृद्धावस्था के कारण जिनका सिर काँप रहा था, वे दूर से यह वचन बोले ॥१३॥

वहन्तो जवना रामं भो भो [2]जात्यास्तुरङ्गमाः ।
निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि ॥१४॥

हे वेगवान एवं अच्छी जाति के घोड़ो! लौटो लौटो, अब आगे मत बढ़ो और श्रीरामचन्द्र का हित करो (अर्थात् हम बूढ़ो की आज्ञा का उल्लघन करने से श्रीरामचन्द्र का अहित होगा।) ॥१४॥

कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरङ्गमाः ।
यूयं तस्मान्निवर्तध्वं याचनां प्रतिवेदिताः ॥१५॥

जीवधारी मात्र के कान होते हैं (अर्थात् उनमे सुनने की शक्ति होती है) किन्तु घोड़े सब से अधिक सुनते हैं, अतः तुम हमारी यह प्रार्थना सुनो और लौट आओ ॥१५॥

धर्मतः स विशुद्धात्मा वीरः शुभदृढव्रतः ।
उपवाह्यस्तु वो भर्ता नापवाह्यः पुराद्वनम् ॥१६॥

---

१ ओजसा—तपोबलेन। (गो०) २ जात्या—उत्तमजातीयाः। (रा०)

हम लोग जानते हैं कि, तुम्हारे स्वामी का मन सरल एवं कोमल है, वे वीर हैं और शुभ एवं दृढ़ व्रतधारी हैं। इसलिए इनको अयोध्या पहुँचाना चाहिए, न कि अयोध्या से वन को ले जाना चाहिए ॥१६॥

एवमार्तप्रलापांस्तान् वृद्धान् प्रलपतो द्विजान्।
अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह ॥१७॥

जब उन बूढ़े ब्राह्मणों के, जो बड़े कातर हो रहे थे, ऐसे वचन सुने और उन्हें पीडित देखा, तब श्रीरामचन्द्र जी रथ खड़ा करवा कर, उससे झट उतर पड़े ॥१७॥

पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः।
सन्निकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः ॥१८॥

और सीता लक्ष्मण सहित पैदल वन की ओर चलने लगे और जब तक वे सब लोग समीप न पहुँच गए, तब तक ये तीनो धीरे-धीरे चलते रहे ॥१८॥

द्विजातींस्तु पदातींस्तान्रामश्चारित्रवत्सलः।
न शशाक [1]घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ॥१९॥

क्योंकि सदाचारयुक्त एव दयालु श्रीरामचन्द्र को उन पैदल चले आते हुए ब्राह्मणो को रथ से दूर रखना इष्ट न था ॥१९॥

गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं संभ्रान्तचेतसः।
ऊचुः परमसन्तप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥२०॥

---

१ घृणाचक्षुः—दयासूचकदृष्टिमान्। (रा०) दयार्द्रचक्षुरित्यर्थ. (गो०)

'जब ब्राह्मणों ने देखा कि, प्रार्थना करने पर भी श्रीरामचन्द्र नहीं लौटे और बन को चले ही जाते हैं, तब तो वे अत्यन्त विकल और शोकसन्तप्त हो श्रीरामचन्द्र से यह बोले ॥२०॥

ब्राह्मण्यं[1] कृत्स्नमेतत्त्वां [2]ब्रह्मण्यमनुगच्छति ।
द्विजस्कन्धाधिरूढा[3] स्त्वामग्नयोऽप्यनुयान्त्यमी ॥२१॥

हे राम ! तुम ब्राह्मणों के हितकारी हो । इसीसे तुम्हारे पीछे यह अखिल ब्राह्मण समूह ही केवल नहीं आ रहा, प्रत्युत उनके कंधों पर चढ़े हुए अग्निदेव भी तुम्हारे पीछे आ रहे हैं । (अर्थात् ब्राह्मण लोग तुम्हारे साथ चलने का निश्चय कर, घर से अग्निहोत्र का सामान अरणि आदि ले कर चले हैं । "अग्निदेव" से अभिप्राय उन अरणि लकड़ियों से है जिनको आपस में घिसने से यज्ञाग्नि उत्पन्न होता है) ॥२१॥

बाजपेयसमुत्थानि[4] छत्राण्येतानि पश्य नः ।
पृष्ठतोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्यये ॥२२॥

देखिए, वाजपेय यज्ञ करने से जो छत्र प्राप्त हुए हैं, (अर्थात् वाजपेय यज्ञ करने से जिन छत्रों को लगाने का हमको अधिकार प्राप्त हुआ है ।) और जो शरत्कालीन मेघ के समान हैं वे सब भी आपके पीछे चले आ रहे हैं ॥२२॥

अनवाप्तातपत्रस्य रश्मिसन्तापितस्य ते ।
एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयिकैः ॥२३॥

---

१ ब्राह्मण्य—ब्राह्मणसमूहः । (गो०) २ ब्रह्मण्य—ब्रह्महित (रा०) ३ द्विजस्कन्धाधिरूढाः—पात्रारणिगतद्वारेणेतिशेष. । (रा०) ४ वाजपेयसमुत्थानि—वाजपेयानुष्ठान संभृतानि । (गो०)

वाजपेय यज्ञ से प्राप्त हुए इन छत्रों से हम लोग तुम्हारे ऊपर छाया करेंगे, जिससे छत्ररहित तुमको घाम से कष्ट न हो ॥२३॥

या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी ।
त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी ॥२४॥

हे वत्स ! हमारा मन अभी तक केवल वेद के स्वाध्याय ही की ओर लगा रहता था, किन्तु अब उस ओर न लग, आपकी वनयात्रा की ओर लगा हुआ है। (श्रीरामचन्द्र जी से यह कह ब्राह्मण लोग उन पर बड़ा दबाव डालते हैं, अर्थात् तुम्हारे पीछे हमने स्वाध्याय त्याग दिआ है)। यदि तुम कहो कि तुम लोग घर का क्या प्रबन्ध कर आए हो और तुम्हारी स्त्रियाँ कैसे रहेंगी, तो ब्राह्मण इस शङ्का की निवृत्ति करते हुए कहते हैं) ॥२४॥

हृदयेष्वेव तिष्ठन्ति वेदा ये नः परं धनम् ।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥२५॥

हमारा परम धन जो वेद है, वह तो हमारे हृदय में है (अर्थात् हमारे पीछे चोरी होने का हमे भय नहीं है) और हमारी स्त्रियाँ अपने अपने पातिव्रत्य से अपनी रक्षा करती हुई, घरों में रहेंगी (अर्थात् घर की रक्षा स्त्रियाँ करती रहेंगी) ॥२५॥

न पुनर्निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः ।
त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद्धर्ममपेक्षितुम् ॥२६॥

हमें अब और किसी बात का निश्चय नहीं करना, क्योंकि हम तो तुम्हारे साथ चलना निश्चित कर चुके हैं। (अर्थात् हम तो घर का सब प्रबन्ध कर, यह दृढ निश्चय कर के चले हैं कि, हम तुम्हारे साथ रहेंगे) किन्तु जब तुम हमारी आज्ञा का उल्लंघन

कर धर्म की उपेक्षा करोगे, तब धर्ममार्ग पर चलना क्या कहलावेगा? (अर्थात् तुम्हारी देखादेखी और लोग भी ब्राह्मणों का कहना न मानेंगे और ब्राह्मणों का कथन न मानने से अधर्म होगा) ॥२६॥

याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः[१] ।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः[२] ॥२७॥

हे राम! अब हम अधिक क्या कहें, हम हंस के समान सफेद बालों वाले (अर्थात् अत्यन्त बूढ़े होकर भी) तुमको साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं कि, तुम वन को न जाओ। (ब्राह्मण हो कर क्षत्रिय राजकुमार को साष्टाङ्ग प्रणाम करना, केवल विशेष रूप से दबाव डालना मात्र है। किन्तु भूषण टीकाकार का मत है कि, ब्राह्मण दिव्य दृष्टि वाले थे, अतः श्रीरामचन्द्र को राजकुमार समझ कर नहीं, किन्तु उनको साक्षात् परमेश्वरावतार समझ कर उन लोगों ने प्रणाम किया था। रामाभिरामी टीकाकार का मत है कि—"राज्ञो विष्णवंशत्वेन नतौ न दोष इत्याहुः।") ॥२७॥

बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः ।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥२८॥

इन ब्राह्मणों में ऐसे भी कई एक हैं जो आरम्भ किए हुए यज्ञों को अधूरा छोड़ कर तुम्हारे साथ चले आए हैं, अतः हे वत्स! उन यज्ञों की समाप्ति तुम्हारे लौटने पर निर्भर करती है (अर्थात् यदि न लौटे तो इन यज्ञों में विघ्न डालने का दोष तुम्हारे माथे पड़ेगा) ॥२८॥

---

१ हंसशुक्लशिरोरुहैः—पलितकेशैः। (गो०) २ महीपतनपांसुलैः—कृतसाष्टाङ्गप्रणामैः। (गो०)

[1]भक्तिमन्ति हि भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च ।
याचमानेषु राम त्वं भक्तिं[1] भक्तेषु दर्शय ॥२९॥

केवल हम लोग ही यह नहीं कहते कि, तुम लौट चलो, किंतु पशु पक्षी वृक्ष आदि भी प्रार्थना कर रहे हैं, सो तुम इन भक्तों के प्रति तो स्नेह प्रदर्शित करो। अथवा अपने भक्तों के इस स्नेह को सफल करो ॥२९॥

अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः ।
उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥३०॥

ये बड़े ऊँचे ऊँचे पेड़ भी तुम्हारे साथ जाना चाहते हैं, किन्तु इनकी जड़ें भूमि में गहरी गड़ी होने से साथ चलने में असमर्थ होकर, वायु के वेग से हिलती हुई अपनी शाखाओं से, तुमको वन जाने का निषेध कर, ये चिल्ला रहे हैं ॥३०॥

निश्चेष्टाहारसञ्चारा वृक्षैकस्थानविष्ठिताः ।
पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥३१॥

देखो, पक्षियों ने भी उड़ना और चुगना बंद कर दिया है। ये वृक्ष रूपी गृहों में बैठे हुए, तुमको प्राणिमात्र पर दया करने वाला जान, वन न जाने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं ॥३१॥

एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने ।
ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥३२॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र को लौटाने के लिए चिल्लाते हुए उन ब्राह्मणों को चलते चलते तमसा नदी देख पड़ी, जो मानों मार्ग

---

१ भक्तिं—स्नेह। (गो०)

रोक कर, श्रीरामचन्द्र जी से आगे जाने का निषेध कर रही थी ॥३०॥

ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद्विमुच्य
श्रान्तान् हयान् सम्परिवर्त्य शीघ्रम् ।
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्गा-
नचारयद्वै तमसाविदूरे ॥३३॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

तब सुमंत्र ने थके हुए घोड़ों को रथ से खोल दिया और उनकी थकावट मिटाने को उनको ज़मीन पर लुटाया। फिर वे उनको पानी पिला और स्नान करा के तमसा के तट के समीप चराने लगे ॥३३॥

अयोध्याकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः ।
सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत् ॥१॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी रमणीय तमसा नदी के तट पर पहुँच, सीता की ओर देख लक्ष्मण से कहने लगे ॥१॥

इयमद्य निशा पूर्वा[1] सौमित्रे प्रस्थिता* वनम् ।
वनवासस्य भद्रं ते स नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥२॥

---

१ पूर्वा—प्रथमा । (गो०) * पाठान्तरे—" प्रहिता " ।

हे लक्ष्मण ! हम लोगो की वनयात्रा की आज यह पहली रात है। घबड़ाने की कोई बात नहीं है ॥२॥

पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः ।
यथानिलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥३॥

ये वन चारों ओर से शून्य और रोते हुए से देख पड़ते हैं, क्योंकि यहाँ के पशु और पक्षी बसेरा ले चुके है ॥३॥

अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम ।
सस्त्रीपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः ॥४॥

आज मेरे पिता की राजधानी अयोध्या नगरी के नरनारी हम लोगो के चले आने से निस्सन्देह बहुत दुःखी होते होंगे ॥४॥

अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः ।
त्वां च मां च नरव्याघ्र शत्रुघ्नभरतौ तथा ॥५॥

क्योंकि हम लोगो मे अनेक गुणो को देख, प्रजाजन, पुरुषसिंह महाराज को, तुम्हें, मुझे और भरत शत्रुघ्न को बहुत चाहते हैं ॥५॥

पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम् ।
अपि वाऽन्धो भवेतां तु रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः ॥६॥

मुझको (अपने) पिता और (अपनी) यशस्विनी माता की बड़ी चिन्ता है कि, कहीं वे हम लोगो के लिए रोते रोते अंधे न हो जाँय ॥६॥

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे ।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति ॥७॥

(मैं यह जानता हूँ कि, भरत धर्मात्मा हैं, वे अवश्य ही धर्म, अर्थ और काम युक्त वचनो से पिता माता को धीरज बँधावेंगे, तो भी मेरा मन विकल होता है) ॥७॥

भरतस्यानृशंसत्वं विचिन्त्याहं पुनः पुनः ।
नानुशोचामि पितरं मातरं चापि लक्ष्मण ॥८॥

हे महाबाहु लक्ष्मण ! भरत के दयालु स्वभाव को जब मैं भली भाँति विचारता हूँ, तब मैं पिता और माता की ओर से निश्चिन्त हो जाता हूँ ॥८॥

त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम् ।
अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थे सहायता ॥९॥

हे पुरुषसिंह ! मेरे साथ आ कर तुमने बड़ा काम किआ। क्योंकि यदि तुम साथ न होते तो सीता की रखवाली के लिए मुझे कोई दूसरा सहायक ढूढना ही पड़ता ॥९॥

अद्भिरेव तु सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम् ।
एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति ॥१०॥

हे लक्ष्मण ! यद्यपि वन में अनेक प्रकार के कन्दमूल फल मौजूद हैं, तथापि मेरी इच्छा है कि, आज की रात जल पी कर ही बिता दी जाय ॥१०॥

एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः ।
अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह ॥११॥

इस प्रकार के वचन लक्ष्मण से कह कर, श्रीरामचन्द्र जी सुमत्र से भी बोले—हे सौम्य ! घोड़ो को सावधानी से रखना ॥११॥

सोऽश्वान् सुमन्त्रः सयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते ।
प्रभूतयवसान् कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः ॥१२॥

जब सूर्य अस्ताचलगामी हुए, तब सुमंत्र ने घोड़ों को बाँधा और उनके सामने बहुत सी घास डाल कर, उनके ऊपर दृष्टि रखी ॥१२॥

उपास्य[1] तु शिवां सन्ध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपस्थिताम् ।
रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह ॥१३॥

तदनन्तर सायकालीन उपासना का समय उपस्थित होने पर, सूत सुमंत्र ने वर्णोचित उपासना (अर्थात् भगवन्नामोच्चारण पूर्वक नमस्कार किया) की और रात्रि हुई देख, सुमंत्र ने लक्ष्मण की सहायता से, श्रीरामचन्द्र जी के लिए सोने का प्रबंध किया ॥१३॥

तां शय्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैः कृताम् ।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संविवेश ह ॥१४॥

तमसा के तट पर वृक्षों के (कोमल) पत्तों से बनी हुई शैय्या देख, श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण और सीता सहित उस पर लेट कर आराम किया ॥१४॥

सभार्यं सम्प्रसुप्तं तं भ्रातरं वीक्ष्य लक्ष्मणः ।
कथयामास सूताय रामस्य विविधान् गुणान् ॥१५॥

श्रीरामचन्द्र और सीता को निद्रित देख, लक्ष्मण जी (उठ बैठे और) सूत से श्रीरामचन्द्र जी के विविध गुणों का बखान करने लगे ॥१५॥

---

१ उपास्य—नमस्कारः । सूतजातेरपिनमस्कारमात्र सम्भवति । (गो०)

जाग्रते ह्येव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः ।
सूतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान् ॥१६॥

लक्ष्मण ने सुमन्त्र से श्रीरामचन्द्र जी के गुणों का वखान करने ही मे सारी रात बिता दी और सूर्य उदय हुए ॥१६॥

गोकुलाकुलतीरायास्तमसाया विदूरतः ।
अवसत्तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह ॥१७॥

तमसा नदी के तट से कुछ ही हट कर गौओं की हेड़ थी—वहीं साथ आए हुए लोगो सहित श्रीरामचन्द्र जी उस रात मे रहे ॥१७॥

उत्थाय तु महातेजाः प्रकृतीस्ता निशाम्य च ।
अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ॥१८॥

श्रीरामचन्द्र जी प्रातःकाल उठे और उन प्रजाजनो को सोते हुए देख, शुभ लक्षणो वाले लक्ष्मण से कहने लगे ॥१८॥

अस्मद्व्यपेक्षान् सौमित्रे निरपेक्षान् गृहेष्वपि ।
वृक्षमूलेषु संसुप्तान् पश्य लक्ष्मण साम्प्रतम् ॥१९॥

हे लक्ष्मण ! ये लोग अपने घर द्वारो को छोड़, हम लोगों को पछिया रहे हैं। देखो तो, वृक्षों के नीचे पड़े कैसे सो रहे हैं। (अर्थात् हमारे पीछे सब सुखों को तिलाञ्जलि दे, दुःख सह रहे हैं और अब तक उनको विश्वास है कि, हमे वे लौटा ले जाँयगे) ॥१९॥

यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्निवर्तने ।
अपि प्राणानसिष्यन्ति[1] न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम् ॥२०॥

---

१ असिष्यन्ति—त्यक्ष्यन्ति । (गो०)

इससे जान पड़ता है कि, ये लोग जो हम लोगों को लौटाने के लिए बड़ी चेष्टा कर रहे हैं, अपने प्राण गँवा देंगे, किन्तु अपना निश्चय (हमे वनवास से लौटने का निश्चय) न त्यागेंगे ॥२०॥

यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वय लघु[1] ।
रथमारुह्य गच्छाम पन्थानमकुतोभयम् ॥२१॥

अतः जब तक ये सब सो रहे हैं, तब तक हम सब रथ पर सवार हो, तुरन्त यहाँ से रवाना हो जाँय। फिर कुछ भी भय नहीं है। (क्योंकि तमसा के आगे कुछ दूर तक रास्ता भी नहीं है, सो ये लोग आवेंगे) ॥२१॥

अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः ।
स्वपेयुरनुरक्ता मां वृक्षमूलानि संश्रिताः ॥२२॥

हमारे चुपचाप चल देने से महाराज इक्ष्वाकु की राजधानी मे बसने वाले इन लोगों को, फिर हमारे साथ वृक्षों की जड़ों में न सोन पड़ेगा ॥२२॥

[टिप्पणी—नगरनिवासी और विशेष कर राजधानी जैसे बड़े नगरों के रहने वाले सुकुमार और आरामतलब होते हैं—अतः श्रीरामचन्द्र जी ने उन लोगो को यहाँ पर राजधानी के बसने वाले बतला कर, उनका वृक्षो के नीचे पड़ना ठीक नहीं समझा, ऐसा जान पड़ता है।]

पौरा ह्यात्मकृताद्दुःखाद्विप्रमोक्ष्या नृपात्मजैः ।
न तु* खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः ॥२३॥

राजकुमारों का यह कर्त्तव्य है कि, पुरवासियों के कष्टो को दूर करे, न कि उनको भी (कष्ट मे) अपना साथी बनावे ॥२३॥

---

१ लघु—क्षिप्रं। (गो०) * पाठान्तरे—" न ते "

अब्रवील्लक्ष्मणो रामं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् ।
रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति ॥२४॥

ऐसे वचन सुन लक्ष्मण ने साक्षात् धर्म की मूर्ति श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, हे प्राज्ञ ! आपने जो कहा वह मुझे भी पसंद आया । अतः झटपट रथ पर सवार हो जाइए ॥२४॥

अथ रामोऽब्रवीच्छ्रीमान् सुमन्त्रं युज्यतां रथः ।
गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥२५॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा कि, हे प्रभो ! झटपट रथ पर तैयार कीजिए—मैं वन की ओर चलूँगा, सो यहाँ से अब शीघ्र चल दीजिए ॥२५॥

सूतस्ततः सन्त्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः ।
योजयित्वाऽथ रामाय प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत् ॥२६॥

तब सुमंत्र ने बड़ी जल्दी रथ में घोड़े जोते और हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र से निवेदन किया ॥२६॥

अयं युक्तो महाबाहो रथस्ते रथिनांवर ।
त्वमारोहस्व भद्रं*ते ससीतः सहलक्ष्मणः ॥२७॥

हे रथियों में श्रेष्ठ ! आपके लिए आपका यह रथ तैयार है, अब आप सीता और लक्ष्मण सहित इस पर बैठा जाइए; आपका मङ्गल हो ॥२७॥

* पाठान्तरे—"तमारोह सुभद्र ।"

त स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः[१] ।
शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरन्नदीम् ॥२८॥

तब श्रीरामचन्द्र जी अपने धनुष कवच आदि सामान के साथ रथ पर सवार हुए और उस तेज़ धार वाली एवं भँवरोवाली नदी के पार हुए ॥२८॥

स सन्तीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्शिवमकण्टकम् ।
प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम् ॥२६॥

तमसा नदी के उस पार कुछ दूर तक तो ऊबड़ खाबड़ कण्टकाकीर्ण मार्ग मिला। फिर आगे जा कर बहुत अच्छा मार्ग मिला, जिस पर न तो चलने मे कष्ट होता था और न वहाँ किसी अन्य प्रकार का भय था। (जङ्गली जानवरों का) ॥२६॥

मोहनार्थं तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद्वचः ।
उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमास्थाय सारथे ॥३०॥

पुरजनो को भ्रम में डालने के लिए अथवा बहकाने के लिए, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा—हे पार्थ ! पहिले उत्तर की ओर रथ हाँको ॥३०॥

मूहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः ।
यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः ॥३१॥

फिर एक मुहुर्त बाद शीघ्र रथ हाँक कर, फिर रथ लौटा लो। सावधानतापूर्वक इस प्रकार रथ हाँको, जिससे पुरवासियों को यह न मालूम हो पावे कि, हम किस ओर गए ॥३१॥

---

१ परिच्छेदो—धनुः कवचादि । (रा०)

रामस्य वचनं श्रुत्वा तथा चक्रे स सारथिः ।
प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत् ॥३२॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनो को सुन, सुमन्त्र ने तदनुसार ही रथ हाँका और रथ को पुनः लौटा कर, श्रीरामचन्द्र जी के सामने खड़ा कर दिया ॥३२॥

तौ सम्प्रयुक्तं[1] तु रथं समास्थितौ
तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ ।
प्रचोदयामास ततस्तुरङ्गमान्
स सारथिर्येन पथा तपोवनम् ॥३३॥

जब सुमंत्र जी ने लौटा कर रथ उनके सामने खड़ा किया, तब रघुकुल के बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र; लक्ष्मण और सीता सहित उस पर बैठे और सूत से बोले कि, अब घोड़ों को तपोवन की ओर हाँको ॥३३॥

ततः समास्थाय रथं महारथः
ससारथिर्दाशरथिर्वनं ययौ ।
उदङ्मुखं तं तु रथं चकार स
प्रयाणमाङ्गल्यनिमित्त[2]दर्शनात् ॥३४॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

यात्रा मङ्गलपूर्वक हो, इसलिए सुमंत्र ने रथ को उत्तर की ओर मुख कर के खड़ा किया। उस रथ पर महारथी श्रीरामचन्द्र जी सवार हो, सुमंत्र सहित वन को रवाना हुए ॥३४॥

अयोध्याकाण्ड का छियालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

---

१ संप्रयुक्तं—सम्यगानीतं। (गो०) २ निमित्त—शकुन। (रा०)

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पौरास्ते राघवं विना ।
शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवुर्हतचेतसः ॥१॥

रात बीतने पर जब सवेरा हुआ, तब वे पुरवासी जागे और वहाँ श्रीरामचन्द्र जी को न देख, मारे शोक के चेष्टारहित हो गए और उनको कुछ भी सुधबुध न रही ॥१॥

शोकजाश्रुपरिद्यूना वीक्षमाणाः समन्ततः* ।
[1]आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिताः ॥२॥

शोकाश्रुओं से तर, इधर उधर खोज करने पर भी जब वे श्रीरामचन्द्र जी के जाने के मार्ग का कुछ भी निशान न पा सके, तब तो वे सब बहुत दुःखित हुए ॥२॥

ते विषादार्तवदना रहितास्तेन धीमता ।
कृपणाः करुणा वाचो वदन्ति स्म मनस्विनः ॥३॥

श्रीरामचन्द्र जी के विना व्याकुल, आर्त्त और दीन हो, वे करुणायुक्त वचन कहने लगे ॥३॥

धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहृतचेतसः ।
नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम् ॥४॥

धिक्कार है हमारी नींद को, जिसने हमे ऐसा अचेत कर दिआ कि हम विशालवक्ष स्थल और महाभुज श्रीरामचन्द्र को अब नही देख सकेंगे ॥४॥

---

१ आलोक—साधनं । (रा०) * पाठान्तरे—"वीक्षमाणास्ततः" ।

कथं नाम महाबाहुः स तथावितथक्रियः[१] ।
भक्तं जनं परित्यज्य प्रवासं राघवो गतः ॥५॥

देखो, श्रीरामचन्द्र जी कैसे निष्फल करने वाले (अर्थात् भक्तों की कामनाओं को निष्फल करने वाले) काम करते हैं, जो हम जैसे अपने अनुरागियों को यहाँ छोड़ कर वन को चल दिए ॥५॥

यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान् ।
कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः ॥६॥

जो हम लोगों को अपने निज सन्तानवत् पालते थे, वे रघुकुल श्रेष्ठ क्यो हमें छोड़ वन को चले गए ? ॥६॥

इहैव निधनं यामो [२]महाप्रस्थानमेव वा ।
रामेण रहितानां हि किमर्थं जीवितं हि नः ॥७॥

या तो अब हम लोग यहीं प्राण दे देंगे अथवा हिमालय पर जा बर्फ में गल कर मर जायेंगे । क्योंकि विना श्रीराम के हमारे जीने से क्या प्रयोजन है ? ॥७॥

सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च ।
तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथ पावकम् ॥८॥

यहाँ सूखी और बड़ी बड़ी बहुत सी लकड़ियाँ पड़ी हैं, इनको एकत्र कर और चिता बना जलती आग में गिर, हम सब भस्म हो जाँय ॥८॥

---

१ अवितथक्रियः—अमोघानुवृत्तिः । (गो०) २ महाप्रस्थान—भरणदीक्षापूर्वक मुत्तराभिमुखगमन । (गो०)

किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः ।
नीतः स राघवोऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम् ॥९॥

हम लौट कर लोगों से क्या कहेंगे ? क्या हमारा उनसे यह कहना उचित होगा कि, हम लोग महाबाहु, ईर्ष्यारहित और प्रियवादी श्रीरामचन्द्र को वन में छोड़ आए। ऐसा तो हमसे न कहा जायगा ॥९॥

सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान् राघवं विना ।
भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीबालवयोधिका ॥१०॥

वह दीन अयोध्यापुरी, श्रीरामचन्द्र बिना हमको लौटा हुआ देख, स्त्री बालक और बूढ़े लोगों के सहित उदास हो जायगी ॥१०॥

निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं जितात्मना ।
*रहितास्तेन च पुनः कथं पश्याम तां पुरीम् ॥११॥

हम लोग तो उस वीर एवं जितेन्द्रिय के साथ सदैव चलने के लिए घर से निकले थे। अब हम उनको छोड़ किस प्रकार फिर पुरी को देखें (अर्थात् पुरी में अपना मुँह क्योंकर दिखलाएँ ॥११॥

इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः ।
विलपन्ति स्म दुःखार्ता विवत्सा इव धेनवः ॥१२॥

इस प्रकार वे सब लोग अपनी भुजाओं को ऊँचा कर शोकाकुल हो, विविध प्रकार से विलाप करने लगे। वे लोग उस समय उसी प्रकार दुःखी थे, जिस प्रकार बच्चा पास न होने पर, गौ दुःखी होती है ॥१२॥

* पाठान्तरे—"विहीनास्तेन"।

ततो मार्गानुसारेण गत्वा किञ्चित्क्षणं पुनः ।
मार्गनाशाद्विषादेन महता समभिप्लुताः ॥१३॥

वे लोग रथ के पहियों की लकीर के सहारे कुछ दूर तक गए भी किन्तु आगे रथ के जाने का कुछ भी चिह्न न पा, वे और भी अधिक दुःखी हुए। (जान पड़ता है पहले तो रास्ता रेतीला था जिस पर रथ के पहियों के चिह्न हो गए थे, किन्तु आगे को रास्ते पर घास आदि उगी होगी जिससे वहाँ पहियों का निशान नहीं बन सका होगा) ॥१३॥

रथस्य मार्गनाशेन न्यवर्तन्त मनस्विनः ।
किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति १४॥

जब रथ के आगे जाने का रास्ता न मिला, तब वे सब दृढ़ चित्त वाले लोग लौट आए और आपस में कहने लगे कि, यह क्या हुआ—अब हम क्या करें; हमारा भाग्य ही खोटा है ॥१४॥

ततो यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः ।
अयोध्यामगमन् सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम् ॥१५॥

तदनन्तर वे सब के सब अत्यन्त उदास हो, जिस मार्ग से आए थे, उसी से फिर अयोध्या को लौट गए। श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं न लौट कर, अयोध्यापुरी सज्जनों को व्यथित किआ ॥१५॥

आलोक्य नगरीं तां च [1]क्षयव्याकुलमानसाः ।
अवर्तयन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः ॥१६॥

---

१ क्वचित्—हर्षक्षयस्तेनव्याकुलमानसाः । (रा०)

वहाँ जा कर वे लोग पुरी को देख, हर्षरहित विकल मन और शोक पीड़ित हो नेत्र से आँसू बहाने लगे ॥१६॥

एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते ।
आपगा गरुडेनेव ह्रदादुद्धृतपन्नगा ॥१७॥

वे आपस मे कहने लगे कि, देखो श्रीरामचन्द्र जी के न होने से इस नगरी की शोभा भी नहीं रही। यह तो अब उस नदी के दह के समान दीख पड़ती है, जिसके सर्प गरुड़ ने हरण कर लिए हों ॥१७॥

चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम् ।
अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः ॥१८॥

चन्द्रहीन आकाश अथवा जलहीन समुद्र की तरह वे लोग आनन्दशून्य नगरी को देख अचेत से हो गए ॥१८॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि
दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः ।
नैव प्रजज्ञुः स्वजनं जनं वा
निरीक्षमाणाः प्रविनष्टहर्षाः ॥१९॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

वे लोग अपने उत्तमोत्तम घरों में, अत्यन्त दुःखित हो कर गए। उन दुःखपीड़ितों को इस समय इतनी भी सुध न रह गयी थी कि, वे देख कर, अपने और पराए को पहचान सकें ॥१९॥

अयोध्याकाण्ड का सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

तेषामेवं विषण्णानां पीडितानामतीव च ।
बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां मुमूर्षया ॥१॥

अब वे पुरवासी जन, विषादयुक्त, अत्यन्त दुःखी होने के कारण आँसुओं से नेत्र भरे हुए थे, और शोकाकुल थे तथा मारना चाहते थे ॥१॥

अनुगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम् ।
उद्गतानीव सत्त्वानि[1] बभूवुरमनस्विनाम् ॥२॥

जब वे श्रीरामचन्द्र को वन भेज कर आए, तब वे बड़े खिन्न, और मृतप्राय हो गए थे ॥२॥

स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः ।
अश्रूणि मुमुचुः सर्वे बाष्पेण पिहिताननाः ॥३॥

वे अपने अपने घरों में आ कर, पुत्रों और स्त्रियों सहित रोने लगे और रोते रोते उनके मुख आँसुओं से भींग गए ॥३॥

न चाहृष्यन्न चामोदन् वणिजो न प्रसारयन् ।
न चाशोभन्त पुण्यानि[2] नापचन् गृहमेधिनः ॥४॥

उस समय पुरवासियों में न तो कोई प्रसन्न और न कोई अमोदित होता था । बनियों ने अपनी दूकानें बंद कर रखी थीं । अर्थात्

---

१ सत्त्वानि—प्राणाः । २ पुण्यानि—पुण्यफलभूतपुत्रकलत्रादीनि ।

बाजार बंद था। घरों में किसी ने न तो अपने लड़के लड़कियो को सजाया और न स्त्रियो ने अपना शृङ्गार किया। यहाँ तक कि, गृहस्थों के घर चूल्हा ही न जला अर्थात् रसोई न हुई—सब लोग भूखे प्यासे रहे ॥४॥

नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमत् ।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥५॥

न तो कोई अपने नष्ट हुए धन को पा कर और न कोई विपुल धन पा कर ही हर्षित होता था। ज्येष्ठपुत्र को पा कर माता प्रसन्न न होती थी ॥५॥

गृहे गृहे रुदन्त्यश्च भर्तारं गृहमागतम् ।
व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्रैरिव द्विपान् ॥६॥

घर घर रोना पीटना हो रहा था और (वन से खाली लौटा कर) घर मे आए हुए पतियों के हृदय को, उनकी स्त्रियाँ शोकार्त्त हो, वचन रूपी बाणो से उसी प्रकार वेधती थीं, जिस प्रकार महावत हाथी को अङ्कुश से गोदता है ॥६॥

किन्नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा ।
पुत्रैर्वा किं सुखैर्वाऽपि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥७॥

सब पुरवासी यही कह रहे थे कि, जब वे लोग श्रीरामचन्द्र जी ही को नहीं देख पाते, तब उन्हें घर, स्त्री, धन दौलत, पुत्र अथवा सुख का प्रयोजन ही क्या है ॥७॥

एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया ।
योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने ॥८॥

इस लोक में एकमात्र लक्ष्मण ही सज्जन हैं, जो सीता के साथ श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करने वन चले गए ॥८॥

आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च ।
येषु स्नास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥९॥

उन नदियों और कमलयुक्त सरोवरों ने बड़ा पुण्य किआ है, जिनके पवित्र जल में श्रीरामचन्द्र जी घुस कर स्नान करेंगे ॥९॥

शोभयिष्यन्ति, काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः ।
आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः ॥१०॥

रमणीय वन, सुन्दर तट वाली नदियाँ और सुन्दर शिखर वाले पर्वत काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी की शोभा बढ़ावेंगे ॥१०॥

काननं वाऽपि शैलं वा यं रामोऽभिगमिष्यति ।
प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्ष्यन्त्यनर्चितुम् ॥११॥

वन अथवा पहाड़—जहाँ कहीं श्रीरामचन्द्र जी जाँयगे, उनको अपना प्रिय पाहुना समझ, वे सब आदर सत्कार करने में कसर न करेंगे ॥११॥

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः ।
राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा[१] भ्रमरशालिनः ॥१२॥

वे पेड़ भी, जिनकी फुनगियाँ फूलों से शोभित हैं और अनेक मंजरी धारण किए हुए हैं और जिन पर भौंरे गुंजार कर रहे हैं, अपना सुन्दर स्वरूप श्रीरामचन्द्र को दिखलावेंगे ॥१२॥

---

१ नगा.—वृक्षाः । (गो०)

अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद्[1] गिरयो राममागतम् ॥१३॥

वहाँ के पर्वत श्रीरामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिए, फूलने फलने की ऋतु न होने पर भी, उत्तम उत्तम फूलों फलों से श्रीरामचन्द्र जी का सम्मान करेंगे ॥१३॥

प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः ।
विदर्शयन्तो विविधान् भूयश्चित्रांश्च निर्झरान् ॥१४॥

पर्वत निर्मल जल चुआयेंगे और अनेक विचित्र झरनों को श्रीरामचन्द्र जी के लिए प्रकट करेंगे ॥१४॥

पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम् ।
यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥१५॥

पहाड़ो पर के पेड़ श्रीरामचन्द्र जी का मनोरञ्जन करेंगे । जहाँ श्रीरामचन्द्र जी होंगे वहाँ न तो उनको किसी का भय ही होगा और न उनकी कभी हार ही होगी ॥१५॥

स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च ।
पुरा भवति नो दूरादनुगच्छाम राघवम् ॥१६॥

वे महाबाहु और शूर दशरथनन्दन अभी बहुत दूर नहीं गए होंगे, अतः चलो हम सब श्रीरामचन्द्र जी के पास चलें ॥१६॥

पादच्छाया[2] सुखा भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः ।
स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम्[3] ॥१७॥

१ अनुक्रोशात्—आदरात् । (गो०) २ पादच्छायेति पादसेवा लक्ष्यते । (गो०) ३ परायणम्—परमयन, सर्वप्रकारेणआधारभूत इत्यर्थः । (गो०)

क्योंकि वैसे महात्मा और स्वामी की चरणसेवा भी हमको सुख देगी। वे ही इस अखिल संसार के स्वामी गति और आधार हैं ॥१७॥

वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं तु राघवम्।
इति पौरस्त्रियो भर्तॄन्दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥१८॥

हम सब सीता की और तुम सब श्रीरामचन्द्र जी की सेवा टहल करना। इस प्रकार पुरजनो की स्त्रियाँ दुःख से विकल हो, अपने पतियों से कह कर, फिर कहने लगीं ॥१८॥

युष्माकं राघवोऽरण्ये [1]योगक्षेमं विधास्यति।
सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥१९॥

देखो वन में श्रीरामचन्द्र सब प्रकार तुम्हारा भरणपोषण करेंगे और सीता जी हम स्त्रियों का भरणपोषण करेंगी ॥१९॥

[योगक्षेम—जो वस्तु प्राप्त नहीं उसको दिलाना योग और प्राप्तवस्तु का रक्षण क्षेम कहलाता है।]

को न्वनेनाप्रतीतेन[2] सोत्कण्ठितजनेन च।
सम्प्रीयेतामनोज्ञेन वासेन हृतचेतसा ॥२०॥

ऐसी बुरी जगह जहाँ चित्त उद्विग्न हो और मन न लगे, वहाँ रहने से क्या प्रयोजन ॥२०॥

कैकेय्या यदि चेद्राज्यं स्यादधर्म्यमनाथवत्।
न हि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥२१॥

---

१ योगक्षेम—अप्राप्त प्राप्तियोगः, प्राप्तस्य रक्षण क्षेमं। (रा०) २ अप्रतीतेन—अप्रशस्तेन। (गो०)

यदि यह राज्य धर्मविरुद्ध (ज्येष्ठ को छोड छोटे को राज्य मिलना धर्मविरुद्ध है।) और अनाथ की तरह कैकेयी के अधीन हुआ, तो धन और पौत्रादि की बात कौन चलावे, जीवित रहने ही से हमको क्या प्रयोजन है ॥२१॥

यथा पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात् ।
कं सा परिहरेदन्यं कैयेयी कुलपांसनी ॥२२॥

हा! यह कुलकलङ्किनी कैकेयी जिसने राज्यप्राप्ति के लोभ में पड, अपने पति महाराज दशरथ और पुत्र श्रीरामचन्द्र तक को त्याग दिया, वह भला दूसरो को क्यो न त्याग देगी ॥२२॥

कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका निवसेमहि ।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥२३॥

हम अपने पुत्रो की शपथ खा कर कहती हैं कि, प्राण रहते हम कैकेयी के राज्य में उसकी दासी बन कर न रहेंगी ॥२३॥

या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा ।
कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्यां दुष्टचारिणीम् ॥२४॥

क्योंकि जिस निर्लज्जा ने महाराज दशरथ के पुत्र को घर से निकलवा दिया उस अधर्मिन और दुष्टा के राज्य में बस कौन सुखपूर्वक जीता रह सकता ॥२४॥

उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्बमनायकम् ।
कैकेय्या हि कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥२५॥

यह समूचा राज्य, उपद्रवो से युक्त, निराधार और अनाथ हो, केवल कैकेयी की करतूत से नष्ट हो जायगा ॥२५॥

न हि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः ।
मृते दशरथे व्यक्तं विलापः[१]तदनन्तरम् ॥२६॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के वन जाने के कारण महाराज का बचना असम्भव है और जब महाराज न रहेंगे तब यह राज्य भी नष्ट हो जायगा ॥२६॥

ते विषं पिबतालोड्य क्षीणपुण्याः सुदुर्गताः ।
राघवं वाऽनुगच्छध्वमश्रुतिं वापि गच्छत ॥२७॥

अब हम लोगों का सुकृत सिरा चुका है। इसीसे हमारी यह दुर्गति हुई है। सो लाओ अब विष घोल कर पीले, अथवा श्रीरामचन्द्र जी के पास चले चले अथवा किसी ऐसे स्थान मे चले चले जहाँ से हमारा नाम भी कोई न सुन पावे ॥२७॥

मिथ्या[२] प्रव्राजितो रामः ससीतः सहलक्ष्मणः ।
भरते सन्निसृष्टाः[३] स्मः सौनिके[४] पशवो यथा ॥२८॥

सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र को कपट से वन भेज कर, हमें भरत को उसी प्रकार सौंप दिया है जिस प्रकार कसाई को पशु सौंप दिया जाता है ॥२८॥

पूर्णचन्द्राननः श्यामो गूढजत्रुररिन्दमः ।
आजानुबाहुः पद्माक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः ॥२९॥

पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः ।
सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत्प्रियदर्शनः ॥३०॥

---

१ विलापो—विनाशः। (गो०) २ मिथ्या—कपटेन। (गो०)
३ सन्निसृष्टाः—निक्षिप्ताः। (गो०) ४ सौनिके—पशुमारके। (गो०)

नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः ।
शोभयिष्यत्यरण्यानि विचरन् स महारथः ॥३१॥

वह श्रीरामचन्द्र तो पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुख वाले, श्यामवर्ण, माँसल हँसुली वाले शत्रुओं को नाश करने वाले, आजानुबाहु, कमल के समान नेत्रों वाले लक्ष्मण के बड़े भाई, पहले बोलने वाले, मधुरभाषी, सत्यवादी, महाबली, सीधे और सब लोगों को चन्द्रमा की तरह प्रिय, पुरुषसिंह; मत्तगज जैसी चाल चलने वाले और महारथी हैं, वे जहाँ विचरेंगे वहाँ के वन को भी निश्चय ही शोभायुक्त कर देंगे ॥२९॥३०॥३१॥

तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरस्त्रियः ।
चुक्रुशुर्दुःखसन्तप्ता मृत्योरिव भयागमे ॥३२॥

श्रीरामचन्द्र जी के वियोग में इस प्रकार अयोध्या की बसने वाली स्त्रियाँ घरों में विलाप कर रोती चिल्लाती थीं, जैसे किसी के मरते समय उसके इष्टमित्र और आत्मीयजन विलाप कर रोते चिल्लाते हैं ॥३२॥

इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेश्मसु राघवम् ।
जगामास्तं दिनकरो रजनी चाभ्यवर्तत ॥३३॥

श्रीरामचन्द्र जी के वियोग में इस प्रकार उन स्त्रियों के अपने घरों में रोते ही रोते दिन डूब गया और रात हो गई ॥३३॥

नष्टज्वलन[1]सम्पाता प्रशान्ताध्याय[2]सत्कथा[3] ।
तिमिरेणाभिलिप्तेव सा तदा नगरी बभौ ॥३४॥

---

१ ज्वलनस्य—आहवनीयाग्नेः ऊष्मायस्था सा प्रशान्ता । (शि०)
२ अध्यायो—वेदः । (गो०) ३ सत्कथा—पुराणादिः । (गो०)

उस दिन अग्निहोत्र की आग की गर्मी नष्ट हो गई स्वाध्याय-निरत ब्राह्मणों ने वेद का स्वाध्याय नहीं किया, न कहीं पुराणों की कथा वार्ता हुई। सब नगरी में अँधेरा सा छा गया। (अर्थात् लोगों के घरों में दीपक भी नहीं जलाए गए।) ॥३४॥

उपशान्तवणिक्पण्या नष्टहर्षा निराश्रया।
अयोध्या नगरी चासीन्नष्टतारमिवाम्बरम् ॥३५॥

बनियों की मण्डियाँ बंद रहीं सब ही लोग निराश और अनाथ हो गए। जिस प्रकार तारागण से हीन आकाश शोभाहीन हो जाता है, उसी प्रकार अयोध्या भी शोभाहीन हो गई ॥३५॥

तथा स्त्रियो रामनिमित्तमातुरा
यथा सुते भ्रातरि वा विवासते।
विलप्य दीना रुरुदुर्विचेतसः
सुतैर्हि तासामधिको हि सोऽभवत् ॥३६॥

अयोध्या की सब स्त्रियाँ श्रीरामचन्द्र के लिए ऐसी आतुर हो रही थीं, मानो उनके पुत्र या भाई ही वन को भेज दिए गए हों। वे विलाप कर रोती रोती अचेत सी हो गईं। उनकी इस चेष्टा से ऐसा बोध होता था मानो वे श्रीरामचन्द्र जी को अपने पुत्रों से भी अधिक मानती थीं ॥३६॥

प्रशान्तगीतोत्सवनृत्तवादना
व्यपास्तहर्षा पिहितापणोदया।
तदा ह्ययोध्या नगरी बभूव सा
महार्णवः संक्षपितोदको यथा ॥३७॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

गाना, बजाना, नाचना कूदना आदि उत्सवसूचक सब काम बद थे। बाज़ारों मे जहाँ देखा वहीं उदास हो दूकानदार अपनी दूकाने बद किए चुपचाप बैठे हुए थे। इस प्रकार अयोध्यापुरी जल रहित समुद्र की तरह उजाड़ सी हो गई ॥३७॥

अयोध्याकाण्ड का अड़तालिसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम्।
जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन्॥१॥

[पिछले सर्ग में, अयोध्यावासियों के पुरी में लौटने पर उनकी तथा उनके कारण अयोध्यापुरी की जो दशा दिखलाई पड़ती थी उसका वर्णन किया गया। अगले सर्ग मे आदि कवि पुनः श्रीरामचन्द्र के वनगमन का वृत्तान्त आरम्भ करते हैं।]

उस रात के बीतते बीतते श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता की आज्ञा का स्मरण करते हुए, बहुत दूर निकल गए ॥१॥

तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद्रजनी शिवा।
उपास्य स शिवां सन्ध्या विषयान्तं[1] व्यगाहत ॥२॥

चलते ही चलते सवेरा हो गया और रात बीत गई। तब उन्होंने प्रातः सन्ध्योपासन किया। तदनन्तर फिर चलने लगे और चल कर उत्तर कोशल की दक्षिण सीमा पर पहुँच गए ॥२॥

---

१ विषयान्तं—उत्तरकोसलदक्षिणावधिं। (गो०)

ग्रामान्विकृष्टसीमान्तान् पुष्पितानि वनानि च ।
पश्यन्नतिययौ शीघ्रं शनैरिव[1] हयोत्तमैः ॥३॥

गाँवो के सिवानों पर खेती के लिए जुते हुए खेतों और अनेक प्रकार के पुष्पित वृक्षो से युक्त वनो के देखने मे श्रीरामचन्द्रादि ऐसे मग्न थे कि, उन उत्तम घोड़ो की तेज़ चाल भी उनको धीमी चाल जैसी जान पड़ती थी ॥३॥

शृण्वन् वाचो मनुष्याणां ग्राम[2]संवास[3]वासिनाम् ।
राजानं धिग्दशरथं कामस्य वशमास्थितम् ॥४॥

जाते जाते श्रीरामचन्द्र जी उन छोटे बड़े ग्रामों के निवासियों की बातचीत सुनते जाते थे । वे कहते थे कि, कामवशवर्ती महाराज दशरथ को धिक्कार है ॥४॥

हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी ।
तीक्ष्णा[4] सम्भिन्नमर्यादा तीक्ष्णकर्मणि वर्तते ॥५॥

हाय पापिनी कैकेयी का स्वभाव कैसा कड़ुवा है और उसका व्यवहार कैसा क्रूर है कि, उसने मर्यादा को तोड़, ऐसा बुरा काम कर ही डाला ॥५॥

या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धार्मिकम् ।
वनवासे महाप्राज्ञं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम् ॥६॥

उसने ऐसे धार्मिक राजपुत्र को वनवास दिया है, जो महाविद्वान्, दयालु और जितेन्द्रिय है ! ॥६॥

---

१ शनैरिवययौ—उत्तमाश्वानागतिचातुर्यात् पुष्पितवनरामणीयकदर्शन पारवश्याच्चातिशीघ्र अपि गमनं शनैरिवजानन् । (गो०) २ ग्रामाः—महाग्रामाः । (गो०) ३ संवासा—अल्पग्रामाः । (गो०) ४ तीक्ष्णा—क्रूरा । (गो०)

कथं नाम महाभागा सीता जनकनन्दिनी ।
सदा सुखेष्वभिरता दुःखान्यनुभविष्यति ॥७॥

जनकनन्दिनी महाभागा सीता, जो घर मे सदा सुख ही सुख में रही है, किस प्रकार वन के कष्ट सह सकेगी ॥७॥

अहो दशरथो राजा निस्नेहः स्वसुतं प्रियम् ।
प्रजानामनघं[1] रामं परित्यक्तुमिहेच्छति ॥८॥

हा ! महाराज दशरथ को अपने प्यारे पुत्र में जरा भी मोह ममता नहीं है । नहीं तो वे प्रजा के पापों को दूर करने वाले अथवा निर्दोष पुत्र को क्यों त्यागते ? ॥८॥

एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।
शृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान् कोसलेश्वरः ॥९॥

इस प्रकार उन बड़े छोटे ग्रामों के रहने वालो की अनेक प्रकार की बातचीत सुनते हुए कोसलेश्वर श्रीरामचन्द्र कोसलदेश की सीमा को उल्लङ्घन कर आगे चले ॥९॥

ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम् ।
उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्या[2]ध्युषितां दिशम् ॥१०॥

तदनन्तर वे वेदश्रुति नामक निर्मल जल से भरी हुई नदी के पार हो, दक्षिण दिशा की ओर चले ॥१०॥

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शिवजलां नदीम् ।
गोमतीं [3]गोयुतानूपामतरत्सागरंगमाम् ॥११॥

---

१ प्रजानामनघ—अघानवर्तकम् । (शि०) २ अगस्त्याध्युषितादिशं—दक्षिणादिश । (गो०) ३ गोयुतानूपा—गोयुक्तकच्छप्रदेशा । (गो०)

फिर बहुत देर तक मार्ग चल, शीतल जल वाली और सागर गामिनी गोमती नदी के तट पर पहुँचे। उस समय उसके कछार में बहुत सी गौएँ चर रही थीं ॥११॥

गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः ।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम् ॥१२॥

शीघ्र चलने वाले घोड़ों से खींचे जाने वाले रथ पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी, गोमती को पार कर, स्यन्दिका नाम नदी के, जिसके किनारो पर मयूर और हंस बोल रहे थे, पार उतरे ॥१२॥

स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा ।
स्फीतां राष्ट्रावृतां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत् ॥१३॥

वह भूमि, जिसे राजा मनु ने पहिले इक्ष्वाकु को दिया था और जो बहुत विस्तृत थी तथा जिस पर अनेक राष्ट्र बसे हुए थे, श्रीरामचन्द्र जी ने सीता को दिखलाई ॥१३॥

सूत इत्येव चाभाष्य सारथिं तमभीक्ष्णशः[1] ।
मत्तहंसस्वरः श्रीमानुवाच पुरुषर्षभः ॥१४॥

तदनन्तर सुमंत्र को सम्बोधन कर पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी मत्तहंस जैसी वाणी से बोले ॥१४॥

कदाऽहं पुनरागम्य सरय्वा पुष्पिते वने ।
मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च सङ्गतः ॥१५॥

हे सारथे! वह दिन कब आवेगा जब मैं वन से लौट कर माता पिता से मिल कर सरयू के पुष्पित वनो में शिकार के लिए घूमा फिरा करूँगा ॥१५॥

---

१ अभीक्ष्णशः आभाष्य सम्बोध्य। (शि०)

राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन् रत्यर्थं मृगया वने ।
काले[1] वृतां[2] तां मनुजैः[3] धन्विनामभिकाङ्क्षिताम् ॥१६॥

इस संसार मे यह पुरानी चाल चली आती है कि राजर्षि-लोग आवश्यकता पड़ने पर वनो मे शिकार खेला करते हैं। सदाचारी लोगों को भी श्राद्ध आदि करने के लिए धनुषबाण की आवश्यकता होती है ॥१६॥

नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने ।
रतिर्ह्येषाऽतुला लोके राजर्षिगणसम्मता ॥१७॥

यद्यपि बहुत शिकार खेलना मुझे पसंद नहीं, तथापि राजा लोग इसे अच्छा बतलाते हैं और लोगो की भी प्रवृत्ति इस ओर अधिक है। अतः मै इसे बुरा भी नहीं समझता और सरयू के तट पर शिकार खेलना चाहता हूँ ॥१७॥

स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूतं मधुरया गिरा ।
तं[4] तमर्थमभिप्रेत्य[5] ययौ वाक्यमुदीरयन् ॥१८॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी प्रयोजन के अनुसार सुमंत्र को मधुरवाणी से समझा कर, उनसे वार्तालाप करते हुए चले जाते थे ॥१८॥

अयोध्याकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

---

१ काले—श्राद्धादिकाले । (गो०) २ वृता—स्वीकृता । (गो०) ३ मनुजै—सदाचारपरे । (गो०) ४ तं तमर्थं—राजगुणादिरूप । (गो०) ५ अभिप्रेत्य—हृदये कृत्वा । (गो०)

पञ्चाशः सर्गः

—:o:—

विशालान् कोसलान् रम्यान् यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
अयोध्याभिमुखो धीमान् प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विशाल कोसल राज्य के देशो की सीमा से निकल, अयोध्या की ओर मुख कर, और हाथ जोड़ कर यह बोले ॥१॥

आपृच्छे त्वां पुरि श्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते ।
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च ॥२॥

हे काकुत्स्थवंशीय नृपतियो से पालित पुरियों में श्रेष्ठ अयोध्ये! तुझसे तथा तुझमें रहने वाले उन देवताओं से जो तेरा पालन करते हैं, मै विदा होने के लिए अनुज्ञा माँगता हूँ ॥२॥

निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः ।
पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह सङ्गतः ॥३॥

वनवास से लौट कर और महाराज से उऋण हो, मैं फिर तेरे दर्शन करूँगा और माता पिता से मिलूँगा ॥३॥

ततो रुधिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम् ।
अश्रुपूर्णमुखो दीनोऽब्रवीज्जानपदं जनम् ॥४॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने लाल दक्षिण भुजा उठा नेत्रो में आँसू भर और दीन हो, उन जनपदवासियो से (जो रथ को घेरे चले जाते थे) कहा ॥४॥

अनुक्रोशो[१] दया[२] चैव यथार्ह[३] मयि वः कृतः ।
चिरं दुःखस्य पापीयो[४] गम्यतामर्थसिद्धये[५] ॥५॥

आपने मेरा वैसा ही आदर सत्कार किआ है और अनुकम्पा प्रदर्शित की है, जैसी मालिक के प्रति करनी उचित थी। बहुत देर क मेरे साथ आपका रहना शोभा नहीं देता, अतः अब आप लोग पने अपने घरो को लौट जाइए और जा कर घर के कामों को जिए ॥५॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
विलपन्तो नरा घोरं व्यतिष्ठन्त क्वचित्क्वचित् ॥६॥

तब वे श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर और उनकी परिक्रमा र, अपने अपने घरो को चल तो दिए, किन्तु रास्ते मे बीच बीच में जाते जाते रुक जाते और रुदन कर घोर विलाप करने लगते े ॥६॥

तथा विलपतां तेषामतृप्तानां च राघवः ।
अचक्षुर्विषयं प्रायाद्यथार्कः क्षणदामुखे ॥७॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उनको विलाप करते देख तथा अपने दर्शन से अतृप्त जान, रथ तेजी से हँकवाया और उनके नेत्रो की ओट वैसे ही हो गए, जैसे सूर्य सन्ध्या को नेत्रो की ओट हो जाते हैं ॥७॥

ततो धान्यधनोपेतान् दानशीलजनान् शुभान्* ।
अकुतश्चिद्भयान् रम्यांश्चैत्य[६]यूपसमावृतान् ॥८॥

---

१ अनुक्रोशः आदरः । (गो०) २ दया—अनुकम्पा । (गो०) ३ यथार्ह—स्वामित्वानुगुण । (गो०) ४ पापीयः—अशोभन । (गो०) ५ अर्थसिद्धये—गृहकृत्यादि करणाय । (गो०) ६ चैत्यानि—देवतायतनानि ॥ * पाठान्तरे—"शिवान्"

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने जाते हुए देखा कि, रास्ते में जो गाँव या नगर हैं, वे धनधान्य से भरे पूरे हैं। वहाँ के लोग बड़े दानी और धार्मिक हैं और निर्भीक हैं। यह बात उन नगरों के रम्य देव-मन्दिरों तथा जहाँ तहाँ खड़े यज्ञस्तभ के देखने से विदित होती थी ॥८॥

उद्यानाम्रवणोपेतान् सम्पन्नसलिलाशयान् ।
तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोकुलाकुलसेवितान् ॥९॥

वहाँ के बाग आमों के वृक्षों से परिपूर्ण थे, तालाबों में जल भरा हुआ था, सब लोग प्रसन्नवदन और हृष्टपुष्ट थे और जगह जगह गौओं की हेड़े खड़ी थीं ॥९॥

लक्षणीयान्नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान् ।
रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत ॥१०॥

राज्य की ओर से उन जनपदों की रक्षा का अच्छा प्रबन्ध था। उनमें वेद की ध्वनि सदा हुआ करती थी। पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी रथ पर चढ़े और ये सब देखते भालते कोसल देश की सीमा के पार हुए ॥१०॥

मध्येन मुदितं स्फीतं रम्योद्यानसमाकुलम् ।
राज्यं भोग्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतांवरः ॥११॥

धृतिमतांवर श्रीरामचन्द्र बीच बीच में छोटे छोटे राज्यों को, जो हर्षित और सम्पन्न लोगों से भरे और रमणीय उपवनों से युक्त थे, देखते चले जाते थे। (ये सब छोटे राज्य महाराज दशरथ के करद राज्य थे) ॥११॥

तत्र[1] त्रिपथगां दिव्यां शिवतोयामशैवलाम् ।
ददर्श राघवो गङ्गां पुण्यामृषिनिषेविताम् ॥१२॥

---

१ तत्र—कोसलाद्दक्षिणदेशे। (गो०)।

चलते चलते श्रीरामचन्द्र ने कोसलराज्य की दक्षिण सीमा पर स्थित, पवित्र तथा शीतलतोया और ऋषियो से सेवित त्रिपथगा गङ्गा को देखा ॥१२॥

आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्भिः समलङ्कृताम् ।
१कालेऽप्सरोभिर्हृष्टाभिः सेविताम्भोह्रदां शिवाम् ॥१३॥

गङ्गा के तट से कुछ ही हट कर, ऋषियो के रमणीक आश्रम देखे, जिनके कुण्डो के निर्मल जल में स्वर्गीय अप्सराये जलक्रीड़ा करने को उचित समय पर आया करती है ॥१३॥

देवदानवगन्धर्वैः किन्नरैरुपशोभिताम् ।
*नागगन्धर्वपत्नीभिः सेवितां सततं शिवाम् ॥१४॥

जो गङ्गा देव दानव, गन्धर्व, किन्नर, नागपत्नी और गन्धर्व-पत्नी द्वारा सदा सेवित हैं ॥१४॥

देवाक्रीडशताकीर्णां देवोद्यानशतायुताम् ।
देवार्थमाकाशगमां विख्यातां देवपद्मिनीम् ॥१५॥

उन गङ्गा के तट पर देवताओ की जलक्रीडा के लिए सैकड़ो स्थान और वाटिकाएँ बनी हुई है । गङ्गा ने आकाशमार्ग से गमन किया है और वहाँ वह देवपद्मिनी अर्थात् सुवर्ण कमलवाली के नाम से प्रसिद्ध है ॥१५॥

[गङ्गा का स्त्री का रूपक बाँधा है] ।

जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् ।
क्वचिद्वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम् ॥१६॥

---

१ काले—क्रीड़ाकाले उचितकाले वा । (गो०) * पाठान्तरे—"नाना" ।

गङ्गा का जल जहाँ टकराता है, वहाँ ऐसा शब्द होता है मानों गङ्गा अट्टहास कर रही है, कहीं पर धार बड़े वेग से बह रही है और कहीं वह निर्मल फेन से भूषित हो मानों हँस रही है। ऊँची नीची चट्टानों पर जल के गिरने से ऐसा जान पड़ता है, मानो किसी युवती की वेणी (चोटी) हो और कहीं कहीं पर भँवरों के पड़ने से गङ्गा सुशोभित हो रही है ॥१६॥

क्वचित्स्तिमितगम्भीरां क्वचिद्वेगजलाकुलाम्।
क्वचिद्गम्भीरनिर्घोषां क्वचिद्भैरवनिस्वनाम् ॥१७॥

कहीं स्थिर, कहीं बहुत गहरा-जल है और कहीं जल के गंभीर नाद से और कहीं भयङ्कर शब्द से श्रीगङ्गा जी घोषित हो रही है ॥१७॥

देवसङ्घाप्लुतजलां निर्मलोत्पलशोभिताम्।
क्वचिदाभोगपुलिनां क्वचिन्निर्मलवालुकाम् ॥१८॥

कहीं देवता लोग स्नान करते हैं और कहीं पर वह श्वेत कमलों से सुशोभित है। कहीं कहीं तट पर ऊँचे करारे हैं और कहीं निर्मल वालुका बिछी है ॥१८॥

हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपकूजिताम्।
सदा मत्तैश्च विहगैरभिसन्नादितान्तराम् ॥१९॥

कहीं हंस और सारस बोल रहे हैं और कहीं तट पर चकवा चकई कुहुक रहे हैं। गङ्गा का तट मत्त पक्षियों के शब्द से सदा कूजित ही रहता है ॥१९॥

क्वचित्तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरुपशोभिताम्।
क्वचित्फुल्लोत्पलच्छन्नां क्वचित्पद्मवनाकुलाम् ॥२०॥

कहीं तटों पर वृक्षों की पंक्तियाँ माला की तरह शोभायमान हैं, कहीं खिली हुई कुईं जल को ढके हुए हैं और कहीं कमल के फूलों के वन भरे पड़े हैं ॥२०॥

क्वचित्कुमुदषण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम् ।
नानापुष्परजोध्वस्तां[1] समदामिव[2] च क्वचित् ॥२१॥

कही कुईं की कलियाँ शोभायमान हैं और कहीं अनेक प्रकार के पुष्पो के पराग से जल का रंग बदला हुआ है अर्थात् लाल हो गया है। वह लाल रंग का ठहरा हुआ जल ऐसा जान पड़ता है, मानो कोई स्त्री लाल रग की साड़ी पहने हुए खड़ी हो ॥२१॥

व्यपेतमलसङ्घातां मणिनिर्मलदर्शनाम् ।
दिशागजैर्वनगजैर्मत्तैश्च वरवारणैः[3] ॥२२॥

गङ्गा जी का जल वैडूर्यमणि की तरह चमक रहा है। दिग्गज मत्त बनैले हाथी तथा राजाओं के हाथी स्नान कर रहे हैं ॥२२॥

देवोपवाह्यैश्च मुहुः सन्नादितवनान्तराम् ।
प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥२३॥

देवताओं के वाहन मत्तगजों से सेवित और जल की धार के हर हर शब्द से वनों को गुंजाती हुई गङ्गा ऐसी सुशोभित हो रही है मानों कोई स्त्री बड़े यत्न से उत्तम आभूषणों से अपना शृङ्गार किए हुए हो ॥२३॥

---

१ नानापुष्परजोध्वस्ता—वर्णान्तरप्राप्ता । (गो०) २ समदामिव—प्रमदामिवस्थिताम् । (रा०) एव रक्तवर्णत्वात् समदामिवस्थिताम् । (गो०) ३ वरवारणैः—राजगजैः ।

फलैः पुष्पैः किसलयैर्वृतां गुल्मैर्द्विजैः[1]स्तथा ।
शिंशुमारैश्च नक्रैश्च भुजङ्गैश्च निषेविताम् ॥२४॥

(गङ्गा) फल, पुष्प, पत्र, पुष्पगुच्छ और नाना पक्षियों रूपी आभूषणों से भूषित स्त्री की तरह सुशोभित है। सूँस, (अथवा) जलमानुस जलकपि) घड़ियाल और भुजङ्गो से सेवित है (अर्थात् ये सब उसके जल के भीतर रहते हैं) ॥२४॥

विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशनीम् ।
तां शङ्करजटाजूटाद्भ्रष्टां सागरतेजसा[2] ॥२५॥

गङ्गा भगवान् विष्णु के चरण से निकली हैं, दिव्य हैं, स्वयं पाप रहित हैं और दूसरो के पाप को नाश करने वाली हैं। शिव जी के जटाजूट से निकल कर, भगीरथ की तपस्या से पृथिवी पर आई हैं ॥२५॥

समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम् ।
आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥२६॥

समुद्र की पटरानी और सारस एवं क्रौंच पक्षियो से कूजित गङ्गा के निकट, शृङ्गवेरपुर को जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी पहुँचे ॥२६॥

तामूर्मिकलिलावर्तामन्ववेक्ष्य महारथः ।
सुमन्त्रमब्रवीत्सूतमिहैवाद्य वसामहे ॥२७॥

तरंगों पर तरंगे जिनमें उठ रही हैं, ऐसी श्रीगङ्गा जी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा, हे सूत ! आज मैं यहीं निवास करूँगा ॥२७॥

---

१ द्विजैः—पक्षिभिः । (गो०) २ सागरतेजसा—भगीरथतपसा । (रा०)

अविदूरादयं नद्या बहुपुष्पप्रवालवान्।
सुमहानिङ्गुदीवृक्षो वसामोऽत्रैव सारथे ॥२८॥

हे सारथे! यहाँ से निकट ही पत्तो और फूलों से सुशोभित जो इंगुदी का वृक्ष है, उसी के नीचे टिकने की मेरी इच्छा है ॥२८॥

द्रक्ष्यामः सरितां श्रेष्ठां सम्मान्यसलिलां शिवाम्।
देवदानवगन्धर्वमृगमानुषपक्षिणाम् ॥२९॥

इसी श्रेष्ठ नदी गङ्गा को, जो मनोहर जलयुक्त है और देव, दानव, गन्धर्व, मृग, नाग और पक्षियो से सेवित है, (हम लोग) देखे और उसका (यहाँ ठहर कर) सम्मान करे ॥२९॥

लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च बाढमित्येव राघवम्।
उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः ॥३०॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण और सुमंत्र ने कहा "बहुत अच्छा" और वे इंगुदी वृक्ष के पास रथ को ले गए ॥३०॥

रामोऽभियाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः।
रथादवातरत्तस्मात्सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥३१॥

इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र उस रमणीक वृक्ष के पास पहुँच, सीता और लक्ष्मण सहित रथ से उतर पड़े ॥३१॥

सुमन्त्रोऽप्यवतीर्यास्मान् मोचयित्वा हयोत्तमान्।
वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥३२॥

सुमंत्र भी रथ से उतर पड़े और उन उत्तम घोड़ों को खोल दिआ और स्वयं हाथ जोड़े हुए उस वृक्ष के नीचे श्रीरामचन्द्र जी के पास जा उपस्थित हुए ॥३२॥

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः[१] सखा ।
निषादजात्यो [२]बलवान् स्थपति[३]श्चेति विश्रुतः ॥३३॥

उस देश का गुह नाम का राजा था, वह श्रीरामचन्द्र का प्राणों के समान मित्र था और जाति का केवट था तथा उसके पास चतुरङ्गिणी सेना थी और वह निषादों का राजा कहलाता था ॥३३॥

स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम् ।
वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः ॥३४॥

उसने जब सुना कि श्रीरामचन्द्र जी उसके देश में आए हैं, तब वह अपने बूढ़े मंत्रियों और जाति बिरादरी के बड़े बड़े लोगों को साथ लिए हुए श्रीरामचन्द्र जी से मिलने चला ॥३४॥

[टिप्पणी—गुह, जाति का केवट हो कर भी श्रीरामचन्द्र जी का मित्र था, इस पर कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं—क्योंकि मैत्री "समानशील व्यसनेषु सख्यम्" होना चाहिए—सो कहाँ क्षत्रियकुलोद्भव राजकुमार श्रीरामचन्द्र और कहाँ केवटों का राजा गुह! गुह केवटों का चौधरी न था, बल्कि राजा था—यह बात उसके साथ बूढे मंत्रियों के आने से प्रकट होती है। एक राजा का दूसरे राजा के साथ समानव्यसन होने से मैत्री होना आश्चर्य की बात नहीं। गुह "स्थपति" कहलाता था। वैजयन्ती कोष के अनुसार " स्थापत्येधिपतोतादृर्णं" गुह बढई भी था अतः ;

" हीनप्रेष्यं हीनसख्यं हीनगेह निषेवण " का दोष महाकुलप्रसूत श्रीरामचन्द्र के ऊपर इसलिए नहीं आता कि, 'स्थपति " होने से गुह यज्ञ में जा सकता था, " निषादस्थपतियाजयेत " इति श्रुतिः "। फिर जब श्रीरामचन्द्र भक्तवत्सल भगवान के अवतार थे तब,

---

१ आत्मसमः—प्राणसमः। (गो०) २ बलवान्—चतुरङ्गबलवान्। (गो०) ३ स्थपतिः—निषादाधिपतिः। (गो०)

"न शूद्र भगवद्भक्ता विप्रा भगवताः स्मृताः
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥"

अर्थात् भगवद्भक्त भले ही शूद्र जाति में उत्पन्न हुआ हो, किन्तु वह शूद्र नहीं, भगद्भक्त होने के कारण उसकी विप्र संज्ञा हो जाती है। प्रत्युत सब वर्णों में शूद्र तो वह है जो भगवान् का भक्त नहीं है।]

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम्।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद्गुहेन सः ॥३५॥

श्रीरामचन्द्र गुह को दूर से आते देख लक्ष्मण सहित कुछ दूर आगे जा, गुह से मिले ॥३५॥

तमार्तः[१] सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत्।
यथाऽयोध्या तथेयं ते राम किं करवाणि ते ॥३६॥

इस समय श्रीरामचन्द्र जी को मुनि भेष धारण किए देख, गुह बड़ा दुःखी हुआ और श्रीरामचन्द्र जी से मिल, यह बोला—हे श्रीरामचन्द्र! अयोध्या की तरह यह राज्य भी आप ही का है, सो आज्ञा दीजिए मैं आपकी क्या सेवा करूं ॥३६॥

गुह का श्रीराम को तपसी भेष में देख कर दुःखी होना यह सूचित करता है कि गुह का और श्रीरामचन्द्र का शिकार आदि में पहले भी कई बार समागम हो चुका था। इसी से वह राजकुमार का परम सखा भी हो गया था। (गो०)]

ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम्
ततो[२] गुणवदन्नाद्यम्[३]उपादाय पृथग्विधम्[४] ॥३७॥

---

१ आर्तः—धृतवल्कलदर्शनेन सन्तप्तः (गो०)। २ गुणवत्—स्वादु शीघ्रपरिपाकादिगुणविशिष्टम्। (शि०) ३ आद्य शब्देन पेयादिकमुच्यते। (गो०) ४ पृथग्विधम्—माषादिभेदेन बहुविधं। (गो०)

हे महाबाहो! आप जैसे प्रिय अतिथि का आना साधारण बात नहीं है। यह कह अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ ॥३७॥

अर्घ्यं चोपानयत्क्षिप्रं वाक्यं चेदमुवाच ह ।
स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥३८॥

और अर्घ्य की सामग्री तुरन्त ला कर, गुह बोला, हे महाबाहो! मैं आपका स्वागत करता हूँ, यह सारा राज्य आप ही का है ॥३८॥

वयं प्रेष्या भवान् भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः ।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चेदमुपस्थितम् ॥३९॥

हम सब आपके टहलुए हैं, आप हम लोगो के प्रभु हैं। अब आप इस राज्य को लेकर शासन कीजिए। ये भक्ष्य, भोज्य पेय लेह्य (अर्थात् खाने पीने के लिए) पदार्थ उपस्थित हैं ॥३९॥

शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं[1] च ते ।
गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह ॥४०॥

सोने के लिए अच्छे अच्छे पलग और आपके घोड़े के लिए दाना घास भी ला कर रखा है। गुह के इस प्रकार कह चुकने पर श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥४०॥

अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वथा वयम् ।
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसन्दर्शनेन च ॥४१॥

आपने मेरे निकट पैदल आ कर जो इतना स्नेह जनाया, सो मेरा सब प्रकार से आदर सत्कार हो चुका। मैं आप पर बहुत प्रसन्न हूँ ॥४१॥

---

१ खादनं—घासः। (गो०)

भुजाभ्यां साधु[1] पीनाभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत् ।
दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः ॥४२॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी गुह को अच्छी तरह अपने हृदय से लगा कर, प्रसन्न हो बोले—हे गुह! आपको बन्धु बान्धवों सहित नीरोग देख मैं बहुत प्रसन्न हुआ ॥४२॥

अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च धनेषु च ।
*यदेतद्भवता किञ्चित्प्रीत्या समुपकल्पितम् ॥४३॥

अब आप अपने राज्य, मित्र और धन का क्षेम कुशल बतलाइए। मेरे लिए बड़े प्रेम से जो ये सब वस्तुएँ आप लाये हैं ॥४३॥

सर्वं तदनुजानामि नहि वर्ते प्रतिग्रहे[2] ।
कुशचीराजिनधरं फलमूलाशिनं च माम् ॥४४॥

इनमे से कोई भी वस्तु मैं नहीं ले सकता, क्योंकि मैंने दान का त्याग रखा है। मैं तो कुशचीर और मृगचर्म धारण करता हूँ और फल तथा कन्दमूल खाता हूँ ॥४४॥

विद्धि प्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम् ।
अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित् ॥४५॥

आप मुझे पिता की आज्ञा से धर्मपालन मे सावधान एवं वन में विचरने वाला तपस्वी समझे। आप इन वस्तुओं में से घोड़ों के लिए घास तो रहने दें अन्य सब पदार्थ मुझे नहीं चाहिए ॥४५॥

---

१ साधुपीडयन्—सम्यक् आलिङ्गन्। (गो०) २ प्रतिग्रहे न वर्ते—प्रतिग्रह धर्मं नाश्रितवान्। (गो०) * पाठान्तरे—"यत्त्विदं ममता"।

एतावताऽत्रभवतो भविष्यामि सुपूजितः ।
एते हि दयिता राज्ञा पितुर्दशरथस्य मे ॥४६॥

बस इसीसे मानों आपने मेरा अच्छी तरह से सत्कार कर दिआ। क्योंकि वे घोड़े मेरे पिता महाराज दशरथ को अत्यन्त प्रिय हैं ॥४६॥

एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ।
अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात् ॥४७॥

अतः इनको जब अच्छी तरह से दाना घास जल मिल गया तब मानों मेरा ही भली भाँति आदर सत्कार हो चुका ॥४७॥

गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति ।
ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥४८॥

यह सुन गुह ने अपने नौकरों को तुरन्त आज्ञा दी कि, घोड़ो को दाना घास दो और इनको पानी पिलाओ। तदनन्तर वल्कल का डुपट्टा ओढ़े हुए श्रीरामचन्द्र जी ने, सायं सन्ध्योपासन किआ और स्वयं लक्ष्मण का लाया हुआ जल मात्र पिया ॥४८॥

तस्य भूमौ शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः ।
सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥४९॥

जब श्रीरामचन्द्र जी और सीता इंगुदी वृक्ष के नीचे भूमि पर लेट गए, तब लक्ष्मण जी ने जल लाकर उन दोनो के पैर धोए। और वहीं पेड़ के समीप वे बैठे रहे ॥४९॥

[टिप्पणी—सोने के पूर्व पैर धोना आयुर्वेद की दृष्टि से आवश्यक है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि, पैर धो कर और पोंछ कर सोने से स्वप्न या स्वप्नदोष नहीं होता।]

गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन्।
अन्वजाग्रत्ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः ॥५०॥

गुह, सुमंत्र और सावधानतापूर्वक धनुषबाण धारण करने वाले लक्ष्मण, आपस में बातचीत करते हुए रात भर जागते रहे ॥५०॥

तथा शयानस्य ततोऽस्य धीमतो
यशस्विनो दाशरथेर्महात्मनः।
अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा
तदा व्यतीयाय चिरेण शर्वरी ॥५१॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

धीमान एवं यशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी, जो सदा सुख भोगने योग्य थे, किन्तु दुर्भाग्यवश इस समय दुःख पा रहे थे, सो गए और सोते सोते इन्हें यह भी न मालूम पड़ा कि, रात कब बीत गई ॥५१॥

टिप्पणी—इस श्लोक का भावार्थ यह है कि, जो श्रीरामचन्द्र जी चक्रवर्ती के पुत्र थे और जिन्होंने कष्ट का नाम भी कभी नहीं सुना था—वे इस वनयात्रा के कष्टों से परिश्रान्त तथा कुछ भी न खाने से क्लान्त होने के कारण ऐसे सोए कि, उन्हें यह न जान पड़ा कि, रात कब बीत गई।]

अयोध्याकाण्ड का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

एकपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम् ।
गुहः सन्तापसन्तप्तो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

लक्ष्मण से—जो भाई की रखवाली करते हुए, बड़ी सावधानी से जाग रहे थे, गुह सन्तप्त हो बोला ॥१॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता ।
प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथासुखम् ॥२॥

हे लक्ष्मण ! तुम्हारे सोने के लिए यह बिछौना तैयार है। इस पर हे राजकुमार ! तुम सुखपूर्वक विश्राम करो ॥२॥

उचितोऽयं जनः सर्वं क्लेशानां त्वं सुखोचितः ।
गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वयं निशाम् ॥३॥

हम लोग जो वन में रहा करते हैं, कष्ट सहने के आदी हैं और तुम सदा सुख भोगते रहे हो, अतः तुमको सुख मिलना उचित है। श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली के लिए, हम लोग रात भर जागते रहेंगे। अतः तुम लेट रहो और सोओ ॥३॥

न हि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन ।
ब्रवीम्येतदहं सत्यं सत्येनैव च ते शपे ॥४॥

(कदाचित् लक्ष्मण को यह सन्देह हो कि, गुह रात भर न जागेगा और लक्ष्मण को सुलाने को वह बात कहता है इस पर गुह कहता है) इस संसार में श्रीरामचन्द्र से बढ़कर मेरा प्यारा

दूसरा कोई नहीं है। यह बात मै सत्य की शपथ खा कर तुमसे सत्य ही सत्य कहता हूँ ॥४॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद्यशः।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थावाप्तिं च केवलाम् ॥५॥

क्योकि इन्हीं (श्रीरामचन्द्र जी) की प्रसन्नता से मै बड़ा ।श, धर्म, बहुत सा धन और काम चाहता हूँ, (अर्थात् इनके ।सन्न होने से मुझे अर्थ धर्म काम मोक्ष सभी कुछ मिल सकता है, अतः मै रात भर जाग कर और रखवाली कर इनको प्रसन्न रखूँगा] ॥५॥

सोऽहं *प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वतो ज्ञातिभिः सह ॥६॥

अतः मै हाथ में धनुष ले कर अपने परिवार के लोगो के साथ सीता सहित सोए हुए अपने प्रिय मित्र श्रीरामचन्द्र जी की हर तरह से रखवाली करूँगा ॥६॥

न हि मेऽविदितं किञ्चिद्वनेऽस्मिंश्चरतः सदा।
चतुरङ्गं ह्यपि बलं सुमहत्प्रसहेमहि ॥७॥

इस वन मे मेरा बिना जाना हुआ कुछ भी नहीं है (अर्थात् मुझे इस वन का रत्ती रत्ती हाल मालूम है।) क्योकि मै तो इस वन मे सदा विचरा ही करता हूँ। यदि चतुरङ्गिणी सेना भी मेरे ऊपर आक्रमण करे, तो मैं इस वन का जानकार होने के कारण उसका भी सामना करने को समर्थ हूँ ॥७॥

लक्ष्मणस्तं तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानघ।
नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥८॥

* पाठान्तरे—प्रियतमम्।

यह सुन, लक्ष्मण जी ने गुह से कहा, हे पुण्यात्मन्! तुम्हारी रखवाली का तो हमें पूरा भरोसा है। मुझे डर किसी बात का नहीं है, किन्तु अपने कर्त्तव्यपालन का मुझे पूरा ध्यान है ॥८॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥९॥

जब चक्रवर्ती महाराज दशरथ के कुमार, राजा जनक की बेटी सीता जी के सहित, भूमि पर पड़े सो रहे हैं, तब मेरा यह कर्त्तव्य नहीं कि, मैं पड़कर सुख से सोऊँ अथवा अपने जीते रहने या अपने आराम के लिए प्रयत्न करूँ ॥९॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य सुखसंविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥१०॥

युद्ध में जिन श्रीरामचन्द्र जी का सब देवता और असुर मिल कर भी सामना नहीं कर सकते, देखो, आज वे ही सीता सहित घास फूस के ऊपर सो रहे हैं ॥१०॥

यो मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः[1]।
एको[2] दशरथस्येष्टः पुत्रः सदृशलक्षणः ॥११॥

अनेक जप तप और यज्ञानुष्ठान के बाद महाराज के उन जैसे लक्षणों वाले यही तो एक प्रिय पुत्र हुए हैं ॥११॥

अस्मिन् प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥१२॥

---

१ परिश्रमैः—यज्ञादिभिः। (गो०) २ एकः—मुख्यः। (गो०)

सो इनके अयोध्या से चले आने पर महाराज बहुत दिनों तक न ठहर (जीवित रह) सकेंगे। अतः यह पृथिवी बहुत शीघ्र विधवा हो जायगी ॥१२॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः।
निर्घोषोपरतं चातो मन्ये राजनिवेशनम् ॥१३॥

मैं समझता हूँ, जो स्त्रियाँ हमारे आने पर रोती पीटती थीं, वे अब शान्त हो गई होंगी और राजभवन में भी सन्नाटा छा गया होगा ॥१३॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम।
नाशंसे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥१४॥

कौसल्या, महाराज दशरथ और मेरी जननी सुमित्रा ये सब इस रात मे जीते जागते बच जायँगे मुझे इसमे सन्देह है ॥१४॥

जीवेदपि हि मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया।
तद्दुःखं यत्तु कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥१५॥

शत्रुघ्न का मुख देखती हुई मेरी माता तो जीती भी रहे, किन्तु यह बड़ा दुःख है कि, वीरजननी कौसल्या जी बिना श्रीराम के अवश्य शरीर त्याग देगी ॥१५॥

अनुरक्तजनाकीर्णा सुखालोकप्रियावहा।
राजव्यसनसंसृष्टा सा पुरी विनशिष्यति ॥१६॥

श्रीरामचन्द्र जी मे अनुराग रखने वाले प्रजाजनों से भरी हुई सुख समृद्धि वाली, लोकप्रिय अयोध्यापुरी, हाय! महाराज के मरने के शोक से नष्ट हो जायगी ॥१६॥

कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठं प्रियमपश्यतः ।
शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः ॥१७॥

क्योंकि अपने महात्मा प्यारे ज्येष्ठ पुत्र को देखे बिना महाराज दशरथ जी के प्राण शरीर में कैसे ठहर सकेंगे ॥१७॥

विनष्टे नृपतौ पश्चात्कौसल्या विनशिष्यति ।
अनन्तरं च माताऽपि मम नाशमुपैष्यति ॥१८॥

महाराज के मरते ही महारानी कौसल्या भी मर जाँयगी और कौसल्या के बाद मेरी माता भी नाश को प्राप्त होगी ॥१८॥

[1]अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥१९॥

हाय ! सब बना बनाया खेल ही बिगड़ जायगा जब कि, महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक का मनोरथ अपने मन में लिए हुए ही इस संसार से चल देंगे ॥१९॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् कालेऽप्युपस्थिते ।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥२०॥

अब तो भाग्यवान वही हैं, जो महाराज के पास उनके अंत समय में उपस्थित रह कर, उनके सब और्ध्वदेहिक कृत्य करेगा ॥२०॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां गणिकावरशोभिताम् ॥२१॥

---

१ अतिक्रान्तमतिक्रान्त—सर्वं प्रयोजनमतीत्यगतं इत्यर्थः ॥

वे लोग धन्य होंगे जो रमणीय चबूतरों और बैठकों से युक्त इस नगरी मे विचरेंगे, जिसमे सड़कें अच्छे प्रकार से नगरी का विभाग कर बनाई गई हैं, जिसमे बड़े ऊँचे ऊँचे भवन अटारियों से युक्त हैं तथा जो सुन्दरी वेश्याओ से सुशोभित है ॥२१॥

रथाश्वगजसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम् ।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥२२॥

जिसमें बहुत से रथ, घोडे और हाथी मौजूद हैं और जिसमे सदा तुरही बजा करती है और जहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ हैं, और जो हृष्टपुष्ट जनो से भरी हुई है ॥२२॥

आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम् ।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥२३॥

जो वाटिकाओं और उद्यानो से सम्पन्न है, जहाँ नित्य सामाजिक उत्सव, (विवाह, यज्ञोपवीत कनछेदन, मूँड़न अथवा सार्वजनिक देवोत्सव आदि) हुआ ही करते हैं, अथवा जहाँ सदा जातीय सभाएँ हुआ करती हैं। ऐसी पिता की राजधानी मे, वन से लौट कर कब हम प्रसन्न होते हुए घूमेंगे ॥२३॥

अपि जीवेद्दशरथो वनवासात्पुनर्वयम् ।
प्रत्यागम्य महात्मानमपि पश्येम सुव्रतम् ॥२४॥

महाराज दशरथ जीवित रहें। जिससे हम लोग वनवास से लौट कर, उन महात्मा सुव्रत के दर्शन फिर पावे ॥२४॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् ।
निवृत्ते* वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेमहि ॥२५॥

* पाठान्तरे—"निवृत्त"।

और सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र के साथ कुशलपूर्वक वन से लौट कर, फिर अयोध्यापुरी में प्रवेश करें ॥२५॥

परिदेवयमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥२६॥

महात्मा राजकुमार लक्ष्मण ने दुःखपूरित हृदय से इस प्रकार विलाप करते करते और खड़े खड़े सारी रात बिता दी ॥२६॥

तथा हि सत्यं[१] ब्रुवति प्रजाहिते
[२]नरेन्द्रपुत्रे [३]गुरुसौहृदाद्गुहः ।
मुमोच बाष्पं व्यसनाभिपीडितो
ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः ॥२७॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

महाराजकुमार लक्ष्मण ने जो बातें माता पितादि गुरुजनो के स्नेह के वश, प्रजा के सम्बन्ध में गुह से कहीं, वे सब वास्तव में ठीक ही थीं। उनको सुन गुह बहुत दुःखी हुआ, और उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। वह उसी प्रकार व्यथातुर हुआ, जिस प्रकार ज्वर आने से हाथी व्यथातुर होता है ॥२७॥

[टिप्पणी—हाथी को वैसे तो ज्वर कभी आता नहीं और जब आता है, तब उसे बड़ा भारी क्लेश होता है। यहाँ तक कि उसके इस क्लेश की समाप्ति बहुधा मृत्यु ही से होती है।]

अयोध्याकाण्ड का एक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:ॐ:—

---

१ सत्य—वास्तव। (गो०) २ नरेन्द्रपुत्रे—लक्ष्मणे। (गो०)
३ गुरुसौहृदात्—गुरुपुपित्रादिपुस्नेहात् ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

—:o:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः ।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥१॥

रात बीतने पर जब सवेरा हुआ तब बड़े वक्षःस्थल वाले महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मण से बोले ॥१॥

भास्करोदयकालोऽयं गता भगवती निशा ।
असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति ॥२॥

देखो, भगवती रात बीत गई, अब सूर्य भगवान् उदय होना ही चाहते हैं। देखो न, यह अत्यन्त काली कोयल कूकने लगी ॥२॥

बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने ।
तराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरङ्गमाम् ॥३॥

उधर वन में मयूरों का नाद भी सुन पड़ता है, अतः चलो, अब इस तेज बहने वाली सागरगामिनी भागीरथी गङ्गा जी के पार उतर चलें ॥३॥

विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।
गुहमामन्त्र्य सूतं च सोऽतिष्ठद्भ्रातुरग्रतः ॥४॥

श्रीराम जी के सामने खड़े हुए सुमित्रानन्दन लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन कर, गुह और सुमन्त्र को बुलाया ॥४॥

स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्य च।
स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत् ॥५॥

गुह ने श्रीरामचन्द्र जी के अभिप्राय को जान, तदनुसार उसी समय मंत्रियों को बुला कर, यह आज्ञा दी कि, ॥५॥

अस्य वाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम्।
सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥६॥

श्रीरामचन्द्र जी के चढ़ने योग्य अच्छे डाँड़ो वाली, मय माझियो के घाट पर शीघ्र एक ऐसी नाव लगवाओ, जो मज़बूत हो और जिसमें बैठ आराम से श्रीरामचन्द्र जी पार जा सके ॥६॥

तं निशम्य* समादेशं गुहामात्यगणो महान्।
उपोह्य रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत् ॥७॥

गुह की आज्ञा पा कर, उसके मंत्री ने एक सुन्दर नाव मँगवा ली और गुह से जा कर निवेदन किया कि नाव उपस्थित है ॥७॥

ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत्।
उपस्थितेयं नौर्देव भूयः किं करवाणि ते ॥८॥

तब हाथ जोड़ कर गुह ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा कि, हे देव! नाव तैयार है। आज्ञा दीजिए आपकी और क्या सेवा करूँ ॥८॥

तवामरसुतप्रख्य तर्तुं सागरगां नदीम्।
नौरियं पुरुषव्याघ्र तां त्वमारोह सुव्रत ॥९॥

हे सुव्रत! हे पुरुषसिंह! सागरगामिनी गङ्गा के पार जाने के लिए नाव आ गई है, अब आप शीघ्र इस पर सवार हूजिए ॥९॥

---

* पाठान्तरे—"गुहादेश"।

अथोवाच महातेजा रामो गुहमिदं वचः ।
कृतकामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति ॥१०॥

तब महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने गुह से कहा, आपने हमारे सब काम किए। अब तुरन्त इस पर हमारा सब सामान चढ़वा दो ॥१०॥

ततः कलापान् सन्नह्य खड्गौ बद्ध्वा च धन्विनौ ।
जग्मतुर्येन तौ गङ्गां सीतया सह राघवौ ॥११॥

ऐसा कह दोनो भाई कवच पहिन तरकस और तलवार बाँध, सीतासहित तट की ओर चले, जहाँ नाव थी ॥११॥

राममेवं तु धर्मज्ञमुपगम्य विनीतवत् ।
किमहं करवाणीति सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥१२॥

तब सुमंत्र धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी के पास आ कर, सिर नीचा कर और हाथ जोड़ कर बोले—अब मुझे क्या आज्ञा होती है ॥१२॥

ततोऽब्रवीद्दाशरथिः सुमन्त्रं
स्पृशन् करेणोत्तम[1]दक्षिणेन ।
सुमन्त्र शीघ्रं पुनरेव याहि
राज्ञः सकाशे भव चाप्रमत्तः ॥१३॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने दाहिने हाथ से सुमंत्र को स्पर्श कर कहा कि, हे श्रेष्ठ सुमंत्र ! तुम महाराज के पास लौट कर जाओ और उनके पास बड़ी सावधानी से रहो ॥१३॥

---

१ उत्तमेतिसम्बोधनं ।

निवर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम ।
रथं विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम् ॥१४॥

तुम अब यहाँ से लौट आओ—क्योंकि हमें इतनी ही आवश्यकता थी—अब हम रथ पर सवार न हो, पैदल ही वन को जायँगे ॥१४॥

आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः ।
सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥१५॥

तब सुमंत्र, जिन्हें श्रीरामचन्द्र जी ने लौटने की आज्ञा दी, अपने को श्रीरामचन्द्र से बिछुड़ा जान, अतः दुःखी हो, उनसे बोले ॥१५॥

नातिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणेह केनचित् ।
तव सभ्रातृभार्यस्य वासः प्राकृतवद्वने ॥१६॥

एक मामूली मनुष्य की तरह, लक्ष्मण और सीता सहित आपके वनवास के सम्बन्ध में, किसी की भी सम्मति नहीं है ॥१६॥

न मन्ये ब्रह्मचर्येऽस्ति स्वधीते वा फलोदयः[1] ।
[2]मार्दवार्जवयो[3]र्वाऽपि त्वां चेद्व्यसनमागतम् ॥१७॥

जब आप जैसे दयालु और सरल सीधे मनुष्य को भी ऐसे दुःख का सामना करना पड़ता है, तब मैं तो यही मानूँगा कि, न तो ब्रह्मचर्य धारण करने से, न वेदाध्ययन से, न दयालुता से और न सरलता से कुछ भी फल होता है । क्योंकि आपने तो ब्रह्मचर्य भी धारण किया, वेदाध्ययन भी किया और आप दयालु तथा सरल भी हैं ॥१७॥

---

१ फलोदयः—फलसिद्धिर्नास्तीतिमन्ये । २ मार्दवे—दयालुत्व इति यावत् । ३ आर्जवे अकौटिल्ये । (गो०)

सह राघव वैदेह्या भ्रात्रा चैव वने वसन् ।
त्वं गतिं[1] प्राप्स्यसे वीर त्रींलोकांस्तु जयन्निव ॥१८॥

हे राघव ! लक्ष्मण और सीता सहित वन में वास करने से आपकी वैसी ही कीर्ति होगी, जैसी कि, तीनो लोकों को जीतने से किसी की हो सकती है (अर्थात् इस लोक में आपकी बड़ी ख्याति होगी) ॥१८॥

वयं खलु हता राम ये त्वयाप्युपवञ्चिताः[2] ।
कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः ॥१९॥

हे राम ! आपसे अलग होते ही हमें अब उस पापिन कैकेयी के अधीन हो रहना पड़ेगा । अतः हम लोगो का तो अब निस्सन्देह मरण ही है ॥१९॥

इति ब्रुवन्नात्मसमं[3] सुमन्त्रः सारथिस्तदा ।
दृष्ट्वा दूरगतं[4] रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम् ॥२०॥

यह कहते हुए अति बुद्धिमान सुमन्त्र, श्रीरामचन्द्र जी का दूर देश जाना निश्चित जान, दुःखी हो बहुत देर तक रुदन करते रहे ॥२०॥

ततस्तु विगते बाष्पे सूतं स्पृष्टोदकंशुचिम्[5] ।
रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम् ॥२१॥

---

१ गतिः—कीर्तिः । (गो०) २ उपवञ्चिताः—त्यक्ताः । (रा०) ३ आत्मसम—अतिबुद्धिमन्मन्त्रियोग्यं । (रा०) ४ दूरगत—दूरदेशावस्थानवेत निश्चित्य । (रा०) ५ स्पृष्टोदकशुचिम्—रोदनस्याशुचिताहेतुत्वात्-स्पृष्टोदक आचान्त अतएव शुचिं । (गो०)

कुछ देर तक रोते रहने के अनन्तर सुमंत्र आचमन कर पवित्र हुए (रोने से अपवित्रता होती है, उसकी निवृत्ति के लिए आचमन किआ) । तब श्रीरामचन्द्र जी ने मधुरवाणी से बार बार सुमंत्र से कहा ॥२१॥

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये ।
यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु ॥२२॥

(मन्त्रियों में) तुम्हारे समान इक्ष्वाकुवंश का हितैषी मित्र, दूसरा मुझे कोई नहीं देख पड़ता । सो अब तुम ऐसा करना जिससे महाराज मेरे लिए दुःखी न हो ॥२२॥

शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः ।
कामभारावसन्नश्च[1] तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ॥२३॥

क्योंकि महाराज एक तो वृद्ध हैं, दूसरे काम के वेग से सताए हुए हैं । इसीलिए यह बात मैं तुमसे कहता हूँ ॥२३॥

यद्यदाज्ञापयेत्किञ्चित्स महात्मा महीपतिः ।
कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्क्षया[2] ॥२४॥

वे महात्मा महाराज, कैकेयी की प्रसन्नता के लिए जो जो और जिस तरह से करने को कहें, उसको आदर सहित करना ॥२४॥

एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नरेश्वराः ।
यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते ॥२५॥

---

१ कामभारावसन्नः—कामवेगेन पीडितः । (रा०) २ विकाङ्क्षा—अनादरः तदभावेन आदरेणेत्यर्थः । (गो०)

राजा लोग इसी लिए शासन करते हैं कि, सब काम उनकी इच्छानुकूल ही हो ॥२५॥

यद्यथा स महाराजो नालीकं[1]मधिगच्छति ।
न च ताम्यति[2] दुःखेन सुमन्त्र कुरु तत्तथा ॥२६॥

हे सुमंत्र ! महाराज किसी बात से अप्रसन्न न हों और उनके मन में दुःख से ग्लानि उत्पन्न न हो, तुम वैसा ही काम करना ॥२६॥

अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्य जितेन्द्रियम् ।
ब्रुयास्त्वमभिवाद्यैव मम[3] हेतोरिदं वचः ॥२७॥

जिन महाराज ने कभी दुःख नहीं सहा, उनसे मेरी ओर से प्रणाम कर, यह बात कहना कि, ॥२७॥

नैवाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च मैथिली ।
अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति च ॥२८॥

राम, लक्ष्मण तथा सीता ने कहा है कि, हमको न तो अयोध्या छूटने का और न वनवास ही का कुछ दुःख है ॥२८॥

चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः ।
लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसि क्षिप्रमागतान् ॥२९॥

चौदह वर्ष बीतने पर आप लक्ष्मण और सीता सहित मुझे शीघ्र ही फिर अयोध्या में आया हुआ देखेंगे ॥२९॥

---

१ अलीकं—अप्रियं । (गो०) २ ताम्यति—ग्लायति । (रा०)
३ ममहेतोः—मदर्थम्, ममप्रतिनिधित्वेनेत्यर्थः । (गो०)

एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे ।
अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः ॥३०॥

इस प्रकार तुम महाराज से, मेरी माता कौसल्या से तथा अन्य रानियों से और कैकेयी से भी वार वार कह देना ॥३०॥

आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम् ।
सीताया मम चार्यस्य[1]वचनाल्लक्ष्मणस्य च ॥३१॥

माता कौसल्या से प्रणाम पूर्वक मेरी, सीता की और लक्ष्मण की कुशलक्षेम कहना ॥३१॥

ब्रूयाश्च हि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय ।
आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते[2] पदे[3] ॥३२॥

महाराज से कहना कि, भरत जी को शीघ्र बुलवा कर और उनके आते ही उनको अपनी इच्छानुसार युवराजपद पर नियुक्त कर दें ॥३२॥

भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिच्य च ।
अस्मत्सन्तापजं दुःखं न त्वामभिभविष्यति ॥३३॥

भरत जी को गोद में बिठा कर और उनको युवराज पद देने से, हमारे वियोग से उत्पन्न सन्ताप का दुःख आपको न होगा ॥३३॥

भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे ।
तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥३४॥

---

१ आर्यस्य—ज्येष्ठस्य । (रा०) २ नृपमते—राजेच्छाविषयीभूते । (शि०) ३ पदे—स्थानेस्थाप्य । शि०)

भरत से कहना कि, तुम जिस प्रकार महाराज को मानो उसी प्रकार सब माताओं के साथ बरतना और सब को एक दृष्टि से देखना ॥३४॥

यथा च तव कैकेयी सुमित्रा च विशेषतः ।
तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥३४॥

जिस प्रकार तुम्हारी माता कैकेयी है, उसी प्रकार सुमित्रा और विशेष कर मेरी माता कौसल्या को मानना ॥३५॥

तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता[1] ।
लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम्[2] ॥३६॥

यदि तुम महाराज को प्रसन्न करने के लिए युवराजपद लेना स्वीकार कर लोगे, तो उभयलोक में तुम्हारे लिए सुख की सदा वृद्धि होगी ॥३६॥

निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः शोककर्शितः ।
तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात्काकुत्स्थमब्रवीत् ॥३७॥

इस प्रकार जब सुमन्त्र को समझा बुझा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने विदा करना चाहा, तब सुमन्त्र उनकी बातें सुन, स्नेहवश श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥३७॥

यदहं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहादविक्लवः[3] ।
भक्तिमानिति तत्तावद्वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥३८॥

---

१ अवेक्षता—स्वीकुर्वता । (शि०) २ एधितु—वर्द्धयितुम् । (शि०)
३ विक्लवः—धृष्ट. सन् । (गो०)

हे श्रीरामचन्द्र ! इस समय मैं स्नेहवश जो ढिठाई कर के कहता हूँ, उसे आप बनावट न समझिए, किन्तु भक्ति के आवेश में मेरे मुख से निकली हुई समझ, (यदि उनमें कोई अनुचित बात भी हों तो) उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए ॥३८॥

कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम् ।
तव तावद्वियोगेन पुत्रशोकाकुलामिव ॥३९॥

हे श्रीराम ! जो अयोध्यापुरी आपके विछोह से, निज-पुत्र-विछोह की तरह शोकाकुल है, उसमें मै आपके विना कैसे जाऊँ ॥३९॥

स राममपि तावन्मे रथं दृष्ट्वा तदा जनः ।
विना रामं रथं दृष्ट्वा विदीर्येतापि सा पुरी ॥४०॥

जो लोग आपको इस रथ में बैठ कर आते हुए देख चुके हैं, वे ही जब इस रथ को आपके बिना खाली देखेंगे, तब उनकी क्या दशा होगी। वह पुरी ही फट जायगी ॥४०॥

दैन्यं हि नगरी गच्छेद्दृष्ट्वा शून्यमिमं रथम् ।
सूतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे ॥४१॥

इस रथ को खाली देख, अयोध्यावासियो की वैसे ही दीन दशा हो जायगी जैसा कि, युद्ध मे रथी के मारे जाने पर, रथीहीन रथ पर केवल सारथी को देख सेना की हो जाती है ॥४१॥

दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयन्तोऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः ॥४२॥

यद्यपि अयोध्या से आप इतनी दूर चले आए हैं, तथापि वहाँ वालों को, आप उनके मन के सामने ही खड़े से देख पड़ते हैं।

आपके लिए चिन्ता करते हुए उन लोगों ने निश्चय ही आज अन्न जल तक ग्रहण नहीं किया होगा ॥४२॥

दृष्टं तद्धि त्वया राम यादृशं त्वत्प्रवासने।
प्रजानां सङ्कुलं वृत्तं त्वच्छोकक्लान्तचेतसाम् ॥४३॥

आप तो वन को प्रस्थान करते समय स्वयं प्रजा की दुर्दशा देख चुके हैं कि, लोग किस तरह आपके लिए शोक से खिन्नचित्त हो गए थे ॥४३॥

आर्तनादो हि यः पौरैर्मुक्तस्त्वद्विप्रवासने।
सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः ॥४४॥

और किस प्रकार आर्त्तनाद करते हुए लोग उच्चस्वर से रो रहे थे। वे ही लोग जब रथ सूना देखेंगे, तब सौ गुना अधिक रोदन करेंगे और दुःखी होंगे ॥४४॥

अहं किं चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया।
नीतोऽसौ मातुलकुलं सन्तापं मा कृथा इति ॥४५॥

फिर मैं अयोध्या जा कर देवी कौसल्या से क्या यह कहूँ कि, मैं तुम्हारे पुत्र को मामा के घर पहुँचा आया, अब आप दुःखी मत हों ॥४५॥

असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम्।
कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः ॥४६॥

मैं ऐसी झूठी बात भी तो नहीं कह सकता। और यदि सत्य बोलूँ तो ऐसी अप्रिय बात मुझसे कैसे कही जायगी ॥४६॥

मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः।
कथं रथं त्वया हीनं प्रवक्ष्यन्ति हयोत्तमाः ॥४७॥

मेरे अधीन में रह कर, जिन उत्तम घोड़ों ने आपको तथा लक्ष्मण और सीता को अपनी पीठ पर यहाँ पहुँचाया है—वे आपके बिना इस रथ को किस प्रकार ले चलेंगे ॥४७॥

तन्न शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वदृतेऽनघ ।
वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥४८॥

हे अनघे ! मुझसे तो आपके बिना अयोध्या में जाया न जायगा। अतः मुझे भी आप वन में अपने साथ लेते चलिए अथवा मुझे अपने साथ चलने की आज्ञा दीजिए ॥४८॥

यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि ।
सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र[१] इह त्वया ॥४९॥

यदि आप इतना गिड़गिड़ाने पर भी मेरा त्याग ही करेंगे, तो त्याग करते ही मैं यहीं (आपके सामने ही) रथ सहित अग्नि में प्रवेश कर भस्म हो जाऊँगा ॥४९॥

भविष्यन्ति वने यानि तपोविघ्नकराणि ते ।
रथेन[२] प्रतिबाधिष्ये तानि सत्त्वानि राघव ॥५०॥

हे राघव ! वन में आपके तप में विघ्न डालने वालों को रथ ही के रोक दिआ करूँगा। (अर्थात् रथी बन कर उनका सामना किआ करूँगा) ॥५०॥

त्वत्कृते न मयाऽवाप्तं रथचर्याकृतं सुखम् ।
आशंसे त्वत्कृतेनाहं वनवासकृतं सुखम् ॥५१॥

---

१ त्यक्तमात्रः—तत्क्षण एवत्यक्तः । (गो०) २ रथेन—रथीभूत्वा निवर्तयिष्यामि । (गो०)

आप ही के कहने से मैंने इस रथ को हाँकने का सुख पाया है। अब मेरी प्रार्थना यह है कि, आप ही के द्वारा आपके साथ वनवास का भी सुख मुझे प्राप्त हो जाय ॥५१॥

प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः[1] ।
प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥५२॥

अत: आप प्रसन्न हूजिए और मुझे भी अपना पासवान बना कर, अपने साथ वन ले चलिए। आप प्रसन्न हो कर, मुझे अपना पासवान बनने की आज्ञा दीजिए ॥५२॥

इमे चापि हया वीर यदि ते वनवासिनः ।
परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम् ॥५३॥

हे वीर! यदि ये घोड़े वनवास के समय आपकी सेवा में रहेंगे, तो इनको भी परमगति प्राप्त हो जायगी ॥५३॥

तव शुश्रूषणं मूर्ध्ना करिष्यामि वने वसन् ।
अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम् ॥५४॥

यदि मैं वन में रह कर सिर के बल भी आपकी सेवा कर कूँ, तो अयोध्या की तो बात ही क्या, स्वर्ग तक को सर्वथा छोड़ गा ॥५४॥

न हि शक्या प्रवेष्टुं सा मयाऽयोध्या त्वया विना ।
राजधानी महेन्द्रस्य यथा दुष्कृतकर्मणा ॥५५॥

---

१ प्रत्यनन्तर.—समीपवर्ती। (गो०)

मुझमें आपके विना, अयोध्या में प्रवेश करने की उसी प्रकार सामर्थ्य नहीं है, जिस प्रकार पापी इन्द्र को, राजधानी अमरावती में प्रवेश करने की सामर्थ्य नहीं होती ॥५५॥

वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैष हि मनोरथः ।
यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः ॥५६॥

मेरा मनोरथ तो यह है कि, वनवास की अवधि पूरी होने पर, मैं ही पुनः इसी रथ मे बिठा कर, आपको अयोध्या ले चलूँ ॥५६॥

चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने ।
क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसंख्यान्यतोऽन्यथा ॥५७॥

आपके साथ वन में रहने से ये चौदह वर्ष एक क्षण की तरह बीत जाँयगे, नहीं तो ये चौदह वर्ष सैकडो वर्षो के समान जान पड़ेगे ॥५७॥

भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं[1] भर्तृपुत्रगते पथि[2] ।
भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्यां[3] त्वं न मां हातुमर्हसि ॥५८॥

हे भृत्यवत्सल! मैं अपने मालिक के पुत्र के साथ वन जाने का निश्चय किए हुए हूँ। अत: अपने इस भक्तभृत्य को, जो अपनी मर्यादा में स्थित है, आप कैसे छोड़ कर जा सकते हैं ॥५८॥

एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः ।
रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥५९॥

---

१ तिष्ठन्तं—निश्चितत्वदनुगमनमा । (गो०) २ पथि—वनगमने । (गो०) । ३ स्थित्यां—मर्यादायां [illegible] गो०)

इस प्रकार बार बार प्रार्थना करते हुए सुमन्त्र को देख, भृत्य-वत्सल श्रीरामचन्द्र जी ने सुमन्त्र से यह कहा ॥५९॥

जानामि परमां भक्तिं मयि ते भर्तृवत्सल ।
शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः ॥६०॥

हे भर्तृवत्सल (स्वामिभक्त)! मै जानता हूँ कि, मुझमे तुम्हारा बड़ा अनुराग है, किन्तु मै जिस कारणवश तुम्हें अयोध्या भेजता हूँ, उसे सुन लो ॥६०॥

नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी ।
कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः ॥६१॥

जब तुम अयोध्या में जाओगे, तब तुम्हें देख कर, मेरी छोटी माता कैकेयी को यह विश्वास हो जायगा कि, राम वन मे गया ॥६१॥

परितुष्टा हि सा देवी वनवासं गते मयि ।
राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम् ॥६२॥

मेरे वनवास से वह सन्तुष्ट हो जायगी और महाराज के धार्मिक और सत्यवादी होने मे वह फिर शङ्का भी न करेगी ॥६२॥

एष मे प्रथमः[1] कल्पो यदम्बा मे यवीयसी ।
[2]भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्नुयात् ॥६३॥

मेरा यह मुख्य कर्त्तव्य या प्रयोजन है कि, मेरी छोटी माता कैकेयी अपने पुत्र भरत द्वारा पालित समृद्धशाली राज्य पावे ॥६३॥

---

१ प्रथमः कल्पः—कर्त्तव्येषु मुख्य. । (गो०) २ भरतारक्षित—भरतेन आसमन्तात् रक्षित पुत्रराज्य । (गो०)

मम प्रियार्थं राज्ञश्च सरथस्त्वं पुरीं व्रज ।
सन्दिष्टश्चासि यानर्थांस्तांस्तान् ब्रूयास्तथा तथा ॥६४॥

अतः मेरी प्रसन्नता के लिए तुम अयोध्या को लौट जाओ और मैंने जो जो सन्देश, जिस जिसके लिए तुमसे कहे हैं, वे उस उस के पास ज्यों के त्यों पहुँचा दो ॥६४॥

इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ।
गुहं वचनमक्लीबो[1] रामो हेतुमदब्रवीत् ॥६५॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने कह कर, बार बार सुमंत्र को समझाया और फिर गुह से उत्साहवर्द्धक एवं युक्तियुक्त ये वचन कहे ॥६५॥

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने ।
अवश्यं ह्याश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः ॥६६॥

हे गुह ! इस समय मेरे लिए ऐसे वन में जहाँ अपने लोग रहते हों, रहना ठीक नहीं । अतएव हम कहीं पर्णकुटी बना कर, तपस्वियों की भाँति वास करेंगे । (यह गुह की उस बात का उत्तर है, जो उसने अपने राज्य का शासन करने को और वहीं रहने के लिए श्रीराम जी से कही था ॥६६॥

सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम् ।
हितकामः पितुर्भूयः[2] सीताया लक्ष्मणस्य च ॥६७॥
जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय ।
तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥६८॥

---

१ अक्लीब—क्लीवतानिवर्तक । (शि०) २ भूयोहितकाम.—धनपुण्यकाम. सन् । (गो०)

इस लिए मैं पिता के तथा सीता और लक्ष्मण के अतिशय परलोकसाधन रूप पुण्य के निमित्त यथानियम तपस्वियों की भूषणरूपी जटा बना कर, वन जाऊँगा। इसलिए तुम बरगद का दूध ले आओ। यह सुन गुह ने तुरन्त ही बरगद का दूध ला दिया ॥६७॥ ॥६८॥

लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत् ॥६९॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस बरगद के दूध से अपनी और लक्ष्मण की जटा बनाई। महाबाहु और पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जटा रख, तपस्वी बन गए ॥६९॥

तौ तदा चीरवसनौ जटामण्डलधारिणौ।
अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥७०॥

उस समय वे दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण चीरवसन और जटा बाँधे ऋषियों की तरह शोभित हुए ॥७०॥

ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः।
व्रतमादिष्टवान्[1] रामः सहायं गुहमब्रवीत् ॥७१॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वानप्रस्थ हो और ब्रह्मचर्य ग्रहण कर अपने सहायक रूप गुह से बोले ॥७१॥

अप्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा।
भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम् ॥७२॥

हे गुह! तुम सेना, कोश, दुर्ग और राष्ट्र की रक्षा करने में सदा सावधान रहना, क्योंकि मेरी समझ से राज्य की रक्षा करना बड़ी कठिन बात है ॥७२॥

---

१ आदिष्टवान्—अङ्गीकृतवान्। (गो०)

ततस्तं समनुज्ञाय गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥७३॥

यह कह कर, इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने गुह को विदा किया और स्वयं चञ्चल चित्त हो शीघ्रता के साथ सीता और लक्ष्मण सहित चल दिए ॥७३॥

स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
तितीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥७४॥

तदनन्तर तट पर नाव को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने तेज धार से बहने वाली गङ्गा के पार जाने की इच्छा से, लक्ष्मण से कहा ॥७४॥

आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः ।
सीतां चारोपयान्वक्षं[1] परिगृह्य मनस्विनीम् ॥७५॥

हे पुरुषसिंह ! यह जो नाव खड़ी है, इसे पकड़ कर धीरे से मनस्विनी सीता जी को इस पर चढ़ा दो और तुम भी सवार हो लो ॥७५॥

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन् ।
आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः ॥७६॥

भाई की ऐसी आज्ञा सुन, तदनुसार ही लक्ष्मण ने सीता जी को पहले नाव पर सवार कराया और पीछे स्वयं भी नाव पर सवार हुए ॥७६॥

---

१ अन्वक्षं—अनुपदंत्वंचारोहेतिसम्बन्धः । (गो०)

अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः ।
ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीन[1]चोदयत् ॥७७॥

तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भी स्वयं नाव पर चढ़े । तब गुह ने अपने भाईबन्दों को नाव को खेकर, पार ले जाने की आज्ञा दी ॥७७॥

राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः ।
[2]ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः ॥७८॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भी, नाव पर बैठ, अपने हित के लिए (अर्थात् जिससे कुशलपूर्वक पार हो जाँय) ब्राह्मण और क्षत्रियों के अपने योग्य नावारोहण सम्बन्धी वेदमंत्र जपने लगे ॥७८॥

आचम्य च यथाशास्त्रं नदीं तां सह सीतया ।
प्रणमत्प्रीतिसंहृष्टो लक्ष्मणश्चामितप्रभः ॥७९॥

तदनन्तर शास्त्रविधि के अनुसार सीता सहित उन्होंने आचमन कर, श्रीगङ्गा जी को प्रणाम किया । फिर अमितप्रभ लक्ष्मण ने भी परम प्रसन्न हो कर श्रीगङ्गा जी को प्रणाम किया ॥७९॥

अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सबलं चैव तं गुहम् ।
आस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥८०॥

श्रीरामचन्द्र जी सुमन्त्र एवं ससैन्य गुह को विदा कर, नाव में बैठे और माझियों से नाव खेने को कहा ॥८०॥

---

१ ज्ञातीन्—बन्धून् । (गो०)
२ "दैवी नावम्" इत्यादि साधारण मन्त्र जजापेत्यर्थः । (गो०)

ततस्तैश्चोदिता सा नौः कर्णधारसमाहिता[1] ।
शुभस्फ्यवेगाभिहता[2] शीघ्रं सलिलमत्यगात् ॥८१॥

तब माझियों ने उस नाव को चलाया, पतवार और डाँड़ों के जोर से नाव शीघ्रता से जल पर चलने लगी ॥८१॥

मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता ।
वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥८२॥

जब नाव बीच धार से पहुँची, तब अनन्दित सीता ने हाथ जोड़ कर, श्रीगङ्गा जी की अधिष्ठात्री देवी से यह कहा ॥८२॥

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः ।
निदेशं पारयित्वेमं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥८३॥

हे गङ्गे ! बुद्धिमान् राजाधिराज दशरथ जी के यह पुत्र श्रीरामचन्द्र आपसे रक्षित हो, अपने पिता की आज्ञा पालन करें ॥८३॥

चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने ।
भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥८४॥

यदि ये पूरे चौदह वर्ष वनवास के पूरे कर, अपने भाई लक्ष्मण और मेरे साथ लौट आवेंगे ॥८४॥

ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता ।
यक्ष्ये[3] प्रमुदिता गङ्गे सर्वकाम समृद्धिनी ॥८५॥

---

१ समाहिता—सज्जीकृता । (वि०) २ वेगाभिहता—प्रेरिता । (वि०)
३ यक्ष्ये—पूजयिष्यामि । (गो०)

तो हे देवी! हे सुभगे! मैं सकुशल लौट कर, आपकी पूजा करूँगी। हे गङ्गे! आप सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली हैं ॥८५॥

त्वं हि त्रिपथगा देवि ब्रह्मलोकं समीक्षसे।
भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन् सम्प्रदृश्यसे ॥८६॥

हे त्रिपथगे! आप तो ब्रह्मलोक तक में व्याप्त हैं। आप सागरराज की भार्या के रूप में इस लोक में भी देख पड़ती हैं ॥८६॥

सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने।
प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन[1] पुनरागते ॥८७॥

गवां शतसहस्रं च वस्त्राण्यन्नं च पेशलम्[2]।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया[3] ॥८८॥

अत हे शोभने! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ और स्तुति करती हूँ। जब श्रीरामचन्द्र सकुशल वन से लौट आवेंगे और इन्हें राज्य मिल जायगा, तब तुम्हारी प्रसन्नता के लिए एक लक्ष गौ, सुन्दर वस्त्र और अन्न, मैं ब्राह्मणों को दान करूँगी ॥८७॥८८॥

सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च।
यक्ष्ये त्वां प्रयता देवि पुरीं पुनरुपागता ॥८९॥

अयोध्यापुरी में लौट कर मैं एक सहस्र घड़े सुरा के और मांस युक्त भात से तुम्हारे निमित्त बलिदान दे कर, तुम्हारी पूजा करूँगी ॥८९॥

---

१ शिवेन—क्षेमेण। (गो०) २ पेशल—रम्यं। (गो०) ३ तवप्रियचिकीर्षया—ब्राह्मणमुखेनहिदेवतानाग्रहणमितिभावः। (गो०)

यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि वसन्ति च ।
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि [1]तीर्थान्यायतनानि[2] च ॥९०॥

जो देवता आपके तट पर रहते हैं तथा प्रयागादि जो जो तीर्थ और काशी आदिक प्रसिद्ध देवस्थान हैं—उन सब की मैं पूजा करूँगी ॥९०॥

पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च सङ्गतः ।
अयोध्यां वनवासात्तु प्रविशत्वनघोऽनघे ॥९१॥

हे अनघे ! अतः आप ऐसा आशीर्वाद दें जिससे हमारे और लक्ष्मण के सहित निर्दोष महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी वनवास से निवृत्त हो, अयोध्यापुरी में प्रवेश करें ॥९१॥

तथा सम्भाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता ।
दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥९२॥

इस प्रकार आनन्दिता जानकी जी श्रीगङ्गा जी की प्रार्थना कर रही थीं कि, इतने में नाव गङ्गा जी के दक्षिणतट पर शीघ्रता से जा लगी ॥९२॥

तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः ।
प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परन्तपः ॥९३॥

तब परन्तप एवं पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने दक्षिण तट पर पहुँच कर और नाव को छोड़ और लक्ष्मण और जानकी सहित वहाँ से प्रस्थान किया ॥९३॥

---

१ तीर्थानि—प्रयागादीनि । (रा०) २ आयतनानि—काश्यादीनि (रा०)

अथाब्रवीन् महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम् ।
भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा ॥६४॥

और लक्ष्मण जी से कहा कि देखो, चाहे निर्जन स्थान हो चाहे सजन स्थान हो, तुम सीता की रखवाली में चौकसी रखना ॥६४॥

अवश्यं रक्षणं कार्यमदृष्टे[1] विजने वने ।
अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु ॥६५॥

हमको इस अनदेखे विजन वन में अवश्य रक्षा करनी उचित है। अत हे लक्ष्मण! तुम तो आगे चलो और तुम्हारे पीछे सीता चले ॥६५॥

पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि त्वां च सीतां च पालयन् ।
अन्योन्यस्येह नो[2] रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ ॥६६॥

तुम्हारे दोनो के पीछे, तुम्हारी रक्षा करता हुआ मैं चलूँगा। हे पुरुषश्रेष्ठ! अब हमको परस्पर एक दूसरे की रक्षा करनी चाहिए ॥६६॥

न हि तावदतिक्रान्ता[3] सुकरा[4] काचन क्रिया ।
अद्य दुःखं तु वैदेही वनवासस्य वेत्स्यति ॥६७॥

जिस जानकी को आज तक कोई ऐसा काम नहीं करना पड़ा, जिसके करने मे उन्हें बड़ा परिश्रम उठाना पड़ा हो, उसी जानकी को आज वनवास के दुःख जान पड़ेंगे ॥६७॥

---

१ अदृष्टे—अदृष्ट पूर्वे। २ नः—आवयोः। (गो०) ३ न अतिक्रान्ता—न कृतेत्यर्थः। (शि०) ४ असुकरा—अतिप्रयत्नसाध्या। (शि०)

प्रनष्टजनसम्बाधं क्षेत्रारामविवर्जितम् ।
विषमं[१] च प्रपातं[२] च वनं ह्यद्य प्रवेक्ष्यति ॥९८॥

क्योंकि इस वन में—जहाँ न तो कोई मनुष्य देख पड़ता है, और न खेत अथवा वाटिका देख पड़ती है तथा जहाँ की जमीन भी ऊबड़ खाबड़ है और जहाँ बड़े बड़े खार देख पड़ते हैं, आज उसी वन में जानकी प्रवेश करेंगी ॥९८।

श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः ।
अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥९९॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण आगे, उनके पीछे जानकी और जानकी के पीछे श्रीरामचन्द्र जी चले ॥९९॥

गतं तु गङ्गापरपारमाशु
रामं सुमन्त्रः प्रततं[३] निरीक्ष्य ।
अध्वप्रकर्षाद्विनिवृत्तदृष्टि-
र्मुमोच बाष्पं व्यथितस्तपस्वी[४] ॥१००॥

उधर सुमन्त्र श्रीरामचन्द्र को शीघ्र गङ्गा के उस पार जाते देख, उस ओर टकटकी बाँध, देखते रहे और उस ओर से अपनी दृष्टि न हटाई तथा सन्तापयुक्त हो रुदन करने लगे ॥१००॥

स लोकपालप्रतिमप्रभाववां-
स्तीर्त्वा महात्मा वरदो महानदीम् ।

---

१ विषमं—निम्नोन्नतप्रदेशयुक्त । (गो०) २ प्रपातः—गर्तः । (गो०) ३ प्रततं—अच्छिन्नंनिरीक्ष्य । (गो०) ४ तपस्वी—सन्तापयुक्तः । (शि०)

ततः समृद्धाञ्शुभसस्यमालिनः
क्रमेण वत्सान्[1]मुदितानुपागमत् ॥१०१॥

लोकपालो के समान प्रभावशाली महात्म एव वरद श्रीरामचन्द्र जी महानदी—श्रीगङ्गा को पार कर, समृद्ध एव अन्न से परिपूर्ण तथा प्रमुदित वत्सदेश (गङ्गा यमुना के बीच प्रयाग प्रदेश का नाम वत्सदेश है) मे जा पहुँचे ॥१०१॥

तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान
वराहमृश्यं पृपत महारुरुम् ।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ
वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम्[2] ॥१०२॥

इति द्विपञ्चाश सर्ग ॥

वहाँ श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण दोनो भाइयो ने ऋष्य, पृपत, वराह और रुरु जाति के चार बडे बडे बनैले जानवरों की शिकार खेली। तदनन्तर उन लोगो ने भूख लगने पर अभ्युचित भोजन कन्दमूल फलादि ला कर खाए और जब सन्ध्या हुई तब एक वृक्ष के नीचे जा टिके ॥१०२॥

अयोध्याकाण्ड का बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

१ वत्सान्—वत्सदेशान्। गङ्गा यमुनयोर्मध्ये प्रयागप्रदेशो वत्सदेश। (गो०) २ वत्स्यदेशेवराहादीश्चतुरोमहामृगान् हत्वा—खेलनार्थंसताड्य। बुभुक्षितौ तौ रामलक्ष्मणौ मेध्य व्रतिभिःभोक्तव्य फलादिकमित्यर्थ.। (शि०)

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

स तं वृक्षं समासाद्य सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
रामो रमयतांश्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥१॥

लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र उस वृक्ष के नीचे जा और सायं सन्ध्योपासन कर, लक्ष्मण से बोले ॥१॥

अद्येयं प्रथमा रात्रिर्याता जनपदाद्बहिः ।
या सुमन्त्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥२॥

बस्ती के बाहिर आ कर और सुमंत्र का साथ छोड़ कर, आज यह प्रथम रात है, जो हमें बितानी है, इसके लिए तुम घबड़ाना मत अथवा इसके लिए तुम चिन्तित मत होना ॥२॥

जागर्तव्यमतन्द्रिभ्यामद्यप्रभृति रात्रिषु ।
योगक्षेमं हि सीताया वर्तते लक्ष्मणावयोः[1] ॥३॥

आज से ले कर प्रत्येक रात्रि में हमें नींद त्याग कर, रात भर जागना पड़ेगा, क्योंकि सीता का योगक्षेम हम दोनों ही के ऊपर निर्भर है अथवा हम दोनों ही के अधीन है ॥३॥

रात्रिं कथञ्चिदेवेमां सौमित्रे वर्तयामहे ।
उपावर्तामहे भूमावास्तीर्य स्वयमर्जितैः ॥४॥

---

१ आवयोः वर्तते—अस्मदधीनमित्यर्थः । (गो०)

हे लक्ष्मण ! यह प्रथम रात है, सो आओ किसी तरह इसे तो व्यतीत करें और खर पत्तों को स्वयं बटोर कर और उनका बिछौना बना, उस पर लेट रहें ॥४॥

स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः ।
इमाः सौमित्रये रामो व्याजहार कथाः शुभाः ॥५॥

जो श्रीरामचन्द्र जी बड़े मूल्यवान बिस्तरों पर लेटा करते थे, वे ही श्रीरामचन्द्र जी पृथ्वी पर पड़े हुए लक्ष्मण से वार्तालाप करने लगे ॥५॥

ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण ।
कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥६॥

हे लक्ष्मण ! निश्चय ही आज महाराज दशरथ जी, बड़े दुःख से सोए होंगे, किन्तु कैकेयी अपना अभीष्ट पा कर और कृतार्थ हो सन्तुष्ट हुई होगी ॥६॥

स हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात्[1] ।
अपि न च्यावयेत्प्राणान् दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥७॥

किन्तु कहीं ऐसा न हो कि कैकेयी भरत के आने पर, राज्य के लोभ से, महाराज दशरथ को मार डाले ॥७॥

अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विनाकृतः ।
किं करिष्यति कामात्मा कैकेयीवशमागतः ॥८॥

क्योंकि इस समय महाराज अनाथ हैं, बूढ़े हैं तथा कामी होने के कारण कैकेयी के वशवर्ती हैं। फिर मैं भी वहाँ नहीं हूँ। ऐसी दशा में वे बेचारे अपनी रक्षा कैसे कर सकेंगे ॥८॥

१ राज्यकारणात्—राज्यस्थैर्यकारणात्। (शि०)

इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम्[1] ।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥९॥

इस दुःख को महाराज की अत्यन्त निस्पृहता को देख, मैं तो समझता हूँ कि, अर्थ और धर्म दोनों से काम ही अधिक प्रबल है ॥९॥

को ह्यविद्वानपि पुमान्प्रमदायाः कृते त्यजेत् ।
[2]छन्दानुवर्तिनं पुत्रं ततो मामिव लक्ष्मण ॥१०॥

हे लक्ष्मण! कोई मूर्ख भी ऐसा न करेगा कि, स्त्री के कहने से मुझ जैसे आज्ञाकारी अपने पुत्र को त्याग दे ॥१०॥

सुखी बत सभार्यश्च भरतः केकयीसुतः ।
मुदितान् कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥११॥

एकमात्र कैकेयी के पुत्र भरत अपनी पत्नी के सहित सुखी होंगे। क्योंकि ये अति प्रमुदित हो, अयोध्यामण्डल के राज्य का महाराजाओं की भाँति अकेले उपभोग करेंगे ॥११॥

स हि सर्वस्य राज्यस्य मुखमेकं[3] भविष्यति ।
ताते च वयसाऽतीते मयि चारण्यमास्थिते ॥१२॥

अब भरत अखिल राज्य के मुख्य शासक हो जाँयगे। क्योंकि महाराज की आयु तो समाप्ति पर है ही और मैं यहाँ वन में चला आया हूँ ॥१२॥

---

१ अतिविभ्रमम्—अतिनिस्पृहत्व । २ छन्दानुवर्तिनं—स्वेच्छानुवर्तिन । (गो०) ३ मुखमेकं—अद्वितीय, प्रधानभूत । (गो०)

अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान् ।
अनाथाया हि नाथस्त्वं[1] कौसल्याया भविष्यसि ॥१७॥

सीता को ले कर मैं अकेला ही दण्डकवन को चला जाऊँगा। तुम अयोध्या में पहुँच कर, उस अनाथा कौसल्या के रक्षक बनो अर्थात् रक्षा करो ॥१७॥

क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेष्यमन्याय्यमाचरेत् ।
परिदद्याद्धि* धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम् ॥१८॥

क्योंकि उस कैकेयी का बड़ा ही ओछा स्वभाव है। वह हम लोगो के वैरभाव से अन्याय कर, तुम्हारी और मेरी माताओं को विष दे देगी ॥१८॥

नूनं जात्यन्तरे कस्मिंस्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः ।
जनन्या मम सौमित्रे तस्मादेतदुपस्थितम् ॥१९॥

हे लक्ष्मण! पूर्व जन्म में मेरी माता ने अवश्य स्त्रियों को पुत्रहीन किया था, इस जन्म में उसीका यह फल उसके सामने आया है ॥१९॥

मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च ।
विप्रयुज्यता† कौसल्या फलकाले धिगस्तु माम् ॥२०॥

मुझे धिक्कार है! जिस माता ने बड़े बड़े दुःख सह कर मेरा इतने दिनों तक लालन पालन कर मुझे इतना बड़ा किया, उसी

---

१ नाथः—रक्षकः । (गो०) * पाठान्तरे—"परिदद्या हि धर्मज्ञे भरते मम मातरम्" ॥ † पाठान्तरे—"विप्रायुज्यत"

माता को, जब उसको मुझसे सुख मिलने का समय आया, तब मैंने उसको त्याग दिया ॥२०॥

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ।
सौमित्रे योऽहमम्बाया दद्मि शोकमनन्तकम् ॥२१॥

हे लक्ष्मण ! कोई भी सौभाग्यवती स्त्री मुझ जैसे पुत्र को, जो माता को अनन्त कष्ट दे रहा हूँ, कभी उत्पन्न न करे ॥२१॥

मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण शारिका ।
यस्यास्तच्छ्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥२२॥

हे लक्ष्मण ! मैं समझता हूँ कि, "मुझसे अधिक मेरी माता की प्रीतिपात्रा वह मैना है, जिसकी यह बात कि, हे सुग्गे ! शत्रु के पैर काट खाओ, मेरी माता सुनती है ॥२२॥

शोचन्त्या अल्पभाग्याया न किञ्चिदुपकुर्वता ।
पुत्रेण किमपुत्राया मया कार्यमरिन्दम ॥२३॥

हे लक्ष्मण ! वह अल्पभाग्या मेरी माता शोकसागर में निमग्न होगी—हाय ! मैं उसका कुछ भी उपकार नहीं कर सकता। मुझ जैसे पुत्र से तो वह विना पुत्र ही के अच्छी थी अथवा मुझ जैसे पुत्र को उत्पन्न कर उसे क्या सुख मिला ॥२३॥

अल्पभाग्या हि मे माता कौसल्या रहिता मया ।
शेते परमदुःखार्ता पतिता शोकशागरे ॥२४॥

निश्चत ही मेरी माता कौसल्या अल्पभाग्या है। इस समय वह मेरे विछोह के कारण अत्यन्त दु:खी होने के कारण, शोक-सागर में निमग्न लेटी होगी ॥२४॥

एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम्[1] ॥२५॥

हे लक्ष्मण ! क्रुद्ध होने पर मैं अकेला ही अयोध्या क्या—सारी पृथ्वी को बाणों से अपने वश में कर सकता हूँ, किन्तु यह धर्म-सङ्कट का समय है, ऐसे समय पराक्रमप्रदर्शन उचित नहीं ॥२५॥

अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ ।
तेन लक्ष्मण नाद्याहमात्मानमभिषेचये ॥२६॥

क्योंकि हे लक्ष्मण ! ऐसा करने से मुझे पाप और परलोक का भय है । इसीसे मैं (पराक्रम प्रदर्शनपूर्वक) अपना अभिषेक नहीं करवाता अर्थात् बलपूर्वक राज्य नहीं लेता ॥२६॥

एतदन्यच्च करुणं विलप्य विजने वने ।
अश्रुपूर्णमुखो रामो निशि तूष्णीमुपाविशत् ॥२७॥

उस निर्जन वन में, उस रात्रि को इस प्रकार के अनेक विलाप कर, आँखों में आँसू भर (गद्गद कण्ठ होने के कारण) चुप हो बैठ रहे ॥२७॥

विलप्योपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम् ।
समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः ॥२८॥

जब विलाप कर श्रीरामचन्द्र जी चुप हो गए, तब उन्हें ज्वाला-रहित अग्नि और वेगरहित समुद्र के समान शान्त देख, लक्ष्मण समझाने लगे ॥२८॥

---

१ ननुवीर्यमकारणम्—धर्महानिकरत्वेकृत्यं वीर्यं साधकत्वेननावलम्बनीयं —मित्यर्थः । (गो०)

ध्रुवमद्य पुरी राजन्नयोध्याऽऽयुधिनांवर ।
निष्प्रभा त्वयि निष्क्रान्ते गतचन्द्रेव शर्वरी ॥२६॥

हे योद्धाओं में श्रेष्ठ राजन्! यह बात तो निश्चित है कि, आपके चले आने पर अयोध्यापुरी तो उसी प्रकार निष्प्रभ हो गई होगी, जिस प्रकार चन्द्रमा के अस्त होने पर रात्रि हो जाती है ॥२६॥

नैतदौपयिकं राम यदिदं परितप्यसे ।
विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ ॥३०॥

परन्तु हे राम! आपका इस प्रकार सन्तप्त होना तो उचित नहीं। क्योंकि आपके सन्तप्त होने से मुझको और सीता को भी विषाद होता है ॥३०॥

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव ।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥३१॥

हे राघव! मैं और सीता आपके बिना एक मुहूर्त भी जीवित नहीं रह सकते, जैसे जल के बिना मछली नहीं जी सकती ॥३१॥

न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप ।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं वाऽपि त्वया विना ॥३२॥

हे शत्रु को ताप देने वाले! मैं आपके बिना न तो अपने पिता को, न अपने सहोदर शत्रुघ्न को और न अपनी जननी माता सुमित्रा ही को देखना चाहता हूँ। यही नहीं, किन्तु मुझे तो आपके बिना स्वर्ग को भी देखने की इच्छा नहीं है ॥३२॥

ततस्तत्र सुखासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम् ।
न्यग्रोधे सुकृतां शय्यां भेजाते धर्मवत्सला ॥३३॥

लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, आराम से बैठे हुए धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी, सीता सहित पास ही बट वृक्ष के नीचे लक्ष्मण की रची पर्णशय्या को देख, उस पर जा लेटे ॥३३॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं[1] वचो
निशम्य चैवं वनवासमादरात् ।
समाः समस्ता विदधे परन्तपः
प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥३४॥

इस प्रकार लक्ष्मण के उत्तम अर्थ से भरे वचनों को बहुत देर तक आदरपूर्वक सुन और वानप्रस्थ आश्रमोचित समस्त नियमों का लक्ष्मण सहित यथासमय पालन करना निश्चित कर, श्रीरामचन्द्र जी चौदह वर्ष बिताने की इच्छा करते हुए ॥३४॥

ततस्तु तस्मिन् विजने वने तदा
महाबलौ राघववंशवर्धनौ ।
न तौ भयं सम्भ्रममभ्युपेयतुः
यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ॥३५॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर उन महाबली रघुवंशवर्द्धन दोनों भाइयों ने, उस निर्जन वन में भय और उद्वेग वर्जित हो,, वैसे ही वास किया, जैसे पर्वतशिखर पर रहने वाले दो सिंह निर्भय हो, वास करते हैं ॥३५॥

अयोध्याकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:⁂:—

१ पुष्कल—पूर्णार्थं । (गो०)

॥ श्री. ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—❀—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपते ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥८॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥९॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धारोदाराय मङ्गलम् ॥१०॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥११॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥१२॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥१३॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥१४॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधाराय मङ्गलम् ॥१५॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥१६॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥१७॥

—❀—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण मही महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥१॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥२॥
लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥३॥
मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥४॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥५॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण मही महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥१॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥२॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥३॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एवैकमक्षर प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥४॥

शृण्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥५॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥६॥

यन्मङ्गल सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृतनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥७॥

मङ्गल कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥८॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृत प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥९॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गल प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥१०॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥११॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥१२॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥१३॥

—·—